

Government Oriental Library Series

Bibliotheca Sanskrita No 50

गौतमधर्मसूत्रम्

मस्करि भाष्योपेतम्



GOUTAMA-DHARMASUTRA

WITH

MASKARI BHASHYA

EDITED BY

L SRINIVASACHARYA

Pandit, Government Oriental Library, Mysore

Published under the authority of the Government of
His Highness the Maharaja of Mysore

MYSORE

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS

1917

भूमिका.

अथ खलु विदितमेवैतत् विदुषामशेषाणाम्. यत् गौतमधर्म-
सूत्रमिदं छन्दोगा पठन्तीति अस्मिन्नेव किल धर्मशास्त्रे तृती-
येऽध्याये—ब्रह्मचर्याद्याश्रमाणां विकल्पसमुच्चयबाधपक्षेषु बाध-
पक्ष (ऐकाश्रम्यपक्षः) “ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्वा-
हस्थ्यस्य गार्हस्थ्यस्य ” (3—36) इति स्फुट विहित.

तथाऽष्टमेऽध्याये—चत्वारिंशत्संस्कारान् अष्टावात्मगुणान् दया
क्षान्त्यादीन्निर्दिश्य—“ यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा. न चाष्टावात्म-
गुणा न स ब्रह्मणस्सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति । यस्य तु खलु
संस्काराणामेकदेशोप्यष्टावात्मगुणा अथ स ब्रह्मणस्सायुज्यं सालो-
क्यं च गच्छति ” (8, 22—23) इत्यात्मगुणानां संस्कारापेक्ष-
याऽऽवश्यकता स्पष्टमाभीहिता

तथा— “ देशजातिकुलधर्माश्चात्मनयैरविरुद्धाः प्रमाणम् ”
(11—22) इति देशादिधर्माणां शास्त्रविरुद्धानामप्रामाण्यमुक्तम् .

“ अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाह-
रणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद ” इति शूद्रवेदाध्ययननिषेधः स्फु-
टमभिहितः

तथाऽष्टादशाध्याये —“ अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री ” इत्यादौ स्त्रीधर्म-
निरूपणप्रकरणे —“ प्रदान प्रागृतो., अप्रयच्छन् दोषी, प्राग्वासस.
प्रतिपत्तोरित्येके ” (18, 22—24) इति ऋतो प्रागेव विवाहविधिः
स्पष्टं श्रूयते

एकोनविंशेऽध्याये प्रायश्चित्तमीमांसा सम्यक् निरूपिता ॥

एवमनितरसाधारण्येनानेकाविधस्फुटतरविधिकलापगुम्भितस्य तस्य चैतस्य धर्मशास्त्रस्य व्याख्यानद्वय समुपलब्धमास्ति तत्रापस्तम्बयिधर्मसूत्रादिव्याख्यात्रा हरदत्ताचार्येण प्रणीतं मिताक्षरानामधेयमकम्, मस्करिनामधेयन धामनसूनुना प्रणीतं गौतमधर्मभाष्यनामधेयं द्वितीयम् तदेताभ्यां द्वाभ्यां व्याख्यानाभ्यां पारिक्लृप्त्य प्रकाशनीयमिदं धर्मशास्त्रमिति समुद्दिष्टमासीत् । तत्रान्तरे पुण्यनगरस्थानन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावल्यां मिताक्षरासाहितमेतत् प्राकाश्यत, क्वचित्प्रकाशितस्य पुनःप्रकाशनमनतिप्रयोजनमाकलय्य मिताक्षरापेक्षया विपुलतरेण बहुषु प्रदेशेषु विलक्षणाभिप्रायपारिक्लृप्तिनेन अनेकविचारगर्भितेन सर्वस्मृतिनिबन्धनरूपेण मस्करिभाष्येणैकेन वा साकं प्रकटनमावश्यकमित्याभिप्रेत्यात्रास्य मुद्रणं निर्वर्तितम्

अनयोश्च व्याख्यानयोः किं प्राचीनं किंवाऽर्वाचीनमिति जिज्ञासायां न पारधामो वयमत्र निर्णेतुम्, यतः-द्वयोरपि व्याख्यानयोः परेषामभिप्रायान्तराणि समुल्लिख्यन्ते दृश्यन्ते च क्वचित्क्वचित् तेषु चाभिप्रायेषु केचन मिताक्षरोद्धता मस्करिभाष्ये शब्दार्थतश्च समुपलभ्यन्ते मस्करिभाष्यसमुल्लिखिताश्च केचनाभिप्रायास्त्रैव मिताक्षरायानुपलभ्यन्ते उभयत्रानुपलभ्यमानाः केचनाभिप्रायविशेषाः समुद्ध्यन्ते प्रदृश्यन्ते च, नैव क्वचिदपि समुल्लिख्यते नामधेयं कस्यापीति

ततश्चेत्थमत्र निश्चिनुमः—एताभ्यामपि व्याख्यानाभ्यां प्राचीनानि भूयांसि व्याख्यानान्यस्य शास्त्रस्यासन् स्मृतिसूत्रतद्व्याख्यानप्रवाहस्यानादिसिद्धत्वात्, तेषु च व्याख्यानेषु कानिचित् कैश्चित् समुपलब्धानि ततश्चावधृतान्याभिप्रायान्तराणि समुद्धृतानि भवेयुरिति ॥

अस्य च भाष्यस्य कर्तुः भगवतो मस्करिण तादृशनामधेय
 प्राप्तौ नोपलभ्यतेऽद्ययावत् कोपि हेतु तथैवास्य देश. कालो वा
 विशिष्य न ज्ञायते, पर तु क्वचिदस्य समुल्लेखोस्ति यथासुगृही-
 तनामधेयस्य श्रीमतो वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु शतदू-
 षण्यां चतुष्पष्टितमे यतिलिङ्गभेदभङ्गे — “यतस्त्वमाप्ततमबहुतर-
 स्मृत्येककण्ठप्रत्यक्षश्रुतिवेरुद्धां क्वचिदप्यनधीयमानां त्वत्पक्ष-
 पातिना विकल्पवादिना विज्ञानेश्वरेणाप्यनासादितां तत्पक्षं विस्त-
 रेण प्रतिक्षिपाद्भि भास्कराचार्ययादवप्रकाशमस्करिप्रभृतिभिः
 अनुद्धृत्य परिहृतामन्यादृशीं श्रुतिं द्रष्टुमिच्छसि” इति ग्रन्थः
 श्रयते । एतद्ग्रन्थपरामर्शेन इत्थं युक्तमभ्यूहितुं —

मस्कारिनामधेयो गौतमभाष्यकर्ता याज्ञवल्क्यस्मृतिमिताक्षा
 राकर्तुः विज्ञानेश्वरयोगिनो व्यवहितानन्तरकालिकः ब्रह्मसूत्रभा-
 ष्यकर्त्रोः भास्करयादवप्रकाशयोरव्यवहितानन्तरकालिकस्स्यादिते
 ततश्च क्रिस्ताब्दे दशमे एकादशे वा शतकेऽस्य भाष्यस्य प्रवृत्तिस्त्या
 त्। शतदूषण्युदाहरणानुसारेण भाष्यकारोय मस्करी यादवप्रकाशा-
 दिवत् यतीनां शिखायज्ञोपवीतादिलिङ्गावश्यकतां साधयति
 तृतीयाध्याये भिक्षुधर्मनिरूपणावसरे इति

किञ्च गौतमप्रणीतत्वेन प्रथित. क्रियाकाण्डः (आचारसूत्रं)
 अष्टादशखण्डपरिमित. नित्यकर्तव्यक्रियाकलापविधायक अनेक-
 शिष्टजनसमुपादये इत्यस्मिन्नेव कोशे संहृत्य मुद्रापित., तस्य च का
 ण्डस्य नैव यापि कापि व्याख्या श्रुतदृष्टचरी प्रायस्सूत्रपाठस्यैव
 स्फुटतया व्याख्याऽपि नैव प्रवृत्तेत्यापि संभाव्यते ॥

अपिचास्मिन् पुस्तके 428 पृष्ठे 17 पङ्क्तौ “अन्भक्षस्तृतयिस्स
 कृच्छ्रातिकृच्छ्रः” इति ग्रन्थ विशतितमसूत्रतया पठनीयः

अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणावसरे शोधनायादर्शीकृतानां पुस्तकानां निर्देश —

- (1) लैब्रेरि नं (64) मूलं समग्रं आन्ध्राक्षरमयः तालपत्रकोशः
- (2) „ (238) „ „ „ „
- (3) „ (349) „ „ „ „
- (4) „ (422) „ „ नागराक्षरमयः „
- (5) „ (374) मस्कारिभाष्यं „ „
- (6) „ (1386) „ „ „ „
- (7) „ (2143) „ „ ग्रन्थाक्षरमयः „
- (8) „ (2600) „ „ „ „
- (9) „ (3319) „ „ „ „
- (10) डिपा॥ (168) „ „ „ „

(168) नंबरुकोशस्तु — बेगलुरुनगरनिवासिनां शासनशोधनाधिकारालयपण्डितानां श्रीमतां आसूरे - अनन्ताचार्यमहाशयानां सकाशादाधिगतः अतीव शुद्धपाठः. बहूप्रकृतं तेन पुस्तकेनेति पुनःपुनः स्मराम

इत्थमावेदयति सज्जनविधेयः,

लक्ष्मीपुर श्रीनिवासाचार्यः.

गौतमधर्मसूत्रविषयसूचिका.

| | अध्या | सू | पुट |
|-------------------------------|-------|----|-----|
| धर्मप्रमाण-वेद स्मृति आचारश्च | 1 | 1 | 1 |
| आचारे पूर्वपक्ष समाधान च | 1 | 3 | 5 |
| प्रमाणाना मिथोविरोधपरिहार | 1 | 6 | 6 |
| उपनयनम् | 1 | 7 | 9 |
| तत्साधनम् | 1 | 17 | 12 |
| ब्रह्मचारिवेषः | 1 | 29 | 15 |
| द्रव्यशुद्धि | 1 | 30 | 15 |
| आचमनविधि | 1 | 37 | 20 |
| तत्रानिमित्तान्तरम् | 1 | 43 | 22 |
| शौचविधि | 1 | 48 | 24 |
| गुरूपसदनम् | 1 | 52 | 27 |
| पादोपसग्रहणादि | 1 | 58 | 28 |
| अध्ययनारम्भ | 1 | 61 | 29 |
| पुनरुपसदननिमित्तम् | 1 | 63 | 30 |
| अनध्याय | 1 | 64 | 31 |
| अनुपनीतधर्म | 2 | 1 | 32 |
| बालधर्म | 2 | 6 | 36 |
| उपनीतधर्म | 2 | 10 | 39 |
| सन्ध्योपासनम् | 2 | 17 | 42 |
| मध्वादिवर्जनम् | 2 | 19 | 44 |

| | अध्या | सू | पुट |
|-------------------------|-------|----|-----|
| इतरानियम | 2 | 20 | 46 |
| भिक्षाविचार | 2 | 42 | 52 |
| शिष्यशासनम् | 2 | 49 | 56 |
| ब्रह्मचर्यकाल | 2 | 52 | 56 |
| गुरुदाक्षिणा | 2 | 55 | 57 |
| आचार्य श्रेष्ठ | 2 | 57 | 58 |
| आश्रमविकल्पसमुच्चयविचार | 3 | 1 | 58 |
| चत्वार आश्रमा | 3 | 2 | 62 |
| नैष्ठिकब्रह्मचारिधर्म | 3 | 4 | 64 |
| भिक्षुधर्म | 3 | 11 | 66 |
| वैखानसधर्म | 3 | 26 | 72 |
| आश्रमबाधपक्ष | 3 | 36 | 74 |
| गृहस्थधर्मे विवाह. | 4 | 1 | 75 |
| विवाहभेदा | 4 | 6 | 76 |
| जातिभेदा | 4 | 16 | 78 |
| वर्णान्तरगमनम् | 4 | 22 | 80 |
| प्रतिलोमधर्म | 4 | 25 | 81 |
| विवाहप्रशस्ता | 4 | 29 | 84 |
| ऋतुगमनम् | 5 | 1 | 85 |
| पञ्चमहायज्ञा | 5 | 3 | 88 |
| देवार्धपितृतर्पणम् | 5 | 5 | 90 |
| औपासनम् | 5 | 7 | 92 |
| वैश्वदेवम् | 5 | 11 | 94 |
| भिक्षादानम् | 5 | 19 | 96 |

| | अध्या | सू | पुट |
|--|-------|----|-----|
| दानम् | 5 | 20 | 96 |
| पात्रावशेषात्फलविशेष | 5 | 21 | 97 |
| दानप्रकार | 5 | 22 | 98 |
| दानापवाद | 5 | 24 | 100 |
| पूर्व भोजनीया | 5 | 26 | 101 |
| मधुमर्केण पूजा | 5 | 28 | 101 |
| अतिथिपूजा | 5 | 41 | 104 |
| अभिवादनम् | 6 | 1 | 106 |
| प्रत्युत्थानम् | 6 | 9 | 109 |
| माननम् | 6 | 12 | 110 |
| मानननिमित्तम् | 6 | 20 | 111 |
| पथो दानम् | 6 | 25 | 113 |
| आपद्यब्राह्मणाद्ब्राह्मणस्य विद्याधिगम | 7 | 1 | 114 |
| तदानीं शुश्रूषाप्रकार | 7 | 2 | 114 |
| आपदि वृत्तिस्सर्वेषाम् | 7 | 4 | 115 |
| ब्राह्मणस्यापण्यम् | 7 | 8 | 117 |
| द्रव्यविनिमय | 7 | 16 | 119 |
| अत्यन्तापदि शूद्रकर्म | 6 | 23 | 121 |
| राजब्राह्मणसाहिभा | 8 | 1 | 122 |
| बहुश्रुतो ब्राह्मण | 8 | 4 | 124 |
| चत्वारिंशत्संस्कारा | 8 | 13 | 127 |
| अष्टावात्मगुणा | 8 | 20 | 130 |
| आत्मगुणप्राधान्यम् | 8 | 23 | 133 |
| स्नातकव्रतम् | 9 | 1 | 133 |

| | अ.या. | स. | पुट |
|-------------------------|-------|----|-----|
| तत्फलम् | 9 | 71 | 156 |
| ब्राह्मणधर्म | 10 | 1 | 157 |
| क्षत्रियधर्म | 10 | 7 | 159 |
| करशुल्कनियम | 10 | 23 | 162 |
| वैश्यधर्म | 10 | 48 | 169 |
| शूद्रधर्म | 10 | 49 | 169 |
| राजधर्म | 11 | 1 | 176 |
| पुरोहित | 11 | 12 | 180 |
| शान्तिकाभ्युदयिकादि | 11 | 19 | 182 |
| देशाधिर्माः | 11 | 22 | 184 |
| न्यायाधिगमः | 11 | 25 | 186 |
| दण्ड | 11 | 30 | 188 |
| वर्णाश्रमधर्मफलम् | 11 | 31 | 188 |
| आचार्योपदेश | 11 | 34 | 193 |
| साहसे शूद्रस्य दण्ड | 12 | 1 | 194 |
| वेदाधिगमे दण्ड | 12 | 4 | 195 |
| सहासनादौ दण्ड. | 12 | 5 | 196 |
| वाक्पारुष्ये दण्ड | 12 | 6 | 196 |
| स्तेये दण्डः | 12 | 12 | 197 |
| पशुपीडिते दण्ड | 12 | 16 | 199 |
| अदत्तादानप्रातिषेधापवाद | 12 | 25 | 201 |
| वृद्धिव्यवस्था | 12 | 26 | 201 |
| उपभोगव्यवस्था | 12 | 34 | 206 |
| ऋणापाकरणम् | 12 | 37 | 207 |

| | अध्या | सू | पृष्ठ |
|--------------------------|-------|----|-------|
| सुवर्णस्तेयदण्ड | 12 | 40 | 209 |
| साक्षिप्रकरणम् | 13 | 1 | 214 |
| शपथ | 13 | 13 | 218 |
| सगक्षिणा विशेषदोष | 13 | 15 | 220 |
| प्राङ्मवा ककृत्यम् | 13 | 26 | 223 |
| आशौचम् | 14 | 1 | 225 |
| सद्यशौचम् | 14 | 9 | 230 |
| सापिण्ड्यम् | 14 | 12 | 231 |
| स्नावाशौचम् | 14 | 16 | 233 |
| पक्षिण्याशौचम् | 14 | 18 | 234 |
| एकाहाशौचम् | 14 | 20 | 235 |
| उपस्पर्शाशौचम् | 14 | 22 | 235 |
| आशौचनियम | 14 | 35 | 243 |
| राजादीनामाशौचाभाव | 14 | 42 | 245 |
| अमावास्यादिश्राद्धम् | 15 | 1 | 246 |
| ब्राह्मणा निमन्त्रणार्हा | 15 | 9 | 251 |
| पुत्राभावे श्राद्धकर्तार | 15 | 13 | 252 |
| निषिद्धा ब्राह्मणा. | 15 | 15 | 253 |
| दृष्टिदोष | 15 | 24 | 259 |
| पङ्क्तिपावना | 15 | 28 | 260 |
| वेदोपाकर्म | 16 | 1 | 261 |
| अनध्यायः | 16 | 3 | 263 |
| भोज्यमन्त्रम् | 17 | 1 | 272 |
| निमित्तदुष्टम् | 17 | 8 | 276 |

| | अध्या. | स | पृ | |
|----------------------------------|--------|----|-----|-----|
| आश्रयदुष्टम् | 17 | 15 | 279 | |
| अभोजक्षीरम् | 17 | 20 | 281 | |
| अभक्ष्या पक्ष्यादय | 17 | 25 | 282 | |
| भक्ष्या पक्ष्यादय | 17 | 33 | 285 | |
| स्त्रीवर्म | 18 | 1 | 287 | |
| मृते भर्तृणि नियोग | 18 | 4 | 289 | |
| नष्टे भर्तृरि प्रतीक्षा | 18 | 15 | 292 | |
| परिवेदनम् | 18 | 19 | 293 | |
| स्वयवरकाल | 18 | 21 | 294 | |
| कन्यादानकाल | 18 | 22 | 295 | |
| द्रव्यार्जन विवाहार्थम् | 18 | 25 | 295 | |
| प्रायश्चित्तम् | 19 | 1 | 299 | |
| प्रायश्चित्तमीमसा | 19 | 4 | 304 | |
| जपस्वरूपम् | 19 | 12 | 309 | |
| आह रनियम | ... | 19 | 14 | 311 |
| जपादिना स्थानम् | 19 | 15 | 312 | |
| तपस्वरूपम् | 19 | 16 | 313 | |
| दानस्वरूपम् | 19 | 17 | 315 | |
| काला | 19 | 18 | 315 | |
| सामान्यत प्रायश्चित्तम् | 19 | 19 | 315 | |
| पतितस्य पित्रादेरपि त्यागप्रकार | 20 | 1 | 317 | |
| प्रायश्चित्तानन्तर स्विकारप्रकार | 20 | 10 | 322 | |
| पतितस्वरूपम् | 21 | 1 | 324 | |
| स्त्रीणा पातित्यम् | 21 | 9 | 329 | |

| | अध्या | स. | पुट |
|--------------------------------|-------|----|-----|
| पातकसमानं | 21 | 10 | 350 |
| उपपातकम् | 21 | 11 | 331 |
| पानित्येऽपि मातापितृशुश्रूषा | 21 | 15 | 333 |
| ब्राह्मणभिशमनादिकम् | 21 | 17 | 334 |
| ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तम् | 22 | 1 | 336 |
| राजन्यादिवधे | 22 | 13 | 342 |
| गवादिवधे | 22 | 20 | 346 |
| स्त्रीवधे | 22 | 28 | 354 |
| व्याभचारे | 22 | 29 | 355 |
| अयोज्यभोजने | 22 | 35 | 361 |
| स्त्रीणां | 22 | 37 | 366 |
| सुरापाने | 23 | 1 | 368 |
| मूत्रादिप्राशने | 23 | 4 | 372 |
| श्वपदादिप्राशने | 23 | 5 | 372 |
| श्वपदादिदशने | 23 | 8 | 374 |
| गुरुतल्पगमने | 23 | 9 | 375 |
| सख्यादिगमने | 23 | 12 | 378 |
| स्त्रीणां व्याभचारे | 23 | 14 | 380 |
| अवकीर्णने | 23 | 17 | 382 |
| रेतस्स्कन्दने | 23 | 20 | 386 |
| सूर्याभ्युदये | 23 | 21 | 387 |
| अभोज्यभोजने | 23 | 23 | 390 |
| आक्रोशानृतादिषु प्रायश्चित्तम् | 23 | 28 | 397 |
| अनृतापवाद | 23 | 30 | 403 |

| | अध्या | सू | पृष्ठ |
|--------------------------------------|-------|----|-------|
| अन्तावसायिन्या दीगमनप्रायश्चित्तम् | 23 | 33 | 403 |
| अथ रहस्यप्रायश्चित्त महापातकेषु | 24 | 1 | 406 |
| उपपातकेषु अवकीर्ण्यादिप्रायश्चित्तम् | 25 | 1 | 412 |
| प्राजापत्यकृच्छ्रस्वरूपनिरूपणम् | 26 | 1 | 417 |
| तत्र गुणविधि | 26 | 6 | 419 |
| अतिकृच्छ्र | 26 | 18 | 425 |
| कृच्छातिकृच्छ्र | 26 | 19 | 428 |
| एतेषां फलम् | 26 | 20 | 429 |
| चान्द्रायणम् | 27 | 1 | 431 |
| दायविभाग | 28 | 1 | 437 |
| ज्येष्ठाश | 28 | 5 | 438 |
| पश्चाविभाग | 28 | 12 | 440 |
| पुत्रिकापुत्र | 28 | 18 | 441 |
| सपिण्डादयो रिक्थभाज | 28 | 21 | 442 |
| स्त्री रिक्थहारिणी | 28 | 22 | 442 |
| बीजलिप्सा | 28 | 23 | 443 |
| स्त्रीधनम् | 28 | 25 | 443 |
| असंस्पृष्टिविभाग | 28 | 28 | 444 |
| सस्पृष्टिविभाग | 28 | 29 | 444 |
| विभागानन्तरज पुत्र | 28 | 30 | 444 |
| स्वार्जितम् | 28 | 31 | 445 |
| औरसादय रिक्थभाज | 28 | 33 | 445 |
| कानीनादय गोत्रभाज | 28 | 34 | 446 |
| तेषां दायश | 28 | 35 | 448 |

| | अध्या | सू | पुट |
|------------------------|-------|-------|-----|
| असवर्णापुत्रविभाग | 28 | 36 | 449 |
| अनशा | 28 | 41 | 450 |
| प्रतिलोमा • | 28 | 46 | 452 |
| अविभाज्यम् | 28 | 47 | 452 |
| परिषत् | 28 | 49 | 453 |
| धर्मविद फलम् | 28 | 54 | 455 |
| क्रियाकाण्ड (आह्निकम्) | 18 | खण्डा | 457 |

ॐ.

गौ त म ध र्म सू त्र म्.

मस्करिभाष्यसहितम्.

प्रणिपत्यादिदेवाय वासुदेवाय भक्तित ।

गौतमीयच्छलेनेदं सर्वस्मृतिनिबन्धनम् ॥

क्रियतेऽद्य मया भाष्य सूनुना वामनस्य तु ॥

को वाऽभिसम्बन्धः ? अयमुच्यते—सन्ति चतुर्दश विद्या-
स्थानानि, तद्यथा—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।

पुराण धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ इति ॥

तेषां मध्ये परिगणितमिदं धर्मशास्त्रमारभ्यत इत्यभिसम्बन्धः ।
अथवा—पुरुषस्य सुखदुःखोपभोगार्थैः शरीरान्द्रिषविषयैः संयो-
गवियोगरूपो जन्मजरामरणप्रबन्धः ससारः । स च धर्माध-
र्मनिमित्तो नान्यनिमित्तः । तयोश्च धर्माधर्मयोरिष्टानिष्टोपभोगहेतु-
त्वादुपादानपरिवर्जनाहौ तौ भवतः । तदुभयमपरिज्ञाने न
सम्भवतीति धर्माधर्मस्वरूपावबोधनार्थं गौतमेन शास्त्रं प्रणीत
मिति । प्रयोजनमपि चास्यैतदेव, धर्माधर्मोपादानपरिवर्जनयोः
पुरुषार्थत्वादिति । अभिधेयमष्टकादीनि, यथा श्रौतान्यग्निष्टो-

मादीन्यवश्यकर्तव्यानि तथाऽष्टकादीन्यपीति । तत्र सर्वकार्याणां कारणतः प्रवृत्तिदर्शनात्पूर्वं कारणविशेषप्रतिपादनार्थमाह —

वेदो धर्ममूलम् ॥ १ ॥

ननु विधिप्रतिषेधरूपत्वाच्छास्त्रस्य “उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे” इत्याद्येव वक्तव्यम्, न त्वनुवादरूपत्वाद्देवो धर्ममूलमित्यादि, निष्प्रयोजनत्वादनुवादस्येति । न चानेन वेदस्य प्रामाण्यं प्रतिपाद्यते, तस्य स्वत एव सिद्धे, अन्यथा येन प्रामाण्यं प्रतिपाद्यते तस्याप्यन्येन प्रामाण्यं तस्याप्यन्येनेत्यनवस्था स्यादिति ॥

उच्यते—वेदस्य धर्ममूलत्वानुवादः तद्वारेण स्मृतिशीलयोरपि धर्ममूलत्वप्रतिपादनार्थः । कथामिति चेदुच्यते—वेदवचनादुच्चरितान्तत्पदार्थवेदां विशिष्टेऽर्थे या प्रतिपत्तिर्निस्सदिग्धा जायते न च कालान्तरे देशान्तरे पुरुषान्तरेऽवस्थान्तरे वा विपर्येति सा धर्ममूलमिति । यच्च निस्सदिग्धमविपरीतं च ज्ञानमुत्पद्यते तस्य प्रामाण्यमध्यवसितुं शक्यते । न च वेदजनितप्रत्ययस्य कारणदोषकृत मिथ्यात्व, कर्तुरनभ्युपगमात् । कर्तृगतो हि दोषः शब्दजनितस्य प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमापादयति । एवमुत्तरार्थोऽनुवादः ॥

इदानीं सूत्रं विब्रियते - तत्र वेदो मन्त्रब्राह्मणाख्यो ग्रन्थराशिः । विदं ज्ञाने, ज्ञायतेऽनेन धर्मादिस्वरूपमिति वेदः । यद्यपि स्मृत्यादेरेतत्तुल्यत्वम् । तथाऽपि परिव्राजकादिवद्रूढत्वाददोषः । तथा च स्मृत्यन्तर —

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ॥ इति ॥

स च ऋग्वेदादिभेदेन भिद्यते । जात्यपेक्षयैकवचनम् । धर्मः

कर्म आचार इत्यर्थः, अपूर्वाख्यो वा । मूलं कारणं ज्ञापकं, प्रमाणमित्यर्थः । तत्र विधिप्रतिषेधात्मको हि वेदो धर्माद्यव-
बोधकत्वं प्रतिपद्यते, न तु मन्त्रार्थवादरूप इति चेदुच्यते—
अर्थवादादेरपि विध्येकवाक्यत्वेनोपकारकत्वात् पारंपर्येण धर्ममू-
लत्वमविरुद्धम् । अर्थवादस्तावत् स्तुतिनिन्दाद्वारेण विधि-
प्रतिषेधरूपत्वं प्रतिपद्यते, मन्त्रस्त्वनुष्ठानकाले विहितार्थस्मार-
कत्वात् । ततः सर्वप्रकार एव वेदो धर्ममूलमिति । केचि-
न्मन्त्रार्थवादमूलमेव प्रतिजानते, यथा “ धन्वन्निव प्रपा असि ”
इत्यत्र प्रपा कर्तव्येत्यादि । अन्ये त्वाहुः—अध्ययनमात्रादेव धर्म-
सिद्धिः, यथाऽऽह —

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।

यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ इति ॥

अतः पाठ एव धर्ममूलमिति । तदयुक्तं, कर्मफलश्रुतेः आन-
र्थक्यप्रसङ्गात्, मीमांसकैरध्ययनफलस्य निरस्तत्वाच्च ।
अथवा वेदवाच्या क्रिया वेदशब्देनोच्यते, स धर्मस्य मूलमिति ।
इयैनादिषु न भवतीति चेत्, उच्यते—तत्रापि वैरिवधात् प्राण-
धनपुत्रदारादेरक्षणद्वारेण धर्मोऽस्त्येवेति । ततश्चावगम्यते—
यदिदं पुत्रपशुग्रामादि दृष्टं, यच्च सर्गाद्यदृष्टं, तत्सर्वं धर्महे-
तुकमिति ॥

धर्मः पञ्चप्रकारः—वर्णधर्म आश्रमधर्मो गुणधर्मो वर्णा-
श्रमधर्मो निमित्तधर्म इति । वर्णधर्मोऽध्ययनादिः, आश्रमधर्मः
समिदाधानादिः, गुणधर्मोऽभिषेकादिगुणयुक्तस्य रक्षणादिः,
वर्णाश्रमधर्मो ब्राह्मणस्य पालाशो दण्ड इत्यादि, निमित्तधर्मः
प्रायश्चित्तादिः । मूलं कारणम् । तथा चाह—“ वेदाद्धर्मो हि

निर्वभौ ” इति । सूत्रारम्भप्रयोजनं च—यथैव वेदो धर्ममूलं
तथा स्मृतिशीले अपीति ॥

न तु केवलं वेद एव धर्मसूल, किं तर्हि—

तद्विदां च स्मृतिशीले ॥ २ ॥

वेदविदां च ये स्मृतिशीले ते अपि धर्ममूले भवतः ते
अपि वेदाविरोधिनी, तद्विदामित्यारम्भात् । मूलशब्दश्चेह
द्वाभ्यामभिसम्बध्यमानो द्विवचनान्तो द्रष्टव्यः । तच्छब्देन ष-
डङ्गो वेदो लक्ष्यते । स्मृतिरूपनिबन्धनं मनु-यम-वसिष्ठ-
भृगुवाङ्मनो-बृहस्पत्युशनो-भारद्वाज-गौतमपापस्तम्ब-सर्वत-व्यास-
शतातप-शङ्ख-लिखित-हारीत-बोधायन-याज्ञवल्क्य-प्रचेतादिभिः
कृतम् । शोलमनुपनिबद्धं समाचारं कौतुकमङ्गलादि, बहु-
त्वात्प्रतिदेशं मिद्यमानत्वाच्चानुपनिबद्धं । चकारोऽनुक्तसमुच्च-
यार्थः । यथाऽऽह मनुः-

वेदोऽखिलो धर्मभूल स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

आचारश्चैव साधूनां आत्मनस्तुष्टिरेव च ॥ इति ॥

सन्ध्योपरमणकाले त्रि. प्रदक्षिणादिः शिष्टाचारः । वेदविदां
सकलानुष्ठानपराणां निर्दोषत्वेन यद्विज्ञानमुत्पद्यते, साऽऽत्मतुष्टिः ।
वक्ष्यति—“ यच्चात्मवन्तो वृद्धाः ” इत्यादि ॥

केचिद्वर्णयन्ति—अष्टकादिवदेषां कौतुकमङ्गलादीनां अनुप-
निबन्धोऽकरणे प्रत्यवायाभावात् । आचारात्मतुष्टी अपि शील-
एवान्तर्भूते इति न पृथगुपन्यस्ते । चकारोऽप्युक्तसमुच्चयार्थ एवेति ॥

इदानीं पूर्वपक्षीकरोति वेदविदां शीलं धर्ममूलं न भवति
यतः—

दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः ॥ ३ ॥

. धर्ममूलत्वं न प्राप्नोतीति शेषः । यथा प्रजापतिः स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्, यथेन्द्रस्याहल्यागमनादि, यथा व्यासभीष्मादीनामनाश्रमावस्थानम् ॥

किञ्च—

साहसं च महताम् ॥ ४ ॥

अत्रापि धर्ममूलत्वं न प्राप्नोतीति शेषः, चशब्दोपादानात् । सहशब्देन बलमुच्यते । यथा च नारदः—“सहो बलमिहोच्यते” इति । तेन शास्त्र लोकसंव्यवहार चानवेक्ष्य यत् क्रियते तत् साहसम् । महतां लोकविख्यातानामित्यर्थः । यथा रामस्य ताटकादिस्त्रीवधः । जामदग्न्यस्य मातुर्दिश-रश्छेदः, वसिष्ठस्य जलप्रवेशः इत्यादि । तेन अयुक्तं शीलस्य धर्ममूलत्वमिति ॥

कथं पुनर्धर्मव्यतिक्रमसाहसयोः भेदः ? विषयाभिलाषेण यद्युक्तमाचर्यते, स धर्मव्यतिक्रमः, क्रोधाद्यभिभवेन यत् क्रियते तत् साहसम् ॥

अत्रोत्तरमाह—

न तु दृष्टार्थेऽवरदौर्बल्यात् ॥ ५ ॥

तुशब्दः पक्षनिवृत्त्यर्थः । दृष्टार्थो दृष्टप्रयोजनः तस्मिन् दृष्टप्रयोजने शील धर्ममूलं न भवति । तथा च वसिष्ठः—“अगृह्यमाणकारणो धर्मः” इति । नैतद्विवचनं, दृष्टार्थे धर्मव्यतिक्रमसाहसे इति । तस्मिन् गृह्यमाणे “ईदृशेत्” इत्यादिना प्रगृह्यसंज्ञायां सत्यां “दृष्टार्थे अवरदौर्बल्यात्” इति पाठः प्रा-

प्रोति । अवरदौर्बल्यात् न वरः अवरो निष्कृष्टः द्वेषाद्यभिभूतः
अपरमार्थज्ञान इत्यर्थः, तस्य दौर्बल्यात् धर्माधर्मपीरज्ञानाशक्तेरि-
त्यर्थः । एतच्छानेन ज्ञापितं भवति—महतामपि तद्विद्वां कदां
चिदभिभवोऽस्तीति, शरीरवत् प्रियाप्रिययोरवश्यंभावित्वात् ।
तस्माद्यावदेतेषां रागादिदोषेणाभिभवः, तावत्तेषां आचारोपि
न ग्राह्यः । तथाच वामिष्ठ --“शिष्टः पुनरकामात्मा” इति ।
अथवा—अवरशब्देनेदानीतनाः कलियुगपुरुषा उच्यन्ते, तेषां
दौर्बल्यात् असामर्थ्यात् ॥

एव स्मृतिप्रमाणमुक्त्वा अधुना एकार्थोपनिपतितानां वाक्या-
नां परस्परविरोधे सति किं कर्तव्यमित्यत आह—

तुल्यबलविरोधे विकल्पः ॥ ६ ॥

तुल्यप्रमाणप्रापितः पदार्थस्तुल्यबलः । तयो परस्परवि-
रोधे सति विकल्पो वेदितव्यः, अयं वाऽयं वेति । नोभय-
परित्यागः, उभयोः प्रमाणप्रापितत्वात् । नान्यतरपरिग्रहः, एक-
स्मिन् गृह्यमाणे द्वितीयस्यानर्थक्यप्रसङ्गः स्यादिति । किमुदा-
हरण—श्रुतौ तावत् उदिते होतव्यं, अनुदिते होतव्यमित्येव-
मादि । स्मृतावपि, “नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नम्” इति गौतमः ।

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवभूतमवभुतम् ।

दूषितं केशकीटैश्च स्मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥

इति मनुः ॥

ननु चात्र सामर्थ्यादेव विकल्पप्रसिद्धे अनर्थकमिदं सूत्रं स-
मुच्चयस्तावदत्र न सम्भवतीति । न ह्यनुदिते हुत्वा पुनरुदितं होतुं
शक्यते, गुणभूतकालवशेन प्रधानस्य होमस्यावृत्तेरन्याय्य-
त्वात् । प्रधानवशवर्तिनो हि गुणाः, न गुणवशवर्ति प्रधान-

मिति । न चानावृत्तमुभयो कालयोर्होतुं शक्यते । एवं स्मृ-
तावपि शुद्धिपरित्यागयोर्नैव समुच्चयः सम्भवतीति, परस्पर-
विरोधादिति । न चोभयपरित्यागो युक्त इत्युक्तम् । तेनात्र
विकल्प एव प्राप्नोतीति नार्थोऽनेनेति ॥

एवं तर्हि न्यायप्राप्तानुवादोऽयं विशेषार्थः । को विशेषः ?
तुल्यबलयोरेव विरोधे विकल्प, अतुल्यबलयोस्तु बाध एवेति ।
•तेन श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे स्मृतिरेव बाध्यते । श्रुतौ हि प्रत्यक्षः
शब्दः, स्मृतावानुमानिकः । न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधे प्रमा-
णीभवति । एवं स्मृत्याचारविरोधे च मातुलदुहितृपरिणयना-
द्याचारो बाध्यत इति, तत्र ह्याचारात् स्मृत्यनुमानमिति । विरोधे
विकल्पवचनात्, अविरोधे तु तुल्यप्रमाणशिष्टानां समुच्चयः यथा
आचमनादीनां श्रौतेषु कर्मस्त्विति ॥

ननु च यदि वेदलिङ्गप्रभवत्वाभ्युपगम एव स्मृतेः श्रुत्या
सहातुल्यबलत्वमुपपाद्यते, तदा हि मन्त्रार्थवादवाक्येष्वन्यपरे-
ष्वपि यानि स्मार्तधर्ममूलभूतानि लिङ्गानि “कुमारा विशिखा
इव” इत्येवमादीनि तेषां प्रत्यक्षवेदवाक्यविरोधे सति विरोधि-
वाक्यानुमानविरोधात् दुर्बलत्वं प्रसज्यते । यदा तूत्सन्नशाखापू-
र्विका स्मृतिरभ्युपगम्यते—यथाऽऽहापस्तम्ब.—“ब्राह्मणोक्ता विधय-
स्तेषामुत्सन्ना पाठा प्रयोगादनुमीयन्ते” इति तदोभयोश्च वैदि-
कत्वात् तुल्यबलतैव प्रसज्यते । न ह्यनुमितस्य वेदवाक्यस्य प्रत्य-
क्षस्य च बलाबलनिशेषोऽस्ति प्रत्यक्षानुमानपरिच्छिन्नाग्निरिति ।
स्यादेतत् यत्र स्मृतिवचने वेदविरोधोऽस्ति तन्नैव वेदवाक्या-
नुमापक भवति, किं तर्हि भ्रान्त्यादिप्रभवमेवैतदिति । तच्च
न युक्तं, धर्मशास्त्रप्रणेतुरनाप्तत्वाभ्युपगमे अविश्वासप्रसङ्गात् ।

यदाऽपि वेदवदविच्छिन्नपारंपर्येणागता स्मृतिरभ्युपगम्यते तदाऽपि तुल्यबलत्वमुपपद्यते इति तत्रापि तन्नैवोपपद्यते । यस्तावन्मातुलदुहितृपरिणयनादिक. समाचार उपन्यस्त. स क्तमाद्यभिभवे सति दुष्टाचारत्वाच्छिष्टाचार एव नोपपद्यते । यस्त्वविगाने-नोक्तलक्षणैः शिष्टैराचर्यते तस्य वेदमूलत्वाविशेषात् स्मृत्या सह तुल्यबलत्वमेव प्राप्नोति । निबन्धनानिबन्धनयोस्त्वन्यदेव प्रयोजनमुपादिष्टम् । न च समाचारस्य स्मृतिवाक्यान्तरितरूपस्य वेदवाक्यानुमानसनिर्कषकृतं बलाबलत्वं सिध्यति ॥

अत्रोच्यते—अतुल्यबलत्व तावत् वेदादीनां सूत्रारम्भसामर्थ्यादेवावगम्यते । यदा हि तुल्यबलान्येतानि स्युः तदा विरोधे विकल्पः सामर्थ्यादेव सिद्धः, किमनेन सूत्रेणेति तुल्यबलग्रहण चानर्थकं स्यादिति । अस्मिन्पक्षे वेदाद्बलतरत्वं स्मृतेरुपपद्यते । तत्र लिङ्गप्रभवत्वमुपपद्यते इत्युक्तम् । तेनायमेव पक्षो युक्तः । यस्तु स्वतन्त्रपक्षोऽभिहितः, स पक्षः “तद्विदां च स्मृतिशीले” इत्येतस्मिन् सति दुरूपपाद एवेति । तस्माद्वेदलिङ्गप्रभवत्वमेव स्मृतीनां निर्दोषतरमिति ॥

ननु चैवमपि नोपपद्यते. क्वचित् स्मृत्या श्रुतेर्बाधदर्शनात् यथा सामान्येन प्रवृत्तो वैदिककर्माधिकारः स्मृत्या उपनीतादिपुरुषविशेष एवाधिक्रियते । तथा संस्कारैकदेशेनाप्यात्मगुणयोगे सति विशिष्टफलाभिधानात्, तथा गामालभेतेति श्रुतिचोदितोऽपि गोवधः स्मार्तप्रतिषेधबलीयस्त्वान्न क्रियते, तथाऽग्निहोत्रादिकं चोदितजीवनोपाधिकं कर्म द्रव्यसाध्यमपि न स्मार्तचौर्यादिप्रतिषेधेनापि द्रव्यमार्जयित्वा तत्क्रियते । अतः श्रुत्या स्मृतिर्बाध्यत इत्युक्तमुक्तमिति ॥

उच्यते—विरोधे सति प्रमाणानां बलाबलचिन्ता युज्यते ।
यत्र तु विरोधाभावः तत्र दुर्बलोऽपि नैव बाध्यत इति । यस्ता-
वदुपनीतस्य कर्माधिकारः सः श्रुत्या नैव विरुध्यते, उपनयनस्य
वेदग्रहणार्थत्वात्, तस्य च कर्मार्थत्वात्, न चापूर्वसयोगम-
न्तरेण प्रधानसिद्धिः । यच्चोक्तं गोबधस्तु श्रुतिचोदितोऽपि न
क्रियत इति, तदपि न केवलं स्मृत्या, किन्तु मन्त्रवर्णाच्च 'मा
• गा. . प्रमापयाश्वान् प्रमापय' इत्यादि । अतः स्मृत्या श्रुतिनैव
बाध्यते । केचिदुत्सन्नशाखापूर्विकां स्मृतिमाहुः । तदयुक्तम् ।
तत्र विचार्यते—किं स्मरणात्पूर्वमेव नष्टाः शाखाः उत्तोरकाल-
मिति । यदि पूर्वं तत्र स्मरणं नोपपद्यते, विनष्टत्वात्, पूर्ववि-
ज्ञानसदृशत्वात् स्मृतेः । यद्युत्तरकालः, तदोत्सन्नशाखापूर्वकत्वं
वक्तुं न युज्यते, तदानीमुपलभ्यमानत्वात् । आपस्तम्बोक्त-
स्याप्ययमभिप्रायः—उत्सन्नाः कचित्कचिद्देशे न सर्वत्रेति 'ते-
षामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते' इत्यत्रापि व्याख्या कर्तव्या ॥
एवमिथ धर्मप्रमाणपरिभाषोक्ता । इदानीं स्मृत्या यत्प्रमी-
यते तदभिधानार्थमाह—

उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे ॥ ७ ॥

वेदस्य अग्नोराचार्यस्य यमनियमाना वा समीपे नयनमुप-
नयनम् । तदष्टमे वर्षे, वर्षगणनासामर्थ्यात् । नित्याऽयमुपनय-
नकालः, काम्यापत्कल्पयोरुर्ध्वमभिधानात् । क्षत्रियवैश्ययोरु-
र्ध्वमभिधानात् शूद्रस्यैकजातित्वादर्थसिद्धस्यापि ब्राह्मणग्रहणस्य
जातिनिमित्तत्वप्रसिद्ध्यर्थमारम्भः । न च द्विजत्ववत् ब्राह्म-
णत्वं क्रियत इति । एवं च सुरापस्य ब्राह्मणस्य 'सुरापस्य
ब्राह्मणस्योष्णामासिचेयुः' इत्यवमादयो ब्राह्मणोद्देशेन विधीय-

माना अनुपनीतस्यापि भवन्ति । यद्वा—ब्राह्मणग्रहणेन विना त्रयाणामप्येतन्नित्यं स्यात्, काम्यं तु ब्राह्मणस्य नवमे पञ्चमे वा स्यात्, इतरथोस्त्वेकादशद्वादशयो स्यातां, काम्थानन्तर-मभिधानात् । पूर्वसंस्काराभावेऽपि उपनयनेनाधिक्रियते, न त्वनेन विनोपरितनैरिति गर्भाधानादिमनुक्त्वा उपनयनस्यैवे-हारम्भ ॥

नवमे पञ्चमे वा काम्यम् ॥ ८ ॥

कामाय हितं काम्यं तदुत्पादनसमर्थम् । पञ्चमे नवम इति वाच्ये क्रमभेदं अनयोरन्तरां क्षत्रियवैश्ययोः काम्यकालपरिग्रहार्थं । तथा च मनुः—

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोऽष्टमे ॥

विसमासः काम्यभेदज्ञापनार्थः । तथाच स्मृत्यन्तरं—‘नवमे त्वायुष्कामं पञ्चमे ब्रह्मवर्चसकामम्’ इति । वाशब्दो विकल्पार्थः । स इच्छातो द्रष्टव्यः ॥

गर्भादिस्सङ्ख्या वर्षाणाम् ॥ ९ ॥

गर्भसहचरिता दश मासा गर्भ इत्युच्यते । तत्प्रभृति वर्षगणना कर्तव्या, न तु जन्मत आरभ्य । ततश्च ‘उपनयनं ब्राह्मणस्य’ इत्येवमादौ ‘गर्भाष्टमे’ इत्येवमादि योज्यम् ॥

तद्वितीयं जन्म ॥ १० ॥

तत् उपनयनं द्वितीयं जन्म । तेन संस्कृतो द्विजो भवतीत्यर्थः । ‘द्विजातीनामध्ययनम्’ इत्येवमादौ व्यवहारार्थं द्विजसंज्ञाकरणम् । तद्ग्रहणं नित्यकाम्योपनयनसंग्रहणार्थम् ॥

तद्यस्मात्स आचार्यः ॥ ११ ॥

तद्ग्रहणं नित्यकाम्योपनयनसंग्रहणार्थम् । ‘आचार्यः श्रेष्ठो गुरुणाम्’ इत्यादौ व्यवहारार्थं सज्ञाकरणम् ॥

वेदानुवचनाच्च ॥ १२ ॥

वेदानुवचनं समस्तवेदानुवचनम् । अदृष्टार्थमेकदेशाध्याप-
नेन गुरुः । तथा च मनु —

अल्प वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।

तमपीह गुरु विद्यात् श्रुनोपक्रियया तथा ॥ इति ॥

दृष्टार्थं चेदुपाध्यायः । तथाच वसिष्ठ — ‘यस्त्वेकदेशं स उपा-
ध्यायः’ इति । चकारात् अङ्गव्याख्यानाऽपि । तथाच यास्क —
‘आचार्य आचारानाचिनोति, अर्थानाचिनोति, बुद्धि वा’ इति ।
केचिच्चकार पूर्वसूत्रेण समुच्चयार्थं व्याचक्षते । तेनोभयकरणा-
देवाचार्यः । तथाच मनुः—

उपनीय तु यद्विशिष्य वेदमध्यापयेद्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ इति ॥

एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्ययोः ॥ १३ ॥

नित्योऽयं कालः, काम्यापत्कल्पयोरूर्ध्वमभिधानात् ॥

यदा तु नित्यकाम्ययोः केनचिदुर्भिक्षादिना निमित्तेनाति-
क्रमः स्यात् तदानीमापत्कल्पमाह—

आ षोडशाद्वाह्यस्यापतिता सावित्री ॥ १४ ॥

आङ्गत्राभिविध्यर्थः, सहषोडशेन वर्षेणेति, ‘द्व्यधिकायाः’
इति लिङ्गात् ‘षोडशे सर्वकामम्’ इति स्मृत्यन्तरदर्शनाच्च ।
अपतिता अनपगता । सावित्रीशब्देन तत्साधनमुपनयनमुच्यते,

उपनयनस्याधिकृतो भवतीत्यर्थः । अनुपनीतस्यापि जातेरवि-
नाशार्थं ब्राह्मणग्रहणम् । एव च पित्रादिष्वनुपनीतेष्वपि प्राय
श्चित्तेनोपनयनेऽधिक्रियते । तथाचापस्तम्ब. — ‘यस्य भिता -
पितामहः प्रपितामहः’ इत्यादि ॥

द्वाविंशते राजन्यस्य ॥ १५ ॥

अत्राप्याङ्गनुवर्तते वर्षसाहितम् । राजन्यशब्दप्रयोगो राज-
त्वप्रसिद्धार्थः, तस्यानुपनीतस्यैव राज्याधिकार इति ॥

द्व्यधिकाया वैश्यस्य ॥ १६ ॥

द्वाभ्यामधिकाभ्यां सहिता या द्वाविंशति सा द्व्यधिका
चतुर्विंशतेरित्यर्थः । चतुर्विंशतेरिति वक्तव्ये एवमभिधानं पूर्वं
त्राडोऽभिविधिज्ञापनार्थम् ॥

उक्त उपनयनकालः । इदानीं तत्साधनाभिधित्सयाऽऽह—

मौञ्जीज्यामौर्वीसौत्रयो मेखलाः क्रमेण ॥ १७ ॥

मुञ्जविकारा मौञ्जी । सूर्वा प्रसिद्धा, तद्विकारा मौर्वी । ज्या
चालौ मौर्वी चेति समानाधिकरणसमासः । ततश्च धनुषोऽप-
नीय ग्राह्या । सूत्र शणसूत्रम् । एकगुणा मौर्वी, इतरे त्रिवृतौ ।
यथाऽऽह मनुः—

मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।

क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ इति ॥

ज्यामौर्वीर्द्धित्वव्यावृत्त्यर्थं क्रमग्रहणम् । केचिद्भावे वैकल्पि-
कार्थमिति वर्णयन्ति । तथाच मनु —

मुञ्जाऽभावे तु कर्तव्या कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।

त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वेति ॥

न्यायसिद्धे क्रमग्रहणस्यान्यार्थत्वादिति ॥

कृष्णरुबस्ताजिनानि ॥ १८ ॥

अजिनशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । कृष्णः कृष्णमृगः, रुब पृष्णमृग, वस्त प्रसिद्ध । एतानि क्रमेणोत्तरीयाणि । तथाच स्मृत्यन्तरम्—‘अजिनमेवोत्तरीयं धारयेयुः’ इति ॥

• **वासांसि शाणक्षौमचीरकुतपास्सर्वेषाम् ॥ १९ ॥**

शाणविकारश्शाणः । क्षुमा अतसी, तद्विकारः क्षौमः । दर्भा-
दिपरिनिष्पन्न चीरम् । कुतप पार्वतीयच्छागरोमनिष्पन्नः । एता-
न्यध्रोवसनानि । विषमसङ्ख्यत्वादेव सर्वेषां सिद्धे. स्मृत्यन्तरे
‘शाण क्षौमं वासो ब्राह्मणस्य’ इति तदाश्रित्य यद्यथासङ्ख्यं
तन्निवृत्त्यर्थं सर्वेषां ग्रहण, अधिकारार्थं वा ॥

कार्पासं चाविकृतम् ॥ २० ॥

सर्वेषामित्यनुवर्तते, वास इति च । अविकृतमरागसम्ब-
न्धम् । स्वभावतः शुक्लमेवेत्यर्थः । पूर्वेषामप्यविकृतत्वज्ञाप-
नार्थश्चशब्दः ॥

काषायमप्येके ॥ २१ ॥

रागसम्बन्धमपि केचिदिच्छन्ति । अपिशब्दो निन्दार्थः ।
अतः पूर्वेषामभावे द्रष्टव्यम् ॥

इदानीं काषायपक्षे नियमार्थमाह—

वार्क्षं ब्राह्मणस्य ॥ २२ ॥

वृक्षकषायकृत वार्क्षं तदेव ब्राह्मणस्य वासः ॥

माञ्जिष्ठहारिद्रे इतरयोः ॥ २३ ॥

माञ्जिष्ठया विकृतं क्षत्रियस्य । हरिद्रया विकृतं वैश्यस्य ॥

वैल्वपालाशौ ब्राह्मणदण्डौ ॥ २४ ॥

वैल्वः पालाशो वा ब्राह्मणस्य दण्डः । यद्यपि द्वन्द्वनिर्देशः, तथाऽपि 'यज्ञियो वा सर्वेषाम्' इत्येकवचननिर्देशात्, 'प्रातेगृह्येप्सितं दण्डम्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनाच्च एकस्यैव धारणं युक्तम् ॥

आश्वत्थपैलवौ शेषे ॥ २५ ॥

अश्वत्थः प्रसिद्धः, पीलुः कलिकः, शेषे क्षत्रियवैश्यविषये । तत्रापि क्षत्रियस्याश्वत्थः, वैश्यस्य पैलवः ॥

यज्ञियो वा सर्वेषाम् ॥ २६ ॥

यज्ञाहो वा स्यात् विभीतकबिल्वकयावकादिर्विजितो वृक्षविशेष इत्यर्थः । वाशब्देऽभावविकल्पार्थः, अतः पूर्वेषामभावे । अन्यथाऽपार्थो वाशब्दः । सर्वेषां ग्रहणमनन्तरयोरेव मा भूदिति ॥

इदानीं दण्डगुणमाह—

अपीडिता यूपवक्रास्सशल्काः ॥ २७ ॥

अपीडिता बल्लीविष्टनकीटाग्रचादिभिरनुपहता इत्यर्थः । यूपवक्राः यूपवन्नताग्रा इत्यर्थः । सशल्काः सत्वच । असमास्तात् सर्व एवंप्रकाराः, न तु यथासङ्गचम् । तथा चाह मनुः—

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणास्तौम्यदर्शनाः ।

अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥ इति ॥

मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणाः ॥ २८ ॥

प्रमाणशब्द प्रत्येकं सम्बध्यते । मूर्धप्रमाणा ब्रह्मणस्य, ललाटप्रमाणा क्षत्रियस्य, नासाग्रप्रमाणा वैश्यस्य । तथा च मनुः—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्ड कार्य प्रमाणतः ।

ललाटसम्मितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः॥ इति॥

इदानीं ब्रह्मचारिवेषमाह—

मुण्डजटिलशिखाजटाश्च ॥ २९ ॥

मुण्डो मुण्डितशिरस्कः । जटिलः सकेशः । शिखा एव-जटा यस्य स शिखाजटः । एवं मुण्डशब्देन समस्तमुण्डन-मुच्यते । चकारो वाऽर्थः प्रत्येकमभिसम्बध्यते—मुण्डो वा जटिलो वा शिखाजटो वेति । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याभिप्रायं बहु-वचनम् । यथाक्रमनिवृत्त्यर्थं वेति नोक्तम् । तथा च मनुः—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथ वा स्याच्छिखाजटः॥ इति॥

इदानीं शौचवतोऽध्ययनाधिकारात् शौचार्थं पूर्वं द्रव्यशु-द्धिरुच्यते—

द्रव्यहस्त उच्छिष्टो निधायाचामेत् ॥ ३० ॥

ब्राह्मणभोजनादौ प्रवृत्तो द्रव्यहस्त पूर्वमनुच्छिष्टः केन-चित्कारणेनोच्छिष्टस्पर्शादप्रयतो भवति, तदा तद्द्रव्यं भूमौ नि-धाय स्थापयित्वाऽऽचामेत् । तथा च वसिष्ठः—

प्रचरन्नभ्यवहार्येषु उच्छिष्टं यदि संस्पृशेत् ।

भूमौ निधाय तद्द्रव्यमाचम्य प्रचरेत्पुनः ॥ इति ॥

पुरुषशौचविवक्षायां द्रव्यहस्तग्रहणमनर्थकम् । अतो द्रव्य-

स्य निधानमात्रादेव शुद्धिः, पुरुषस्याचमनात् । यत्तु द्रव्यस्य स्मृत्यन्तरे प्रोक्षणमुक्त—‘भूमौ निक्षिप्य प्रोक्षणाद्द्रव्यं शुद्धयति’ इति तदभ्यवहार्यपक्षद्रव्यविषयमेव द्रष्टव्यम् । कथं पुनस्तुल्य-संहिते सूत्रे विशेषोऽवगम्यते—निधायाचमनं न पुनरनिधायेति । उच्यते—यद्यनिधायाचमनमिष्टं स्यात्ततो ‘द्रव्यहस्त उच्छिष्ट आचामेत्’ इत्येतावदेव वक्तव्यं स्यात्, किं निधानेन क्रियत इति, ततः सूत्रातिरेकान्निधानपक्ष एवाभीष्ट इत्यवगम्यते । यत्तु मनु-नोक्त—

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंच न ।

अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तश्शुचितामियात् ॥ इति ॥

तदनभ्यवहार्यद्रव्यविषयं द्रष्टव्यम् । एवंचाभ्यवहार्यद्रव्यस्याप-
क्वस्य कदलीफलादेः निधानमात्रादेव शुद्धिः । पक्वस्य भूमौ
निक्षिप्य प्रोक्षणाच्छुद्धिः । अनभ्यवहार्यद्रव्यस्य वस्त्रादेरनिधा-
याचमनाच्छुद्धिः ॥

इदानीं द्रव्यशुद्धिमाह—

द्रव्यशुद्धिः परिमार्जनप्रदाहतक्षणनिर्णेजनानि
तैजसमार्त्तिकदारवतान्तवानाम् ॥ ३१ ॥

तैजसादीनां द्रव्याणां परिमार्जनादिना क्रमेण शुद्धिः ।
द्रव्यत्वे सिद्धे तेषां द्रव्यवचनं स्वकार्यनिष्पादनसामर्थ्यार्थम् ।
ततश्च भिन्नभाण्डादीनां न शौचम् । तेजसा हेतुभूतेन यानि
क्रियन्ते तानि तैजसानि सौवर्णादीनि । तेषां तैजसानामुच्छिष्ट-
लिप्तानाम् । कुत एतत्? सूत्राद्युपहतानां स्मृत्यन्तरे शुद्ध्यन्त
रविधानात् । तथा चौशनस—‘तैजसानां मूत्रपुरीषरेतःकुणपो-

पहतानां आवर्तनमुल्लेखन भस्मना त्रि सप्तकृत्व. परिमार्जनम् ।
 अतैजसानामेवभूतानामुत्सर्गः' इति । तथा अन्यशरीरमलदू-
 षिते कण्ववचनमारब्धम् — 'श्लेष्माद्युपहतानामेकविंशतिपरिमा-
 र्जनाच्छुद्धिः' इति । तथाचास्पृश्योच्छिष्टानामौशनसं वचन सग-
 तमारब्धम् — 'अनुलोमशूद्रश्वकाकोपहतानामुल्लेखनं प्रतिलोमेषु
 स्पृश्योपहतानामेकविंशतिपरिमार्जनमस्पृश्योपहतानामावर्तनम्' इ-
 ति । तथा मांससूत्रिरोपहतानां शङ्खवचनमारब्धं — 'मृदरिष्टकेङ्गुद-
 बिल्वसर्षपकल्कगोमूत्रगोमयादीनि शौचद्रव्याणि' इति । तथा
 'रजस्वलादुष्टानामेकदिन पञ्चगव्ये निक्षिप्य एकविंशतिपारेमार्ज-
 नाच्छुद्धिः' इति पैठोनसिवचनम् । एवमन्येष्वपि स्मृत्यन्त-
 रेणु मलान्तरदूषितेषु तैजसेषु शुद्ध्यन्तराण्याम्नातानि । अतोत्रो-
 च्छिष्टलिप्तानामेव कल्पयितुं न्याय्यमिति । तेषामुच्छिष्टलिप्तानां
 परिमार्जनं भस्मना परितः सर्वतः । मार्त्तिकानां मृन्मयानाम-
 स्पृश्योपहतानाम् । कुत ? स्मृत्यन्तरे विशेषदर्शनात् । तथो-
 शनसो वचन — 'मृन्मयानामुच्छिष्टलिप्तानामपमार्जनमुच्छिष्टस्पृ-
 ष्टानां प्रोक्षणम्' इति । तथा वसिष्ठवचनम्—

मद्यमूत्रपुरीषैश्च श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः ।

सस्पृष्ट नैव शुद्धयेत पुन पाकेन मृन्मयम् ॥

इति मद्यादिदूषितानां त्याग उक्तः । अतोत्र चण्डालाद्युपहताना-
 मेव कल्पयितुं न्याय्यमेति । प्रदाहः प्रकर्षेण दाहः पूर्वस्वभा-
 वोत्पादनमित्यर्थः । दारवाणां आसनशयनादीनां अमेध्याद्युपह-
 तानां तक्षण तनूकरण यावन्मात्रमुपहतम् । अस्पृश्यस्पृष्टानां
 प्रोक्षणम् । कुत ? 'प्रोक्षणं सहतानाम्' इति मनुवचनात् ।
 प्रक्षालनशक्यानां प्रक्षालनम् । तान्तवानां तन्तुमयानां कार्पासा-

दिविकाराणां अस्पृश्यदूषितानाम् । मलदूषितं स्मृत्यन्तर द्रष्ट-
व्यम्—‘धावनं तन्मात्रच्छेदनमुत्सर्गः’ इति । ‘वेलादीनां मला-
दिदूषितानाम्’ इति पैठीनसिवचनम् । तथा ‘श्रीफलं शुपट्टा-
नाम्’ इत्येवमादीनि मनुनोक्तानि द्रष्टव्यानि, अस्पृश्यदूषितानां
बहूनां वस्त्राणां प्रोक्षणम् ‘बहूनां धान्यवाससाम्’ इति मनुना
प्रोक्षणेनैव शुद्धिविधानात् । अतोल्पानामस्पृश्यदूषितानां निर्णे-
जनम् ॥

तैजसवदुपलमणिशङ्खशुक्तीनाम् ॥ ३२ ॥

तैजसवच्छुद्धिरुपलादीनाम् । अतिदेशः स्मृत्यन्तराक्तशु-
द्धयेपक्षार्थः । उपलानां मणीनां तावच्छ्रूयते —

निर्लेप काञ्चन भाण्डं अद्विग्वं विशुद्ध्यति ।

अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥

शङ्खशुक्तिमणीनां च गोमूत्रेणोदकेन वा ॥

इति मनुवचनम् । ‘पयसा शङ्खशुक्तीनाम्’ इति पैठीनसिव-
चनम् ॥

दारुवदस्थिभूम्योः ॥ ३३ ॥

अस्थि हस्तिदन्तादिसव्यवहार्यद्रव्याणि । भूमिः गृहादि
दारुवदिति प्रकृतिद्रव्येणातिदेशः ब्रुवन् एतत् ज्ञापयति—यत्
विकारस्य शौचमुच्यते प्रकृतिद्रव्यस्यापि तदेव भवतीति । इत-
रथा दारुवदिति वक्तव्यमासीदिति । अस्थिभूम्योः स्मृत्यन्त-
रोपदिष्टापेक्षार्थोऽतिदेशः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—‘अस्पृश्य-
स्पृष्टानां भूम्यस्थानां प्रोक्षणाच्छुद्धिः’ इति कण्ववचनम् ॥

आवपनं च भूमेः ॥ ३४ ॥

• भूमिग्रहणमास्थितिवृत्त्यर्थम् । चकारात् स्मृत्यन्तरोक्तान्य-
पि द्रष्टव्यानि । तथाचोक्तं वसिष्ठेन—

खननादहनाद्धर्षात् गोभिराक्रमणादपि ।

चतुर्भिश्शुद्धयते भूमिः पञ्चमाच्चोपलेपनात् ॥

इति । तथा च मनु —

सम्मार्जनेन सेकेन दाहेनोल्लेखनेन च ।

गवां च परिवासेन भूमिश्शुद्धयति पञ्चभिः ॥

इति । यथालेप विकल्पेन समुच्चयेन वा शौच कर्तव्यम् ॥

चेलवद्रज्जुविदलचर्मणाम् ॥ ३५ ॥

रज्जु. दर्मादिनिष्पन्न. । विदल. वंशमयूरपक्षादिनिष्पन्नः
चर्म व्याघ्रचर्मादि तेषामस्पृश्यस्पृष्टानां चेलवत् वस्त्रवच्छौचम् ।
चर्मशब्देन प्रकृतिग्रहणेन विकारस्यापि ग्रहणम् । रज्ज्वादीनां
प्रोक्षणस्यापि प्रवेशार्थमतिदेश. । अतोस्पृश्यस्पृष्टानां प्रोक्षण-
मपि कर्तव्यम् । तथा च पैठनसिः—‘रज्जुविदलचर्मणामस्पृ-
श्यस्पृष्टानां प्रोक्षणाच्छुद्धिः’ इति ॥

उत्सर्गो वाऽत्यन्तोपहतानाम् ॥ ३६ ॥

• रज्ज्वादीनां त्यागो वा । व्यवस्थितविकल्पोऽयम् । अतोऽ-
त्यन्तोपहतानां त्यागः । इतरेषां शौचमिति ॥

इदानीं ‘द्रव्यहस्त उच्छिष्टो निधायाचामेत्’ इत्युक्तं,
तदाचमनविधित्सयाऽऽह—

प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा शौचमारभेत ॥ ३७ ॥

प्राङ्मुख उदङ्मुखो वेतीच्छातो विकल्पः । ननु न्न शौचं ग्रहणमनर्थकम्, उत्तरत्राचामोदति वक्ष्यति, तेनैवार्थसिद्धत्वादिति । उच्यते—अन्यदपि शौचाङ्गमेतद्दिगाभमुख एव कुर्यादिति । एव च पादप्रक्षालनादिकमपि तद्दिगाभिमुख एव कुर्यादिति । आरभेतेति समाहितार्थम्, अतो यावदाचमनपरिसमाप्तिः तावन्तं कालमनन्यचित्तो भवेत् ॥

शुचौ देशे आसीनो दक्षिणं बाहुं जान्वन्तरा
कृत्वा यज्ञोपवीत्या मणिवन्धात्पाणी प्रक्षाल्य
वाग्यतो हृदयस्पृशस्त्रिभुवनं ततश्च आ-
चामेत् ॥ ३८ ॥

शुचौ देशे स्थाने अनुपहते । एव च पादप्रक्षालनमप्यर्थसिद्धं मा भूत् अशुद्धिपादसम्बन्धाद्देशस्याप्यशुचिभाव इति । तथा च वसिष्ठः—‘प्रक्षाल्य पादौ पाणौ च मणिवन्धनात्’ इति । आसीन एव, नान्यावस्थः । तथाच वसिष्ठः—‘व्रजन् तिष्ठन् शयानं प्रणतो वा नाचामेत्’ इति । दक्षिणं बाहुं जान्वोर्मध्ये कृत्वा । यज्ञोपवीतोति । यदि कदाचित् अयज्ञोपवीती भूत्वाऽप्यास्ते तथाऽप्याचमने अवश्यं यज्ञोपवीतिना भावितव्यमिति । तथा चापस्तम्बः—‘उपासने गुरुणां वृद्धानामातिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजन आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यात्’ इति । आचमनाङ्गत्वेनान्ययज्ञोपवीतोत्पादनार्थं वा । तथा च वसिष्ठः—

स्नानकानां तु नित्यं स्यादन्तर्वासस्तथोत्तरम् ।

यज्ञोपवीते द्वे याष्टि सोदकश्च कमण्डलु ॥ इति ॥

मणिर्यस्मिन्देशे बध्यते स मणिवन्धः । तस्मादामणिवन्धनात्पा-
णी प्रक्षाल्य वाग्यतस्तूष्णीं हृदयस्पृशो हृदयगमाः । अपांपरिमा-
णार्थमिदम् । माषनिमज्जनमात्रास्तावत्यो भवन्ति । तथाचाहोशना
'माषनिमज्जनमात्रा हृदयंगमा भवन्ति' इति । त्रिश्चतुर्वैत्य-
त्र विंकलपो व्यवस्थित — यदा 'आप. पुनन्तु' इत्यादिमन्त्रमु-
क्त्वाऽऽचम्यते तदा चतुः अन्यत्र त्रिरिति । अब्ग्रहणं गोमू-
त्रादिनिवृत्त्यर्थं, तेषां शुद्धिहेतुत्वसामान्याद्ग्रहणं मा भूदिति ।
उष्णबुद्बुदफेनकषायादिवर्जनार्थं वा । पिबेदिति वक्तव्ये आचा-
मेदिति गुरुसूत्रकरण विध्यन्तरोपसङ्ग्रहार्थम् । तत्र तूशनाऽऽ-
ह—'दक्षिणं हस्ततलं गोकर्णाकारं विन्यस्य ब्राह्मेण तीर्थेनाश-
ब्दं पिबेद्द्व्यङ्गुस्सामवेदान् ध्यायन्' इति ॥

द्विः परिमृज्यात् ॥ ३९ ॥

प्रकृताबोष्ठौ, अत्रानुक्तत्वात्, स्मृत्यन्तरदर्शनाच्च, ब्राह्मेणैव
तीर्थेन । परीत्युपसर्गो विध्यन्तरोपसङ्ग्रहार्थः । तत्र तूक्तं कण्वेन—
'अथर्ववेदेतिहासपुराणानि ध्यायन् ब्राह्मेण तीर्थेनोष्ठयोः सलो-
मप्रदेशं मृज्यात्' इति ॥

पादौ चाभ्युक्षेत् ॥ ४० ॥

चकारात् मुखं च । अभ्युपसर्गो विध्यन्तरोपसङ्ग्रहार्थः ।
तत्राह भार्गवः—'ओष्ठौ परिमृज्यात्ततो मुखं परिमृजेदग्नन्ध्यायं-
स्ततः पादावभ्युक्षेत् विष्णुं ध्यायन्' इति ॥

खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि ॥ ४१ ॥

खानि शीर्षण्यानि नयननासिकाकर्णानि । चकाराद्धृदयं च । तथाच मनु —

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विरुन्मृज्यात्ततो मुखम् ।

खानि चोपस्पृशेदद्भिरात्मानं हृदयं शिरः ॥ इति ॥

उपोपसर्गो विध्यन्तरोपसंग्रहार्थः । तत्रोशना — ‘अङ्गुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यां नयने चन्द्रादित्यौ ध्यात्वा तत उपस्पृश्य तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकावकाशौ प्राणान् ध्यात्वा तत उपस्पृश्य कनिष्ठिकाङ्गुष्ठाभ्यां कर्णौ दिशौ ध्यात्वा तत उपस्पृश्याङ्गुष्ठेन केवलेन हृदयमुपस्पृशेदात्मानं ध्यायन्’ इति ॥

मूर्धनि च दद्यात् ॥ ४२ ॥

मूर्धनि चेति वक्तव्ये दद्यादिति ग्रहणं सर्वाङ्गुलार्थम् । तथाच स्मृत्यन्तरं ‘सर्वाङ्गुलिभिः श्रियं ध्यान्वा मूर्धनि प्रक्षिपेत्’ इति । चकारात्सव्ये च पाणौ । तथा च वसिष्ठः — ‘मूर्धनि च दद्यात्सव्ये पाणौ’ इति । क्षत्रियवैश्ययोरप्येतदेवाचमनविशेषानभिधानात् ‘स्त्रीशूद्रौ च सकृत्सकृत्’ इति स्मृत्यन्तराभिधानात् स्त्रीशूद्रयोश्च सकृत्पानात् सकृदोष्ठस्पर्शनाच्च शुद्धिर्द्रष्टव्या अत्रानुक्ताऽपि ॥

न केवलमुच्छिष्टस्पर्श एवाचमनं, अन्यदप्याचमननिमित्तमिदानीमाह—

सुप्ता भुक्त्वा क्षुत्वा च पुनः ॥ ४३ ॥

पुनर्ग्रहणं आदावन्ते चाचमनं कुर्यादित्येवमर्थम् । चका-

रात् स्नात्वा रुदित्वा च । तथा च वसिष्ठः—‘सुप्त्वा भुक्त्वा
श्रुत्वा स्नात्वा पीत्वा रुदित्वा चाचान्त. पुनराचामेत्’ इति ॥

तत्र* श्रुतस्यानियतकालत्वात् आदावशक्यमाचमनमिति
चेत् तत्रापि नित्यप्रायसार्थ आरम्भ. । यथाऽऽहापस्तम्ब. —
‘मुहूर्तमपि शक्तिविषये नाप्रयतस्तिष्ठेत्’ इति । स्वापादौ प्रयत-
स्याप्याचमनमारम्भसामर्थ्यात् । अतस्तत्रादावन्ते चाचमनं कुर्यात्
इत्र भोजने केचिदादावपि द्विराचमनमिच्छन्ति । तथाचापस्तम्बः
‘भोक्ष्यमाणस्तु प्रयतो द्विराचामेत्’ इति । अन्ये स्वापादावन्त
एव द्विराचमनमिच्छन्ति यथाऽऽहोशना—

‘सुप्त्वा भुक्त्वा श्रुत्वा स्नात्वा पीत्वा रुदित्वा चाचान्तः
पुनराचामेद्भि’ इति । एव च भोजने आदावन्ते च द्विराचमनं
स्वापादावेकपन्ते च द्विः । श्रुतस्यानियतत्वादन्त एव द्विरिति
सिद्धान्तः ॥

इदानीनुच्छिष्टसंश्लेषे अशुचित्वे प्राप्ते आह—

दन्तश्लिष्टेषु दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात् ॥

दशनान्तरलम्बेषु भक्ष्यभोज्यावयवेषु दन्तवत् अनुच्छिष्टो
भवतीत्यर्थः । न चेज्जिह्वाया सस्पृश्यन्ते ॥

अत्रापि—

प्राक्च्युतेरित्येके ॥ ४५ ॥

सत्यपि जिह्वाभिमर्शने यावत् स्वस्थानान्न च्यवन्ति
तावच्छुचिरित्येके मन्यन्ते ॥

च्युतेष्वास्माववद्वियान्निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥ ४६

च्युतेषु आस्ये यज्जल तदास्त्राव तद्वद्विजानीयात् तन्नि-
गिरन् शुचिरेव भवति । आचमनशङ्का नास्तीत्यर्थः । एव चा-
स्त्रावमपि निगिरन् शुचिरेव भवति । कुत च्युतेषु "निगिरन्
शुचिरिते वक्तव्ये आस्त्राववद्विद्यादित्यारम्भात् । गौतमस्तु द-
न्तश्लिष्टानां सात जह्वाभिमर्शने अशुचिर्भवतीति । अन्यमत तु
प्राक्च्युतेरिति । सोऽय व्यवस्थितावेकल्प , कर्मानुष्ठानाधिकृ-
तस्याचमनमन्यस्य नेति ॥

यथोच्छिष्टावयवो बहिर्भूतः अशुचित्वमापादयति तद्वदा-
स्त्रावस्यापि प्राप्त आह—

न मुख्या विप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेदङ्गे
निपतन्ति ॥ ४७ ॥

मुखे भवा मुख्याः विप्रुष आस्त्रावावयवाः ते मन्त्रयमा-
णस्य विनिर्गता नाप्रायत्य जनयन्ति यद्यङ्गे स्तनोदरादौ न
निपतन्ति । निशब्दो निश्चयार्थः, अतो निश्चयेन यद्यङ्गे पतन्ति
तदानीमेवोच्छिष्ट जनयन्ति नाशङ्कामात्रेणेति । एव चोच्छिष्टा-
वयवो यत्रकुत्रचिन्निपतन्नुच्छिष्ट जनयति, आस्त्रावोऽङ्ग एवे-
ति सिद्धान्तः ॥

सर्वशौचार्थमिदमधुनोच्यते—

लेपगन्धापकर्षणे शौचममेध्यलिप्तस्य ॥ ४८ ॥

लेपगन्धयोरपनयने कृते अमेध्यलिप्तस्य अमेध्यसम्बद्धस्य
शुचित्वं भवति । अमेध्यशब्देन द्वादशमला उच्यन्ते, ॥

यथाऽऽह मनुः—

वसा शुक्लमसृज्ज्जा मूत्रविड्घ्राणकर्णविट् ।

श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मला ॥

अनभिव्यक्तगन्धानां श्लेष्मादीनां लेपमात्रदर्शनात् लेपग्रहणम् ।
मूत्रादीनां लेपानुपलब्धेर्गन्धमात्रोपलब्धेश्च गन्धग्रहणम् । शौ-
चाधिकारे पुनः शौचग्रहणं तैजसादीनामपि लेपगन्धापनयादेव
शौचमित्येवमर्थम् ॥

तत् केन कर्तव्यमित्यत आह —

तदद्भिःपूर्वं मृदा च ॥ ४९ ॥

तच्छौचमद्भिः पूर्वं ततो मृदा । चकारात्तत उभयेन ।
तद्ग्रहणं अन्नलेपस्यापि चूर्णादिना अपकर्षणार्थम् । तदद्भिर्मृदा
चेति वक्तव्ये पूर्वग्रहणं यत्र नातीव लेपो लक्ष्यते तत्राद्भिरेव
शौचमित्येवमर्थः, यथाऽऽह मनुः—

निलैपं काञ्चन भाण्डमद्भिरेव विशुध्यति ।

अब्जमश्ममय चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ इति ॥

अथवा यत्र यत्र शौचमुक्तं तत्र तत्राद्भिरेव शौचं प्रथमं का-
र्यमित्येवमर्थम् । यथा मृदा अद्भिरिति समुच्चीयते तथा भस्मा-
दिभिरपि समुच्चयार्थो विसमासः । तैजसादीनां द्रव्याणामुक्त-
त्वात् इदं शौचं शरीरावयवस्यामेध्यलितस्य द्रष्टव्यम् ॥

मूत्रपुरीषस्त्रेहुविस्रंसनाभ्यवहारसंयोगेषु च ॥

चकारः आचमनानुकर्षणार्थः । विस्रंसनं निरसनं, तत्
मूत्रपुरीषस्त्रेहूणां प्रत्येकं सम्बध्यते । अभ्यवहारसंयोगोऽभ्यव-
हार्यद्रव्योपयोगः । तस्यानमेध्यत्वात् लेपगन्धापकर्षणार्थ-

मभिधान, आचमनस्य 'सुप्त्वा भुक्त्वा' इत्यनेन सिद्धत्वात् लेपगन्धपकर्षणं च मृत्सलिलप्रक्षालनेन कुर्यात् । एवं च 'तदद्भि पूर्वम्' इत्या यदुक्त चूर्णादिना अन्नलेपापकर्षणं तेनाशक्यमिदं द्रष्टव्यम् । अथवा—अभ्यवहारसयोगस्यापि आचमनार्थ एवोपन्यासः । 'सुप्त्वा भुक्त्वा' इत्यनेनैव सिद्धमनूद्यते क्रमार्थम्, कथं—तद्ग्रहणेनान्नलेपापकर्षणमुक्तं तदपकर्षणं पूर्वं कृत्वा तत आचामादित्येवमर्थ, अन्यथा सन्देहः स्यादिति । तथा चापस्तम्बः - 'मूत्रं कृत्वा पुरीषं वा मूत्रपुरीषलेपानन्नलेपानुच्छिष्टलेपान् रेतसश्च ये लेपास्तान् प्रक्षाल्य पादौ चाचम्य प्रयतो भवति' इति । मूत्रपुरीषौ प्रसिद्धौ । स्नेहः रेतः । मूत्रादीनामाचमनार्थमुपन्यासः, लेपगन्धपकर्षणस्य 'लेपगन्धपकर्षणे शौचम्' इत्यनेनैव सिद्धत्वात् ॥

यत्र चास्नायो विदध्यात् ॥ ५१ ॥

तत्र तदेव भवतीति शेषः । आस्नायो वेदः, स यत्र यज्ञविषये स्फयादीनां प्रक्षालनमात्रादेव शुद्धिं विदध्यात् तत्र तदेव, न दारुसामान्येन तक्षणादि । अतुल्यबलत्वादेवेदं सिद्धमिति चेत् श्रुत्युक्तस्य लौकिके अननुप्रवेशनार्थं उपन्यासः, यथा दर्व्या यागविषये श्रुत्या प्रक्षालनेन शुद्धिरुक्ता, तस्या लौकिके व्यापृताया अपि दर्वीसामान्येन श्रुत्युक्ता मा भूत् स्मृत्युक्तागैव कुर्यादित्येवमर्थमुपन्यासः । अथवा—आस्नायशब्देन मनुरुच्यते । स यत्र शौचं विदध्यात् तत्र तदेव, यथा 'यतीनां तु चतुर्गुणम्' इत्यादि । तदुक्तत्वादेवासन्देहः इति चेत् उच्यते—यस्मिन्विषये न किञ्चिदुच्यते तत्र स्मृत्यन्तरोक्तं भवति । यत्र लेपगन्धपकर्षणादि किञ्चिदुच्यते तत्र स्मृत्यन्तरेण

विकल्पशङ्का भवतीति तन्निरासार्थमुक्तं 'यत्र चाम्नायो विद-
भ्यात्' इति । एवञ्च लेपगन्धापकर्षणे कृतेऽपि 'द्विगुण ब्रह्म-
चारिणः' इत्येवमाद्याश्रयणीयम् ॥

इदानीं कृतशौचस्य ब्रह्मचारिणोऽध्ययनार्थं गुरूपसदन-
विधिमाह—

पाणिना सव्यमुपसङ्गृह्यानङ्गुष्ठमधीहि भो इ-
त्यामन्त्रयेत गुरुम् ॥ ५२ ॥

पाणिना दक्षिणेन सव्यं पाणिमनङ्गुष्ठमङ्गुष्ठवर्जितं गृहीत्वा
अधीहि भो इति प्रार्थयेत गुरुमध्यापकम् । पाणिग्रहण पाद-
निवृत्त्यर्थम् । पाणिप्रकरणात्सव्यमपि पाणिमेवेति गम्यते । उ-
पसङ्गहणं अङ्गुलिप्रदेशे इति गम्यते, अनङ्गुष्ठमित्युक्तत्वात् ॥

किञ्च—

तत्र चक्षुर्मनाः ॥ ५३ ॥

तत्र गुरौ चक्षुर्मनसी व्यवस्थापयेदित्यर्थः ॥

किञ्च—

प्राणोपस्पर्शनं दर्भैः ॥ ५४ ॥

कार्यमिति शेषः । साक्षात्प्राणानामुपस्पर्शनासम्भवात् प्राण
इति चक्षुरादीन्द्रियाणि शीर्षण्यान्युच्यन्ते । तान्युपस्पर्शयेद्-
र्भैराचमनोक्तेन क्रमेण ॥

किञ्च—

प्राणायामास्त्रयः पञ्चदशमात्राः ॥ ५५ ॥

कार्या इति शेषः । प्राणायामः प्राणनिरोधः, निरुच्छ्वासेनावस्थानं, ते त्रयः कार्याः । प्रत्येकं पञ्चदशमात्रा । मात्रा नाम मध्यमादुष्टशब्देन लोके प्रसिद्धा ॥

किञ्च—

प्राक्कूलेष्वासनं च ॥ ५६ ॥

प्रागग्रेषु, प्रकर्णादग्नेषु, आसनमुपवेशनं, कार्यमिति शेषः । चकारात् दर्भपवित्रपाणिश्च ॥

किञ्च —

ओंपूर्वा व्याहृतयः पञ्च सत्यान्ताः ॥ ५७ ॥

उदाहर्तव्या इति शेषः । प्रत्येकं प्रणवपूर्वा भूराद्यास्तिस्रः पुरुषमध्याः सत्यान्ताः । एवं जाबालिश्रुतौ प्रसिद्धः ॥

किञ्च—

गुरोः पादोपसङ्ग्रहणं प्रातः ॥ ५८ ॥

कार्यमिति शेषः । उपसङ्ग्रहणमिति वक्तव्ये पादग्रहणं स्मृत्यन्तरोपदिष्टविध्युपसङ्ग्रहार्थम् । यथाऽऽह मनुः—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः ।

सव्येन सव्यः स्पृष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः ॥ इति ॥

प्रातरुत्थायोत्थाय प्रतिदिनम् । गुरुग्रहणं आत्मनो मा भूदिति । ततः पूर्वं प्राणोपस्पर्शनमात्मनः ॥

किञ्च—

ब्रह्मानुवचने चाद्यन्तयोः ॥ ५९ ॥

वेदपाठस्याद्यन्तयोः आरम्भावसानयोः । चक्रारः षादो-
पसङ्ग्रहणानुकर्षणार्थः ॥

किञ्च —

अनुज्ञात उपविशेत्प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य
उदङ्मुखो वा ॥ ६० ॥

- आचार्येणादिष्ट तस्य दक्षिणस्यां दिशि प्राङ्मुख उदङ्मुखो
वोपविशेत् सभवतो विकल्प आसीनस्याचार्यस्य यथा तद-
भिमुखो भवति तथा प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा उपविशेदित्यर्थः ।
कथं ? 'तत्र चक्षुर्मना.' इत्युक्तत्वान् । शिष्यग्रहणमन्यस्या-
प्युपसन्नस्यायमेव विधिरिति ज्ञापनार्थम् । 'अनुज्ञातो दक्षिणतः'
इति च नियमार्थः, नाननुज्ञात उपविशेन्नादक्षिणत इति ॥

किञ्च—

सावित्री चानुवचनमादितो ब्रह्मण आदाने ॥

सावित्री तत्सवितुस्त्यादि । चकारादोङ्कारपूर्वा व्याहृत-
यश्च । तथाच मनु.—

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।

त्रिपदा चैव गायत्री विज्ञेया ब्रह्मणो मुखम् ॥ इति ॥

अनुवचनमध्येतव्यम् । ब्रह्मणो वेदस्यादाने आरम्भे अध्य-
यनारम्भकाल इत्यर्थः । आदितः पूर्वम् ॥

किञ्च—

ओङ्कारोऽन्यत्रापि ॥ ६२ ॥

अनुवचनानन्तरं ओङ्कारश्चोदाहर्तव्यः अन्यत्रापि । अत्र क्रम-
 प्रातरुत्थाय पादोपसङ्ग्रहणं, तदाहूत उपविशेत् दर्भेषु, तत-
 प्राणोपस्पर्शनं दर्भैः, ततः प्राणायामान्कृत्वा महाव्याहृतीः पञ्च
 उक्त्वा, अञ्जलिना 'अधीहि भोः' इति गुरुमामन्त्रय, ओङ्का-
 रपूर्विका व्याहृतीः सावित्री चोक्त्वा प्रणवपूर्वमधीयीत । प्रथ-
 माध्ययन एवायं विधिः, कुत ? सावित्री चानुवचनं ततोऽ-
 धीयीतेति वक्तव्ये आदितो ब्रह्मण आदान इत्यारम्भात् । प्रति-
 दिवसमोङ्कारमेवोक्त्वा । कुतः ? ओङ्कारोऽन्यत्रेत्युक्तत्वात् । अन्यत्र
 प्रथमाध्ययनादन्यत्र । अपिशब्दः प्रथमाध्ययनेऽपि प्रणवप्रवेश-
 नार्थः । केचिदन्यत्राप्येतेनाङ्गादौ प्रणवमिच्छन्ति ॥

अन्तरागमने पुनरुपसदनम् ॥ ६३ ॥

यद्यधीयतामन्तरा मध्ये कश्चिद्गच्छेत्ततः पुनरपि पादोपसङ्ग्र-
 हणादिप्रणवोच्चारणान्तो यो विधिस्तं कुर्यात्तस्य प्रायश्चित्तार्थम् ।
 अप्रकरणेऽपि प्रायश्चित्तमानन्तर्येणानुष्ठानार्थम् । मानुषाणां गमन
 एतत्, इतरेषामूर्ध्वमभिधानात् । अत्रानध्यायश्रवणाभावात् प्रा-
 यश्चित्तानन्तरमधीयीत । प्रथमाध्ययनापेक्षया पुनर्ग्रहणम्, अन्य-
 त्रोपसदनाभावात् । अतोऽन्यत्र प्रायश्चित्तार्थमेवोपसदनं कर्तव्यं
 तदनन्तरमध्ययनं कर्तव्यम् । तथाऽऽहापस्तम्ब - 'अधीहि भो
 इत्युक्त्वाऽधीयीताध्यापयेद्वा' इति ॥

किञ्च—

श्वनकुलसर्पमण्डूकमार्जारिणां त्र्यहमुपवासो
 विप्रवासश्च ॥ ६४ ॥

एते प्रसिद्धाः । श्वादीनां प्रत्येकमन्तरा मनगे ज्यह भक्त-
त्यागः प्रायश्चित्तं, विप्रवासो गुरुणा विरहितस्यावस्थानमेका-
हंम् । एवं च गुरुविप्रयोगोपदेशादेव एकाहमनध्यायसिद्धिः ।
कुत एकाहोपलब्धिरिति चेत्, विसमाप्तात् । अन्यथा ज्यहमुप-
वासविप्रवासौ चेत्यवश्यत् । अत एकाहमेवानध्यायः । तथा
च मनुः—

- पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलेषु च ।
अन्तरा गमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ इति ॥

एव चात्रापि श्वग्रहण चतुष्पदां पशूनामुपलक्षणम् ।
चतुष्पाद्ग्रहणेन गृह्यमाणत्वात् मार्जारस्य पुनरुपन्यासः प्राय-
श्चित्तगौरवार्थः । यथाऽऽहोशना—‘मार्जारान्तरागमने घृतं प्राश्य
ज्यहमुपवसेत्’ इति । उपसदनानुकर्षणार्थश्चकारः । अतोऽध्ययन-
काले तत्कृत्वाऽधीयीत । केचिदुपवासमध्ययनत्यागमाहुः । तद्यु-
क्तमयुक्तं वेति विचार्यम् ॥

किञ्च—

प्राणायामा घृतप्राशनं चेतरेषाम् ॥ ६५ ॥

इतरेषां काकादीनां प्राणायामास्त्रयः, बहुवचनश्रवणात् ।
घृतप्राशनं कायाप्लवनमात्रम् । उपसदनानुकर्षणार्थः चकारः ।
ततस्त्रीन्प्राणायामान् धारयित्वा घृतं प्राश्योपसदनं च कृत्वाऽ-
धीयीत, अनध्यायाश्रवणात् ॥

श्मशानाभ्यध्ययने चैवं श्मशानाभ्यध्ययने
चैवम् ॥ ६६ ॥

आपस्तम्बेन सर्वतश्शम्याप्रासान्नाधीयीतेत्युक्तम् । तस्मात्त-
त्समीपेऽध्ययन इमशानाध्ययनम् । अभ्युपसर्गो बुद्धिपूर्वसूच-
नार्थः । ततोऽबुद्धिपूर्वे अन्यत्रायश्चित्तं लघुतर द्रष्टव्यम् ।
तथा चाहंशना—‘ अनभिसन्ध्या इमशानाभ्यध्ययनेऽधीहि भो
इत्युक्त्वाऽधीयीत ’ इति । चकारादनन्तरोक्तस्य प्रणायामादेः
सर्वस्य प्राप्तौ एवशब्देन अनन्तरोक्तस्योपसदनस्यैव प्राप्ति-
क्रियते । तर्ह्येवंशब्द एव वक्तव्य इति चेत् न, उभयसकाश-
एवायमर्थो लभ्यते । कथं ? एवंशब्दे चशब्दे वा वक्तव्ये
उभयपाठस्य प्रयोजनान्तरं कल्पयितुं न्याय्यं, न ह्येकस्यैवेति ।
अत उपसदनमेव कर्तव्यम् । तथाच स्मृत्यन्तरं—‘ इमशान-
समीपेऽधीत्य प्राणान् धारयेत् प्राणोपस्पर्शनमभिवादनं सावि-
त्र्यनुवाचनं ’ इत्यादि । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था । उक्तमिदं
सर्वं प्रायश्चित्तं शिष्यस्यैव, तदर्थत्वादध्ययनप्रभृतेः । किञ्च—
सर्वत्र सोपसदनमेव प्रायश्चित्तं, उपसदनं त्वभिवादनादि, तद-
भिवादनमाचार्यस्य न सम्भवतीति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥

द्विजानामुक्तमुपनयनम् । तेषामुपनयनात्प्रागपि कैश्चिद्वर्ण-
धर्मैरधिकार इष्यत इति तदर्थमाह—

प्रागुपनयनात्कामचारवादभक्षः ॥ १ ॥

ननु च प्रागेवोपनयनादेतद्वक्तव्यं, तत्र प्रागुपनयनादित्ये-
तन्न वक्तव्यं भवति ॥

उच्यते—सत्यमेतत् । किन्तु उपनयनस्यादावभिधाने प्र-
योजनमुक्तम् । नानेन विधीयते, अर्थप्राप्तत्वात् । न च नि-
यम्यते, अवश्यकर्तव्याभावात्, 'उपनयनादिर्नियमः' इति व-
क्ष्यमाणत्वात् पाक्षिकत्वाभावाच्च । नापि परिसङ्ख्या, निवर्त्या-
भावात् । न ह्यस्याकामचारित्वादिकं प्राप्तम् । अतः इदं सूत्र-
मनुवादकं प्रायश्चित्तराजदण्डाभावज्ञापनार्थं, तयोः सामान्येनो-
पदिष्टत्वात् ॥

ननु च राजदण्डप्रायश्चित्तानि च विहिताकरणे निषिद्ध-
सेवने वा विधीयन्ते । न चास्य विधिप्रतिषेधाभ्यामधिकारः ।
न चास्य विधिः प्रतिषेधो वा श्रूयत इति । न त्वस्याहुता-
त्वादि विधायिष्यते प्रतिषिध्यते वा, यद्व्यतिक्रमे उभयं भवि-
ष्यतीति, पित्रादीनामुपदेशात् । अत इदं सूत्रमनर्थकमिति ॥

अत्रोच्यते—यद्विहिताकरणे प्रतिषिद्धसेवने वा प्रायश्चित्त
मुक्तं राजदण्डो वा तदुभयमस्यापि प्राप्नोत्येव । यद्यप्यस्यैवो-
द्देशेन विधिः प्रतिषेधो वा न श्रूयते, तथाऽपि यत्तु सामा-
न्येनोक्त 'अहिंसा सत्यमस्तेयम्' इत्यादि, तद्वर्णधर्मत्वादस्यापि
प्राप्नोति । तद्व्यतिक्रमे राजदण्डप्रायश्चित्ते अपि भवतः । अतः
तन्निवृत्त्यर्थमनुवादस्वरूपं सूत्रमारब्धम् ॥

'उपनयनादिर्नियमः' इत्यनेन सूत्रेण उपनयनादारभ्य यो
विधिरुच्यते—तद्व्यतिक्रमे एव प्रायश्चित्तं नान्यव्यतिक्रमे इति
वक्ष्यमाणत्वात् । तेनैवास्यापि वर्णधर्मातिक्रमे प्रायश्चित्ताभा-
वो ज्ञातुं शक्यते, राजदण्डाभावोऽपि । तथाऽपि नित्योपनय-
नकालातीतस्य भिन्नबुद्धेः शक्तस्य एकादशवर्षादूर्ध्वं षोडशव-
र्षात्प्राक् प्रायश्चित्तार्धप्रवेशनार्थं, ततोऽर्वाक् पञ्चवर्षादूर्ध्वं पि-

त्रादीनां प्रायश्चित्तप्रवेशार्थं, तत अर्वागपराध्वाभावज्ञापनार्थं च सूत्रमारब्धम् । तथाच भार्गवीय—

अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनपोडशः ।

प्रायश्चित्तार्थमर्हन्ति स्त्रियो व्याधित एव च ॥

ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च ।

चरेत्सुहृद्गुरुश्चैव प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥

अतो बालतरस्याथ नापराधोऽस्ति कुत्र चित् ।

राजदण्डश्च तस्यातः प्रायश्चित्तं च नेष्यते ॥ इति ॥

एवं चोपनयनात्प्राग्यद्यपि सामान्येन कामचारित्वाद्युक्तं, तथाऽपि पञ्चवर्षात्प्रागेवात्यन्तकामचारिता, तत ऊर्ध्वं वर्णधर्मेषु नियोक्तव्यः पित्रादिभिः, तद्व्यतिक्रमे बालस्य सतः पित्रादीनां प्रायश्चित्तस्य श्रवणात् । अलमतिप्रसङ्गेन ॥

इदानीं सूत्रं विव्रियते—उपनयनात्प्राक्कामचार इच्छागतिः तस्माच्चण्डालस्पर्शनादौ प्रोक्षणमात्रं वक्ष्यति ‘अवोक्षणेभ्यः’ इति तदपि पञ्चवर्षात्प्रागेवेत्युक्तम् । अत ऊर्ध्वं चण्डालादिस्पर्शने स्नापयितव्यः । एकादशवर्षादूर्ध्वं स्वयमेव स्नायात् । एवं सर्वत्र । कामवादः अश्लीलाद्यपि वदति । कामभक्षः पर्युषिताद्यपि भक्षयति । पञ्चवर्षादूर्ध्वं वर्णधर्माविरोधीनि कारयितव्यानि । उपनयनात्प्रागित्यापत्कल्पोपनयनस्यापि ग्रहणम् । कुतः ? ब्रह्मचारीति लिङ्गात् । नित्यकालात्प्राक् ब्रह्मचर्यस्य स्थूलनासम्भवादेव सिद्धत्वात् ब्रह्मचर्यरक्षणोपदेशोऽनर्थकस्स्यादिति । कामचारस्योदाहरणं स्वयमेव वक्ष्यति ‘यथोपपादमूत्रपुरीषो भवति’ इति । अतोऽत्यन्तबालावस्थायामपि ब्रह्महत्यादेर्यत्नतो निवारयितव्यः । कामवादे अभिशसादौ कामभक्षणे सुरापा-

नादौ चात्यन्तवाल्यावस्थायामपि यत्नतो निवारयितव्यः, कामचार इत्यनेनैव सिद्धे वादभक्षणयो पुनरुपन्यासात् । उपनयनादिति वक्तव्ये प्राग्रहण नियमार्थं, उपनयनात्प्रागेव कामचारित्वादीति । असति नयमे 'उत्तरेषां चैतदविरोधि' इत्यनेन हुतशिष्टभक्षणवर्जनादि यतीनामपि प्राप्नोतीति ॥

इदानीं कामवादभक्षणस्थापवादमाह—

अहुताद्ब्रह्मचारी ॥ २ ॥

हुतं हुतशिष्ट चरुपुरोडाशादि, न वैश्वदेवशिष्ट, तस्य सर्वार्थत्वात् । तथाऽऽहोपस्तम्ब — 'सर्वान् वैश्वदेवे भागिनः कुर्वीत' इति । अहुतात्कार्य इति शेषः । अर्थप्राप्तस्य प्रतिषेधोऽयं पित्रादीनामुपदेशः, बालस्य विज्ञानाभावात् । एकादशवर्षादूर्ध्वं तस्यैवेत्युक्तम् ॥

ब्रह्मचारी ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्यरक्षणं कर्तव्यम् ॥

इदानीं कामचारस्यांदाहरणमाह—

यथोपपादमूत्रपुरीषो भवति ॥ ४ ॥

यथाऽपरिवृष्टितशिरसः कृष्ठादावपि मूत्रपुरीषाबुत्पद्येते तिष्ठन्तो वा तथा तत्रैव कुर्यादित्यर्थः ॥

किञ्च—

नास्याचमनकल्पो विद्यते ॥ ५ ॥

पञ्चवर्षादूर्ध्वमस्यैकादशवर्षात्प्राक् आचमनकल्पः आचमन-

विधिर्न विद्यते । कल्पप्रतिषेधात् आचमनमात्रमस्तीत्यवगम्यते । तत्र 'शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदेन जायते' इति स्मृत्यन्तरे शूद्रेण तुल्यधर्मश्रवणादाचमनं शूद्रवद्गृह्यम् । ऊनैकादशवर्षस्येति कुतः ? अम्येत्यारम्भात्, पञ्चवर्षात्प्राग्दोषाभावश्रवणात् एकादशवर्षादूर्ध्वं वर्णधर्मेऽधिकृतत्वाच्च । एकादशवर्षादूर्ध्वमाचमनकल्पोऽपि तस्य विद्यत एवेति गम्यते ॥

इदानीमितिवालस्याह—

अन्यत्रापमार्जनप्रधावनावोक्षणेभ्यः ॥ ६ ॥

अस्य न विद्यत इति वर्तते । अस्योनपञ्चवर्षस्यापमार्जनादिभ्यः अन्यत्र किञ्चिदपि शौचप्रकारः न विद्यत इत्यर्थः । अपमार्जनं भुक्तोच्छिष्टस्य सोदकेन पाणिना तदुच्छिष्टापनयनम् । प्रधावनं प्रक्षालनं मूत्रोच्चारादौ । अवोक्षणं चण्डालादिस्पर्शने प्रोक्षणम् । प्राप्त्यभावात् 'नास्याचमनकल्पो विद्यते । अन्यत्रापमार्जनप्रधावनावोक्षणेभ्यः' इति प्रतिषेधद्वयस्यानारम्भः प्राप्नोतीति चेत्, नैष दोषः, 'नास्याचमनकल्पो दितते' इत्यनेनोक्तोऽष्टादशवर्षस्याचमनकल्पो विधीयते ऊनैकादशवर्षस्य प्रतिषेधद्वारेण । 'अन्यत्रापमार्जनप्रधावनावोक्षणेभ्यः' इत्यनेन पुनः ऊनपञ्चवर्षस्यापमार्जनादि विधीयते अन्यशौचप्रतिषेधद्वारेणेति ॥

किञ्च—

न तदुपस्पर्शनादशौचम् ॥ ७ ॥

तद्गृहणेनाकृतशौचो गृह्यते । अकृतशौचस्पर्शनात्तेन वा स्पृष्टस्याशुचित्वं न भवति । आतेऽगलात्रिषयमेवैतत् ॥

तर्ह्यस्य शौचविधानमनर्थक, कुत ? द्वयमेव प्रयोजनं शौचविधानस्य दृश्यते इतरस्पर्शयोग्यार्थमनुष्ठानार्थं च । अस्य तु इतरस्पर्शयोग्यार्थं न भवति, अकृतशौचस्यापि स्पर्शयोग्यत्वात् । 'न तदुपस्पर्शनादशौचम्' इत्यनेन । अनुष्ठानार्थं च न भवति, अस्यानुष्ठानाभावादिनि ॥

नानर्थकं, रक्षार्थत्वाच्छौचविधानस्येति । तथाच स्मृत्यन्तरं—'बालस्यापश्चमाद्वर्षाद्वक्षार्थं शौचं कुर्यात्' इति ॥

अकृतशौचस्यास्यैव स्पर्शने दोषाभावज्ञापनार्थः उपशब्दप्रयोगः । एवं चान्येषामुच्छिष्टकृत मूत्रपुरीषाणां स्पर्शने आचमनं कर्तव्यम् । तत्स्पर्शने न दोषः शवस्पृष्टिसूत्रे परिगणितत्वात् । तथा स्मृत्यन्तरं—

अशुचि स्पृशते यस्तु एक एव हि दुष्यते ।

तं स्पृष्ट्वाऽन्यो न दुष्येत सर्वद्रव्येष्वयं विधिः ॥ इति ॥

चण्डालस्पर्शने तु शवस्पृष्टिसूत्रे वक्ष्यति । 'तमुपस्पृशेत्' इति वक्तव्ये 'न तदुपस्पर्शनादशौचम्' इति गुरुसूत्रकरण प्रागुपनयनादित्यत्र नियमस्यापि बाधनार्थम् । ततश्चोपनयनादूर्ध्वमप्युच्छिष्टकृतमूत्रपुरीषाणां स्पर्शने आचमनं कर्तव्यम् ॥

किञ्च—

न त्वेवैनमग्निहवनबलिहरणयोर्नियुञ्ज्यात् ॥८

• एनमिति सर्वस्यानुपनीतस्योपसङ्गहार्थम् । अग्नौ यत्क्रियते अग्निहोत्रहोमादि तत् अग्निहवनम् । वैश्वदेवोत्तरकाल दिग्देवताभ्यो यो बलिर्दीर्यते तद्वलिहरणम् । तुशब्दो विशेषवाची, अष्टकादौ ब्राह्मणपादप्रक्षालनादावपि न नियुञ्ज्यात्, विशेषतोऽ-

ग्निहवनबलिहरणयोरिति । कामचारित्वाद्यत्रकुत्रचिन्मन्त्रमग्नी-
त्याग्निहोत्रादौ यदि स्वयमेव प्रवर्तते तदा तं दृष्ट्वाऽनुमन्ताऽ-
पि न स्यादित्येवमर्थ एवशब्दः । उपनीतस्य नियोगार्थमिदं
वचनं, अन्यत्र प्राप्त्यभावात्प्रतिषेधस्य । एवं च 'विद्वानग्नि-
होत्रं जुहुयात्' इति यद्यपि श्रुत्या बहुश्रुतस्यैवाधिकारः, तथऽ-
पि तदसम्भवे अल्पविद्यमप्युपनीत नियुञ्ज्यात् । तथाच मनुः-

नैव कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥ इति ॥

तत्राल्पविद्यप्रतिषेधादेव प्रतिषेधे सिद्धे नासंस्कृत इति
प्रतिषेधोऽन्यस्य विदुषोऽभावेऽल्पविद्यस्यापि संस्कृतस्याभ्यनुज्ञा-
नार्थमिति प्रतिपादितम् । प्रागुपनयनादित्यादि यदुक्तं तत्स्त्रीणा-
मपि आविवाहाद्द्रष्टव्यम् । कुतः ? 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणा-
मौपनायनिकः स्मृतः' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । एव चाग्नि-
हवनबलिहरणयोः कन्याया अपि नियोगप्रतिषेधः सिद्धः । अतो
विवाहोत्तरकालं नियोगः कर्तव्यः । तत्र 'न स्त्री जुहुयात्'
इति श्रुत्याऽग्निहोत्रे प्रतिषिद्धत्वात् औपासनादौ द्रष्टव्यम् । तथा
च स्मृत्यन्तरं--'पत्न्यौपासनं जुहुयाद्वैश्वदेव च' इत्यादि । न
युवतिरिति प्रतिषेधश्च परदारविषेयत्वाददोषः ॥

किञ्च—

न ब्रह्माभिव्याहारयेदन्यत्र स्वधानिनयनात् ॥ १

एनमित्यनुवर्तते । ब्रह्मशब्देन वेदा उच्यन्ते । तस्मादेनं
नाध्यापयेत् । उपनीतस्योपाकरणादूर्ध्वं 'अधीयीत छन्दांसि'
इत्यनेन वेदाध्ययनावधानादेवानुपनीतस्य प्रतिषेधे सिद्धे वेद-

स्य पुन प्रतिषेधः वेद एव नाध्यापयितव्य इति नियमार्थः
ततश्चाङ्गाध्यापने न दोषः । कामचारित्वाद्येनकेनचित्प्रका-
रेण गृहीत मन्त्रमपि नोच्चारयेत् । कुतः ? अध्यापयेदित्यना-
रभ्याभिव्याहारयेदित्यारम्भात् । अन्यत्र स्वधानिनयनात्, स्व-
धानिनयन वर्जयित्वा । अमुष्मै स्वधेत्युक्त्वा यत्पिण्डोदकादि
प्रेतेभ्यो दीयते तत्स्वधानिनयनम् । तदपि प्रेतकर्मणः समस्त-
स्याप्युपलक्षणम् । तथाच वसिष्ठ — ‘अन्यत्रोदककर्मस्वधाषि-
त्संयुक्तेभ्यः’ इति । एवञ्च पुत्रेऽनुपनीतेऽपि सति सपिण्डा-
दिभिः प्रेतक्रिया न कर्तव्या, शास्त्रचोदनानर्थक्यप्रसङ्गो मा भू-
दिति ॥

अनुपनीतस्योक्त्वेदानीमुपनीतस्याह—

उपनयनादिर्नियमः ॥ १० ॥

उपनयनादारभ्य यो विधिरुक्तः स नियमसंज्ञो भवति ।
एव चास्याकरणे प्रायश्चित्तं न पूर्वस्य । अतो वा आरभ्य
नियमं व्रतधारणं यो वक्ष्यतेऽग्नीन्धनादिः स नियमः उपनयना-
दिः कर्तव्यः ॥

किञ्च—

उक्तं ब्रह्मचर्यम् ॥ ११ ॥

उक्तग्रहणं प्रागुपनयनान्नियम एवैतदिति । ततश्च तत्स्व-
लनेऽनुपनीतस्यापि अवकीर्णिप्रायश्चित्तेनैवाधिकारो द्रष्टव्यः ।
तथाच स्मृत्यन्तरं - ‘विप्लुतमवकीर्णिव्रतेन शुद्धमुपनयेद्वनस-
प्तदशवर्षं, अत ऊर्ध्वं ब्राह्म्यावकीर्णिव्रताभ्याम्’ इति । ब्रह्मचारि-

णस्तु स्त्रीप्रेक्षणादिप्रातिषेधार्थसिद्धमिति चेत्, न, पश्वादि-
ष्वपि सम्भवात् ॥

किञ्च—

अग्नीन्धनभैक्षचरणे ॥ १२ ॥

अग्नीन्धन समिद्धोमः । इतरत्प्रसिद्धम् । ते प्रतिदिनं कर्त-
व्ये । सहनिर्देशोऽनन्तरानुष्ठानार्थः । तथाच मनुः—

प्रतिगृह्योप्सित दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।

प्रदक्षिण परोत्याग्नि चरेद्भैक्ष यथाविधि ॥

इति । तत्रापि प्रदक्षिण परोत्याग्निमित्यनेन समिद्धोम उक्त
इत्युक्तम् । 'साय प्रातस्त्वन्नमभिपूजितमनिन्दन् भुञ्जीत' इति
द्विर्भोजनश्रवणात् साय प्रातः द्विरग्नीन्धनमपि द्रष्टव्यम् । तथा
च स्मृत्यन्तरम्—

दुरादाहत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि ।

सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥

इति । केचित्समिद्धोम सायमेवेच्छन्ति ॥

किञ्च—

सत्यवचनम् ॥ १३ ॥

सर्वत्र कर्तव्यक्रियाऽध्याहर्तव्या । वचनग्रहणमसदेहार्थं,
सत्यमपामुपस्पर्शनमित्येव सदेह स्यादिति । पृथग्रहण आतु
रस्याप्यनुष्ठानार्थम् । तत्रश्च पूर्वयोस्तन्न । तथाच मनुः—

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।

अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रत चरेत् ॥ इति ॥

किञ्च -

अपामुपस्पर्शनम् ॥ १४ ॥

अग्रहणं भस्मादीनामुपलक्षणम् । तथाच भृगुः—

स्नानानि पञ्च पुण्यानि कीर्तितानि महर्षिभिः ।

आग्नेय वारुण ब्राह्म वायव्यं दिव्यमेव च ॥

आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाहं तु वारुणम् ।

आपो हिष्टेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ॥

यत्तु स्यात्सातप वर्षं दिव्यं स्नानं तदुच्यते ।

अशक्तो वारुणे स्नाने आग्नेयादि समाचरेत् ॥ इति ॥

स्नानमिति वक्तव्य एवमभिधानं स्मृत्यन्तरोक्तस्नानविधेरु-
पसङ्ग्रहणार्थम् । एव च स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । उपशब्दोऽवि-
ज्ञातजलवर्जनार्थः । अग्नोन्धनभैक्षचरणयोः पृथग्रहणं भुक्तस्य नि-
त्यस्नानप्रतिषेधार्थं, न नैमित्तिकस्य । अतो नैमित्तिकं कर्तव्यम् । स-
त्यवचनस्य पृथग्रहणमातुरस्य नैमित्तिकस्यापि प्रतिषेधार्थम् ।
उपशब्दोऽर्धरात्रस्नानप्रतिषेधार्थः इति केचिद्वदन्ति । यदुक्तमत्र
तत्सर्वं मनुनाऽप्युक्तं—

न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।

न वासोभिस्सहाजस्त न विज्ञाते जलाशये ॥ इति ॥

एके गोदानादि ॥ १५ ॥

गोदानं नाम छन्दोगानां द्वितीयं व्रतं, अन्येषामपि षो-
डशे वर्षे धारयितव्यम् । तेषामपि षोडशे गोदानधारणं के-
चिदिच्छन्ति । तत आरभ्यैके स्नानमिच्छन्ति । गोदानात्
प्राक् नित्यस्नानं न कुर्यात्, नैमित्तिकमेव कर्तव्यम् । तत

ऊर्ध्वं नित्यस्नानमपीत्येके आचार्या इच्छन्ति । एक इति वचनात् न तु गौतमः ॥

बहिस्सन्ध्यत्वं च ॥ १६ ॥

एकेग्रहणानुवर्तनार्थश्चकार. । वहिर्ग्रामात्सन्ध्योपासनमेके इच्छन्ति । न तु गौतमः । एतदुक्तं भवति—ग्रामाद्वहिरेव सन्ध्योपासनं कर्तव्यमित्येकेषां मतं, बहिरभ्यन्तरे वा यत्र कुत्रचिच्छुद्धदेशे कर्तव्यमिति गौतममतम् ॥

इदानीं प्रसङ्गात् तत् सन्ध्योपासनं कदा कथं च कर्तव्यमित्यत आह—

**तिष्ठेत्पूर्वामासीतोत्तरां सज्योतिष्या ज्योतिषो
दर्शनाद्वाग्यतः ॥ १७ ॥**

वाग्यत इति स्थानासनयोः प्रत्येकं सम्बध्यते । यस्यामादित्य उदेति सा पूर्वा सन्ध्या । पूर्वसूत्रखण्डात् सन्ध्याशब्दोऽनुवर्तते । यस्यामादित्योऽस्तमेति सोत्तरा सन्ध्या । स्थानासने अत्र गुणभूते । उपासनमत्र प्रधानं कर्म । अतो यद्यपि तिष्ठेदित्युक्तं, तथाऽपि तिष्ठन्नुपासीत, आसीन उपासीतेति द्रष्टव्यम् । तथाच मनुः—

पूर्वा सन्ध्यां जपन् तिष्ठेन्नैशमेनो व्यपोहति ।

पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवा कृतम् ॥

इति । सज्योतिः कालः, पूर्वस्यां नक्षत्रज्योतिः । यः कालो नक्षत्रज्योतिषा सह वर्तते स सज्योतिः तस्मिन् सज्योतिषि काले आरम्भः कर्तव्यः । इतरस्यां तथा आदित्यज्योतिः । ततः

आ ज्योतिषो दर्शनात्—पूर्वस्यामादित्यदर्शनात् उत्तरस्यां नक्ष-
त्रदर्शनात् । आ ज्योतिष इति वक्तव्ये दर्शनग्रहणं सम्यग-
र्थम् । तथाच मनुः—

पूर्वा सन्ध्यां जःस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनान् ।

पश्चिमां तु समासीत सम्यगृक्षविभावेनात् ॥

इति । तस्मिन्नुपरमः कर्तव्य इत्यर्थः । अत्राङ्गभिविध्यर्थः,
*दीर्घसन्ध्यत्वस्याभीष्टत्वात् । तथाच मनुः—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।

प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ इति ॥

ननु च 'उत्तरेषां चैतदविरोधि' इत्यनेन स्नातकस्याग्नि-
मत एतन्न प्राप्यते, तस्याग्निहवनेनास्य कालस्यावरुद्धत्वादि-
ति । उच्यते—यस्तावत्स्मार्तः सायंप्रातर्होमः तत्र कालभेदा-
दविरोध एव । कथं? सायंशब्देन रात्रिरुच्यते, प्रातःशब्देन
च दिवसः, उदितहोमादिवाक्यवदत्र तथाविधस्याभावात् स-
न्ध्योपासनानन्तरमेव होमस्यानुप्रवेशः स्यादिति । अथापि केषां-
चित्सन्ध्याकाल एव होम उक्तः, तत्रापि दीर्घसन्ध्यत्वस्याभीष्ट-
त्वाद्धोमानन्तरमपि सन्ध्योपासनस्यावकाशोऽस्तीति । एवं
श्रौते उदितहोमादिविषयेऽप्यविरोध एवेति ॥

'तिष्ठन्पूर्वा सन्ध्यामासीन उत्तरामुपासीत' इति वक्तव्ये
एवमभिधानं स्मृत्यन्तरोक्तस्यापि विधेर्ग्रहणार्थम् । तथाऽऽहो-
शर्त्ता—'सायं प्रातरुदकं गत्वा पूतो भूत्वा पवित्रेण मार्जयि-
त्वा आपोहिष्टीयाभिस्तिसृभिरब्लिङ्गाभिः वामदेव्येन च, ततः
शुचौ देशे दर्भेष्वासीनो दर्भान्धारयमाण प्रत्यङ्मुखो वाग्यत
आत्मानं ध्यात्वा ततः सरेचकपूरककुम्भकादीन् त्रीन् प्राणायाम-

मान् ध्यायित्वा ऋषिच्छन्दोदेवताध्यानपूर्वकं भूर्भुवस्स्वरित्यादिकां सावित्रीं सहस्रकृत्व आर्चयेच्छतकृत्वो वा दशावशामथोत्तिष्ठन्नग्निमब्रह्मभ्यः प्रत्यग्दक्षिणोदीच्यासु नमस्कृत्वा त्रिः प्रदक्षिणं कृत्वा पुनरपि प्रतीची दिश नमस्कुर्यात् । एवमेव प्रातः प्राङ्मुखस्तिष्ठन्मित्रादिभ्यो नमस्कुर्यात् ॥ इती ॥

नादित्यमीक्षेत ॥ १८ ॥

यदि सन्ध्याकालयोरेवाय प्रतिषेधः स्यात् तदानीमेकमेव सूत्रं क्रियेत 'तिष्ठेत्पूर्वामासीतोत्तरां सज्योतिष्या ज्योतिषो दर्शनाद्वाग्यता नादित्यमीक्षेत' इति । यदि सर्वदा स्यात्तदानीं 'वर्जयेन्मधुमांस' इत्यादावादित्येक्षणमपि पठेत् । उभयथाऽकरणादन्याभिप्रायेणेदमुक्तमिति ज्ञातुं शक्यते । अभिप्रायश्च स्मृत्यन्तर्गतो द्रष्टव्यः । यथा चाहोशना—'नेक्षेतादित्यं सन्ध्यागतं मध्यंदिनगतं राहुग्रस्तं वारिस्थम्' इति ॥

वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवास्वप्नाञ्जनाभ्य- ञ्जनयानोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहवाद- वादनस्नानदन्तधावनहर्षनृत्तगीतपरिवाद- भयानि ॥ १९ ॥

वर्जयेदिति प्रत्येकं सम्बध्यते । मधु माक्षिकं, तस्याबुद्धिपूर्वभक्षणे न दोषः, 'अकामोपनतं मधु वाजसनेयके न दुष्यति' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । मांसं गृहस्थस्य अप्रतिषिद्धमपि । तत्राप्यातुरस्यौषधार्थं गुरोरुच्छिष्टस्य मांसस्य भक्षणे न दोषः, 'स चेद्व्याधीयीत काम गुरोरुच्छिष्टं भैषज्या-

र्थे सर्वं प्राश्नीयात्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । एवं चानातुरस्य
श्राद्धेऽपि वर्जनीयम् । तथाच मनुः—

- ब्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्यै कर्मण्यथर्विवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्रतमस्य न लुप्यते ॥

इत्यादि । गन्धं चन्दनादि । तस्यापि सुखार्थस्य प्रतिषेधः, न
देवताशिष्टस्य, 'देवताशिष्टमेव गृह्णीयाद्ब्रह्मचारी' इति स्मृत्य-
न्तरदर्शनात् । मालाया अपि तथैव । दिवास्वप्नो दिवा नि-
द्रासेवन, तदप्यातुरस्य न दोषः । अञ्जनमङ्गणो । अत्राप्युप-
भोगार्थस्य प्रतिषेधः, नौषधार्थस्य । अभ्यञ्जनं तैलेन गात्रा-
भ्यङ्गः । केचिद्गन्धतैलस्याय प्रतिषेध इति वदन्ति । तस्मि
न्पक्षे इतरस्य न दोषः । गन्धप्रतिषेधेनैवायं प्रतिषेधः सिद्ध
इति चेन्न, विशेषत एव लोकप्रसिद्धेर्न गन्धसामान्यस्य ग्रहणं
भवतीति । यानं शिबिकादि । तदप्यनातुरस्यैव । उपानच्छत्रे
प्रसिद्धे । मयूरपत्रकृतस्यादोषः । काम स्त्रीगतो भोगाभि-
लाषः । क्रोध परस्यानिष्टचिन्तनम् । लोभः अन्यायेन परद्र-
व्याद्यपहरणम् । मोहोऽज्ञानम् । वादो बहुप्रलापः । वादनं भेरी-
ताडनादि । स्नान शिरस्नानादि येनोपभोगः, विहितत्वादित-
रस्य । दन्तधावनं प्रसिद्धम् । ताम्बूलपत्रेणापि तन्न कर्तव्यं
'पङ्कदन्तो भवेद्भृती' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । हर्षः प्रीतिः
एवं च तद्धेतूनां नाटकादीनां प्रेक्षणस्यापि प्रतिषेधः सिद्धः,
तद्दर्शने प्रीत्युत्पत्तेः निवारयेतुमशक्यत्वात् । नृत्तं गात्रवि-
क्षेपः । गीत गान्धर्वसबन्धवाक्यम्याभिधानम् । परिवादः पर-
दोषसंकीर्तनम् । भय परस्य भीषणं, इतरस्य परिहर्तुमशक्य-
त्वात् ॥

किञ्च—

गुरुदर्शने कण्ठप्रावृतावसक्थिकापाश्रयणपाद-
प्रसारणानि ॥ २० ॥

गुरुराचार्यादि । कुतः ? यद्याचार्यस्यैव ग्रहणं तदानीं
आचार्यदर्शनं इति वक्तव्यम् । गुरुग्रहणं सर्वेषां गुरुस्थानीयाना-
मप्युपलक्षणम् । तथाच स्मृत्यन्तरं—‘मान्यानां सर्वेषां सका-
शे संकुचितस्तिष्ठेत्’ इति । कण्ठप्रावरणं कण्ठे वस्त्रप्रक्षेपः ।
अवसक्थिकां जान्वोरुपरि परिकरबन्धः । शेषं प्रसिद्धम् ।
परवशाद्धचेतानि क्रियन्त इति प्रतिषेधः ॥

किञ्च—

निष्ठीवितहसितविजृम्भितावस्फोटनानि ॥ २१ ॥

गुरुसमीपेऽन्यसमीपेऽपि वर्जनार्थं पृथगभिधानम् । निष्ठी-
वनं प्रसिद्धम् । हसनं परवशेऽपि यत्नतो निवारयितव्यम् ।
तथा चापस्तम्बः—‘न स्मयेत यदि स्मयेतापिपृह्य स्मयेतेति
ब्राह्मणं’ इति । विजृम्भणं प्रसिद्धम् । अवस्फोटनं सशब्द-
सन्धिप्रमोकः ॥

किञ्च—

स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम् ॥ २२ ॥

वर्जयेदिति वर्तते । प्रेक्षणं प्रकर्षेणेत्यक्षणे अवयवनिरूपणं,
न रूपमात्रदर्शनं, तस्य निमित्ततो वारयितुमशक्यत्वात् । आ-
लम्भनं स्पर्शनम् । स्पर्शनं इति वक्तव्ये एवमभिधानमभिस-
न्धिस्पर्शनवर्जनार्थम् । एवं च प्रमादान्न दोषः । अभिसन्ध्या

त्वन्धकारादावपि स्पर्शनं न कर्तव्यम् । तदुभयं स्त्रियां न कुर्यात् । यस्यां मैथुनशङ्काऽन्येषां भवति तस्यामेव, नान्यस्याम् ॥

द्यूतं हीनसेवामदत्तादानं हिंसाम् ॥ २३ ॥

वर्जयेदित्येव । द्यूतमक्षादिना । हीनसेवाः मूत्रपुरीषापमार्जनादिना सेवा । एव च गुरोरप्यननुरूपा सेवा न कर्तव्या । अदत्तादान अननुज्ञातस्योत्सृष्टस्यापि ग्रहणम् । हिंसा प्राणि-
वधः, प्राणिपीडा वा । विसमासान्न कारयेन्नानुमन्येतापि ॥

किञ्च—

आचार्यतत्पुत्रस्त्रीदीक्षितनामानि ॥ २४ ॥

वर्जयेदिति प्रस्तुतम् । आचार्यस्य तत्पुत्रस्य च तद्भा-
र्यायाश्च दीक्षितस्य च सज्ञां पित्रादिकृतां नोच्चारयेत् ॥

किञ्च—

शुक्ता वाचः ॥ २५ ॥

शुक्ताः निष्ठुरा परस्योद्वेगकारिण्वः । सर्वेषां वर्जयेत् ॥

मद्यं नित्यं ब्राह्मणः ॥ २६ ॥

वर्जयेदिति प्रकृतम् । मद्यं गुडमधुपिष्टकृतं अन्यदपि यन्म-
दकरं यत्सर्वं ब्राह्मणो नित्यं प्रागप्युपनयनाद्वर्जयेत् । एवं क्षत्रि-
यवैश्ययोः प्रागुपनयनादूर्ध्वं च ब्रह्मचर्यान् पैथीवर्जितायाः सु-
रायां अप्रतिषेधः, स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यथाऽऽह मनुः—

गौडी माध्वी च पैथी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।

यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ इति

इदानीं कर्तव्यप्रतिपादनार्थमाह—

अधश्शय्यासनी पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी ॥

गुर्वपेक्षया नीचैश्शय्यासने कुर्यात् । तस्यैव च पूर्वोत्थायी पश्चात्संवेशी । यथाऽऽह मनु —

नीचैश्शय्यासन चास्य नित्य स्याद्गुरुसन्निधौ ।

उत्तिष्ठेत्प्रथम चास्य चरम चैव संविशेत् ॥ इति ॥

किञ्च—

वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २८ ॥

स्यादिति शेष । वाक्संयतः अनिबद्धप्रलापोपरतः । बाहुसंयतो लोष्टमर्दनादिवर्जकः । उदरसंयतः हितमितभुक् । ‘वाग्बाहूदरकर्मसंयतः’ इति केचित्पठन्ति । तत् बाहुसंयतत्वेनार्धसिद्धत्वात् युक्तमयुक्तं वेति विचारणीयम् ॥

किञ्च—

नामगोत्रे गुरोस्समानतो निर्दिशेत् ॥ २९ ॥

गुरुग्रहणमाचार्यादीनामप्युपलक्षणम् । समानतः सम्यगानतः प्रह्वः । तं ध्यात्वा नमस्कारं कृत्वेत्यर्थः । एवञ्च तत्रापि ‘आचार्यतत्पुत्र’ इत्यस्मिन्नाचार्यग्रहणं गुर्वादीनामप्युपलक्षणम्, तेषामपि नामधेयोच्चारणस्य प्रतिपिद्धत्वात् । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

आचार्यं चैव तत्पुत्रं तद्भार्यां दीक्षितं गुरुम् ।

पितरं च पितृव्यं च मातरं मातुलं तथा ॥

हितैषिणं च विद्वांसं श्वशुरं पतिमेव च ।

न ब्रूयान्नामतो विद्वान् मातुश्च भगिनीं तथा ॥

यदि ब्रूयात्तु तं ध्यात्वा नमस्कृत्वा वदेदथ ॥ इति ॥

अर्चिते श्रेयसि चैवम् ॥ ३० ॥

. अर्चितो मान्यो विद्वानित्यर्थः । श्रेयान् हितैषी वयसा च वृद्ध इति द्रष्टव्यम् । चकारादेवैतस्मिन् सिद्धे एवशब्दस्स-
मस्तातिदेशार्थः । ततश्च गुरुदर्शने यदभिवादानादि तदत्रापि
द्रष्टव्यम् ॥

. शय्यासनस्थानानि विहाय प्रतिश्रवणम् ॥ ३१

यदा गुरुराज्ञां दद्यात्तदा शयन खट्वादि । आसनं फल-
कादि । स्थानं यत्र स्थितः । एतानि विहाय त्यक्त्वा प्रति-
श्रवणं प्रतिवचनं दद्यादित्यर्थः ॥

अभिक्रमणं वचनाददृष्टेन ॥ ३२ ॥

अदृष्टेन गुरुणा आज्ञायां दीयमानायां अभिक्रमणं तदभि-
मुखेन गमनं कुर्यादित्यर्थः ॥

अधःस्थानासनतिर्यग्वातसेवायां गुरुदर्शने चो-
त्तिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

यदा गुरुः अधो नीचै तिष्ठेत् आसीत वा, तिर्यग्वात-
सेवा मूत्रपुरीषोत्सर्गः । तत्र गुरुं दृष्ट्वा उत्तिष्ठेत् । चकाराद-
न्यमुखो भूत्वा । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

. कूपस्थितं गुरुं दृष्ट्वा तदाकस्थं तथैव च ।

तिष्ठेदन्यमुखो भूत्वा शिष्यो दासस्तथैव च ॥ इति ॥

अथवा—चकारादपगमनमुच्यते । एव सूत्रार्थश्च तदानीं द्रष्टव्यः ।
अधःस्थानासनतिर्यग्वातसेवायामुत्तिष्ठेत् अपयायाच्च क्रमेणेति

तत्राधस्स्थानासने दृष्टोत्तिष्ठेत् । तिर्यग्वातसेवायामपयायादिति
क्रमः ॥

गच्छन्तमनुव्रजेत् ॥ ३४ ॥

गच्छन्तं दृष्ट्वाऽनुव्रजेत् । चकारोऽनुवर्तते । तेन अनुक्त-
मापि समुच्चीयते आसीनं दृष्ट्वा उत्तिष्ठेत् शयानं दृष्ट्वाऽऽसीतेति ।
तथाच स्मृत्यन्तरम्—‘गच्छन्तमनुगच्छेदासीनं चोत्तिष्ठेच्छयानं
चासीनं उपासीत’ इति ॥

कर्म विज्ञाप्याख्याय ॥ ३५ ॥

यदस्य कर्म कर्तव्यं तत्करोमीत्याचार्यस्य विज्ञाप्य तत्कृ-
त्वा कृतमित्याख्याय तिष्ठेत् । वाक्यस्यापरिपूर्णत्वात् विज्ञाप्ये-
त्यत्र कृत्वा इत्यध्याहर्तव्यम् । आख्यायेत्यत्रापि तिष्ठेदिति
क्रिया च, ‘प्रविश पिण्डीम्’ इतिवत् ॥

आहूताध्यायी ॥ ३६ ॥

यदैव गुरुणाऽऽहूतो भवति तदैवाधीयीत । न त्वेनं चोद-
येदित्यर्थः ॥

युक्तः प्रियहितयोः ॥ ३७ ॥

स्यादिति शेषः । युक्तस्तत्परः । प्रियहितयोस्समुच्चितयोः ।
हितस्य चाप्रियस्याकर्तव्यत्वात् । प्रियं प्रीतिकरं, हितं आय-
तिक्षमम् । यत्प्रियमायतिक्षमं च तदेव कुर्यादित्यर्थः ॥

तद्भार्यापुत्रेषु चैवम् ॥ ३८ ॥

तस्य यौ सवर्णौ सदृशौ भार्यापुत्रौ तयोरपि प्रियहित-
योर्युक्तस्स्यात् । चकारात् कण्ठप्रावृताद्यपि । कुतस्सवर्णयो-

रेव ग्रहणमिति चेत् बहुवचनस्य पूजार्थत्वात् ॥

इदानीं तस्यापवादमाह—

नेच्छिष्टाशनस्नापनप्रसाधनपादप्रक्षालनोन्म—

र्दनोपसंग्रहणानि ॥ ३९ ॥

तद्भार्यापुत्रयोरेतानि न कुर्यात् । प्रियहितत्वात्प्राप्तं प्रति-
षिद्धयते । अनयोरेव प्रतिषेधात् गुरोरेतानि कर्तव्यान्येव ।
तथाचापस्तम्बः—‘प्रोषितो भैक्षादग्नौ कृत्या भुञ्जीत भैक्षं हविषा
संस्तुतं तत्राचार्यो देवतार्थं आहवनीयार्थं च न भोजयित्वा
यदुच्छिष्टं प्राश्नाति हविरुच्छिष्टमेव तत्’ इत्यादि । तथाच व-
सिष्ठोऽपि—‘उच्छिष्टमगुरोरभोज्यम्’ इत्यादि । प्रसाधनं अलं-
कारः । शेषं प्रसिद्धम् ॥

उपसंग्रहणस्येदानीं प्रतिप्रसवमाह—

विप्रोष्योपसंग्रहणं गुरुभार्याणाम् ॥ ४० ॥

विप्रोष्य प्रत्यागतेन गुरुभार्याणामुपसंग्रहणं कार्यम् । ना-
न्यदा । नान्यस्याः ॥

तत्रापि तु—

नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन ॥ ४१ ॥

व्यवहारसमर्थेन पूर्णषोडशवर्षेणेत्यर्थः । युवतीनां तरुणीनां
विप्रोष्यापि न कार्यमित्येके मन्यन्ते न तु गौतमः । आशङ्क-
नीयानाशङ्कनीयापेक्षया द्रष्टव्यः ॥

उक्त ‘अग्नीन्धनभैक्षचरणे’ इति । तत्राग्नीन्धनं गृह्येभ्य
एव पृथक्पृथक्पुलभ्यत इति, भैक्षचरणाविधिमाह—

सार्ववर्णिकं भैक्षचरणमभिशस्तपतितवर्जम् ॥

किमर्थमिदं सूत्रमारभ्यते ? भैक्षचरण तावदनेन न विधीयते 'अग्नीन्धनभैक्षचरणे' इत्यनेन विहितत्वात् । अभिशस्तपतितवर्जन च 'प्रशस्तानां स्वकर्मसु' इत्यनेनोक्तत्वादिति ॥

अत्रैक आहुः—शूद्रप्रापणार्थोऽयमारम्भः, 'प्रशस्तानां स्वकर्मसु' इत्यनेनाप्राप्तत्वादिति । न चैतद्युक्तं, 'वृत्तिश्चेन्नान्तरेण शूद्रात्' इत्यनेनापदि शूद्राभ्यनुज्ञानसिद्धेः । न चानार्पद्यपि ब्रह्मचारिणः शूद्राभ्यनुज्ञानमनेन कल्पयितुं युक्तं, स्मृत्यन्तरे अत्यन्तप्रतिषिद्धत्वात्,—

शूद्रान्नरसपुष्टाङ्गो योधीयानोपि नित्यश ।

जुह्वन्नपि जपन्वाऽपि गतिमूर्ध्वा न विन्दन्ति ॥ इति ॥ तस्मादनापद्येव ब्रह्मचारिणः अप्रशस्तद्विजातिप्रापणार्थोऽयमारम्भः अप्रशस्तानामविशेषेण प्राप्तौ सत्यां 'अभिशस्तपतितवर्जं' इति युज्यते च प्रतिषेधः । इतरथा शूद्रप्रापणे सति अभिशस्तादीनां प्राप्त्यभावादेव प्रतिषेधो न युज्यत इति न च शक्यते वक्तुं शूद्रविषय एवायमपवाद इति, यत्र हि द्विजातयः प्रशस्ता अधिक्रियन्ते तत्र शूद्रोऽपि प्रशस्त एवेति इतरस्य प्रसङ्ग एव नास्तीति ॥

तेन प्रथमकल्पस्तावत् ब्रह्मचारिणः प्रशस्तेभ्य एव भैक्षचरणं, तदलाभे अप्रशस्तेभ्यः, तदलाभे आचार्यादिभ्यः, सर्वाभावे आपदि शूद्रादिति स्थितम् ॥

सर्ववर्णानर्हतीति सार्ववर्णिकं, सर्वेषां भवतीत्यर्थः । सर्वग्रहणं क्षत्रियवैश्यप्रापणार्थं, अन्यथा ब्राह्मणस्यैव प्रतिग्रहाधिकारात् तस्यैव स्यादिति । वर्णग्रहण शूद्रस्यापि प्रापणार्थं

असति वर्णग्रहणे सर्वग्रहण तयोरेव स्यादिति तदर्थं वर्णग्रहण •कृतम् । तेन शूद्रस्याप्राप्तौ तत्प्रापणार्थं वर्णग्रहणम् । ततश्च शूद्रस्यापि वृत्तिहीनस्य भिक्षाचरणे न दोषः । भिक्षासमूहो भैक्षं, ततश्च बहुभ्यो गृहेभ्य आहर्तव्यम् । अभिशस्त उपपातकदोषेणाभिशस्तो गृह्यते, पातकदोषेणाभिशस्तस्य पतितग्रहणेनैव सिद्धत्वात् । तथाच वसिष्ठः—‘ब्राह्मणमनृतेनाभिशस्तस्य मतनीयेनोपपतनीयेन वा’ इति ॥

केचित्सर्वेषु वर्णेषु भवं सार्ववर्णिकमिति विग्रह कुर्वन्ति तेषां सर्वशब्दस्य प्रयोजनं न विद्मः । अप्रशस्तद्विजातिप्रापणार्थं चेन्न सूत्रारम्भस्यापि तस्यैव प्रयोजनत्वात् । शूद्रप्रापणार्थत्वेऽप्युक्त एव परिहारः तस्मात्तद्भूसुरैर्विचारणीयम् ॥

**आदिमध्यान्तेषु भवच्छब्दः प्रयोज्यो वर्णानुप-
वर्त्येण ॥ ४३ ॥**

द्विपदस्य भिक्षां देहीति शब्दस्य प्रार्थनायां देहीत्यस्यापि च सामर्थ्यात् प्राप्तस्यादौ ब्राह्मणेन भवच्छब्दः प्रयोक्तव्यः, मध्ये क्षत्रियेण, अन्ते वैश्येन । भवच्छब्दस्य प्रातिपदिकत्वात्केवलस्य च प्रयोगाभावात् स्त्रीणां सकाशे तदामन्त्रितविभक्त्यन्तः प्रयोक्तव्यः, भवति भिक्षां देहीति । पुरुषसकाशे भवन् भिक्षां देहीति । प्रेत्युपसर्गात् स्मृत्यन्तरोक्तमपि द्रष्टव्यम् । तदपि क्षकारहिकारौ नोच्चैर्वक्तव्याविति । यथाऽह गृह्यस्मृतिः ‘ब्राह्मणो भिक्षेत भवति भिक्षां देहीति, भवन्मध्यया राजन्यो भिक्षां भवति देहीति, भवदन्त्यया वैश्यो भिक्षां देहि भवति, क्षां च हि च न वर्धयेत्’ इति । वर्णग्रहण शूद्रस्य मन्त्र-

प्रापणार्थं, ततश्च त्रयाणामेव वर्णानामन्यतमो मन्त्रो द्रष्टव्यः । अन्यो वा रचनाविशेषः कर्तव्यः । “वैश्यवच्चूद्रवृत्तिः” इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् वैश्योक्तो वा द्रष्टव्यः । अनियतवृत्तिज्ञापनार्थं साक्षान्मन्त्रो नोक्तः । तथा च वासिष्ठः—“अनियता च वृत्तिरनियतकेशवेषाः” इत्यादि । एकस्यैव विकल्पो मा भूदिति अनुपूर्वग्रहणम् ॥

आचार्यज्ञातिगुरुस्वेष्वलाभेऽन्यत्र ॥ ४४ ॥

आचार्य उक्तः । ज्ञातिः सपिण्डः, गुरुर्मातुलादिः, स्वमात्मीयम् । अन्यत्रालाभे एषु भैक्ष प्रार्थनीयम् । क्रमस्तु प्रतिपादितः ॥

अत्रापि—

तेषां पूर्वं पूर्वं परिहरेत् ॥ ४५ ॥

तेषां यो यः प्रथमनिर्दिष्टः तत्र तत्र परिहरेत् । अन्यत्रालाभे पूर्वं पूर्वं परिहृत्यापि तेषामेव सकाशे भैक्षं परिचरितव्यम् । नोपाध्यायगृहादित्येव नियमार्थं तेषां ग्रहणम् । ततश्च सर्वत्रालाभे उपाध्यायगृहादित्येव द्रष्टव्यम् । तथाच स्मृत्यन्तरं “अलाभेऽन्यत्रोपाध्यायगृहादपि” इति ॥

निवेद्य गुरवेऽनुज्ञातो भुञ्जीत ॥ ४६ ॥

इदं भैक्षमिति गुरवे कथयित्वा ततो भुंक्ष्वेति तेनाऽनुज्ञातो भुञ्जीत । एवञ्च निवेदनं भैक्षसंस्कारार्थं, अनुज्ञात इति वचनात् । यदि गुरुर्गृहीयात् तदाऽन्यदाहर्तव्यम् ॥

असन्निधौ तद्गार्यापुत्रसब्रह्मचारिसद्भ्यः ॥ ४७ ॥

आचार्यासन्निधानेन तद्भार्यादीनां निवेदनं यथासम्भवं कर्तव्यम् । तद्ग्रहणं भार्यापुत्रयोः समानजातीयत्वज्ञापनार्थम् । सब्रह्मचारी समानचरण, सन् साधु प्रकृष्टगुणः ॥

तत्कथं भुञ्जीतेत्यत आह—

वाग्यतस्तृप्यन्नलोलुप्यमानः सन्निधायोदकम्॥

वाग्यतस्तूष्णीं, तृप्यन्संतोषं कुर्वन्, पूर्वमसंतुष्टोऽप्यन्न-दर्शनमात्रादेव हृष्येदित्यर्थः । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥

इति । अलोलुप्यमानो विशेषस्पृहां परिहरन्नतिभोजनं वर्जयेदित्यर्थः । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

अनायुष्यमनारोग्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ॥

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

इति । अथवा भोजनविधिमपरिवर्जयन्नित्यर्थः । तथाच स्मृत्यन्तरे भोजनविधिर्द्रष्टव्यः । सम्यङ्निधायोदकं प्राश्येत्यर्थः । समुपसर्गः स्मृत्यन्तरोक्तमार्गोपसंग्रहार्थः । तथाऽऽहोशना - “सत्यं त्वर्तेनेत्यादिनोदकं परिषिच्यामृतोपस्तरणमित्यादिना प्राशयेत्” इति । अथवा—उदकमिति कमण्डलुरुच्यते, तत् सन्निधाय । ततश्च ब्रह्मचारिणोऽपि कमण्डलुधारणं कर्तव्यम् । तथैव मनु-रपि मेखलादिभिः सह प्रतिपत्तिविधानात् ब्रह्मचारिणः कमण्डलुधारणं ज्ञापयति—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।

अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृहीतान्यानि मन्त्रवत् ॥

इति । एवंच तत एवाचमनं कर्तव्यं, वचनसामर्थ्यात् । उच्छि-

ष्टस्पर्शने न दोषः । स्मृत्यन्तरोक्तं वा द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह
वसिष्ठः—

अप्सु पाणौ च काष्ठे च कल्पित. पावकः शुचि ।
तस्मादुदकपाणिभ्यां परिमृज्यात्कमण्डलुम् ॥

इति । केचित्समुपसर्गादेवैतमर्थं समर्थयन्ति ॥

इदानीं यदि ब्रह्मचारी गुरोः सम्यग्विनयनावतिष्ठेत तदा-
नी किं कर्तव्यमित्यत आह—

शिष्यशिष्टिरवधेन ॥ ४९ ॥

शिष्यशिष्टिः शिष्यशासन, अवधेन वध मुक्त्वा, निर्भर्त्स-
नादिना कर्तव्यमित्यर्थः । अधिकारादेव सिद्धे शिष्यग्रहणम-
न्यस्यापि शासनीयस्य भार्यापुत्रादेरयमेव धर्म इति ज्ञापना-
र्थम् ॥

अशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्याम् ॥ ५० ॥

निर्भर्त्सनादिना शासनाशक्तौ रज्ज्वा वेणुविदलेन वा ।
सहनिर्दिष्टयोरपि तुल्यार्थत्वात् विकल्पः । तेनापि तनुना शास्यः ॥

अन्येन घ्नन्नाज्ञा शास्यः ॥ ५१ ॥

अन्येन हस्तपादादिना क्रोधेन घ्नन्नाज्ञा दण्ड्यः । गौरवार्थं
राजग्रहणम् ॥

अथ कियन्तं कालमेव वर्तेतेत्याह—

द्वादश वर्षाण्येकवेदे ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ ५२ ॥

एकवेदमध्येष्यमाणो द्वादशवर्षाण्यभिहितरूपं ब्रह्मचर्यं च-

रेत् कुर्यात् । ब्रह्मचर्यशब्देन यमनियमकलाप उच्यते, ब्रह्मा-
र्थत्वात् ॥

प्रति द्वादश वा ॥ ५३ ॥

प्रतिवेदं वा द्वादशवर्षाणि ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥

सर्वेषु ग्रहणान्तं वा ॥ ५४ ॥

सर्वेषु वेदेषु यावतैव कालेनाध्ययनमभिनिर्वर्तयेत् ताव-
न्तमेव कालं ब्रह्मचर्यं चरेत् तस्य तदर्थत्वात् । सर्वग्रहण यद्ये-
कमधीयीत यदि वा द्वौ यदि वा सर्वानित्येवमर्थम् । तथाच
मनुः—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेद वाऽपि यथाक्रमम् ॥

इति । सोऽयमुक्तावधेरूर्ध्वमर्वाग्वाऽपवादः । नियमेनाधीतं वी-
र्यवद्भवतीति नियमोक्तिः ॥

विद्यान्ते गुरुरर्थेन निमन्त्यूः ॥ ५५ ॥

विद्यासमाप्तौ, न तु व्रतानाम्, गुरुराचार्यः अर्थेन प्रयो-
जनेन निमन्त्यूः प्रष्टव्यः किं गुर्वर्थे करवाणीति ॥

ततः—

कृत्वाऽनुज्ञातस्य वा स्नानम् ॥ ५६ ॥

कृत्वा दत्त्वेत्यर्थः, गुरुरपदिष्टमर्थम् । तेन वा अलं गुरुद-
क्षिणयेत्यनुज्ञातस्य स्नानं समावृत्तिः ॥

इदानीं पित्राद्यनेकगुरुसन्निधाने कः प्रथमः पूज्य इत्यत
आह—

आचार्यः श्रेष्ठो गुरुणाम् ॥ ५७ ॥

आचार्य उक्तलक्षणः, स श्रेष्ठः प्रधानो गुरुणां अन्येषां पित्रादीनाम् । ततश्च 'संनिपाते परस्य' इत्यत्र परशब्देनायमेवोच्यते ॥

मातैत्येके मातैत्येके ॥ ५८ ॥

एके माता श्रेष्ठेति मन्यन्ते । इतिकरणात्पितेत्यपरे । अन्यथा मातैक इत्येव सिद्धत्वात् । केवलात् पितुराचार्य प्रधानः । तथाच मनु —

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।

सम्भूति तस्य तां विद्यात् यद्योनावभिजायते ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।

उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥

इति । यदि पितैवाचार्यो भवति तदा पिता विशिष्यते । माता सर्वेषां श्रेष्ठा । तथाच वसिष्ठः—

उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्यास्तु शतं पिता ।

सहस्रं तु पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

इत्यत्र पितृशब्देन पितैवाचार्यो यो भवति स एव गृह्यत इति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

एवं कृतनियमस्य कृतविद्यस्य च—

तस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवते ॥ १ ॥

तस्याखण्डितब्रह्मचर्यस्य । तथाच मनुः—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥

इति। एवं च विप्लुतस्योपपातकप्रायश्चित्त द्रष्टव्यम् । शूद्रपर्यु-
दासार्थं वा तद्ग्रहण, आश्रमधर्माभिधान मा भूत्तस्यापीति । वी-
प्सार्थं वा तस्य तस्येति, ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वैश्यस्य चेति ।
तद्ग्रहणमन्तरेणाप्यधिकारादेवैतत्सिद्धमिति चेन्न, स्मृत्यन्तरा-
भासाशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । एव हि स्मृत्यन्तर प्रतिभाति—
“ एष वोऽभेहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ” इति, तत्र
ब्राह्मणस्यैवाय चतुर्विधो धर्म इतरयोरेकविध इत्याशङ्का स्या-
दिति । तर्हि तत्कथामिति चेत् तत्र ब्राह्मणग्रहण प्रदर्शनार्थम् ।
तत्कथ गम्यत इति चेत् त्रयाणामेव वर्णनां चत्वार आश्रमा
इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । तथा चापस्तम्बः—“ सर्वेषामुप-
नयनप्रभृति समानमाचार्यकुले वासः सर्वेषामनूत्सर्गो विद्याया
बुद्ध्या कर्माणि यत्कामयेत्तदारभेत् ” इति । एके ब्रुवते,—तुल्य-
फलत्वादाश्रमविकल्पः । द्विविध हि फलमभ्युदयरूपं निश्श्रेयस-
रूप चेति, तदन्यतमेनैव लभ्यत इति । तथा च श्रुतिः—“ त्रयो
धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीय-
स्तृतीयमाचार्यकुले वसनमेतानारुह्य ब्रह्मलोक गच्छति ब्रह्मसं-
स्थोऽमृतत्वमेति ” इति । अर्थस्तु—त्रयो धर्मस्याश्रयाः, यज्ञाऽध्य-
यन दानमिति गृहस्थनिर्देशः, तप एवेति वानप्रस्थपरिव्राज-
कयोर्धर्मः, आचार्यकुलवसनं ब्रह्मचारिणः । एतानारुह्येति ब्रह्म-
चार्याश्रम, गृहस्थाश्रमं, वानप्रस्थाश्रम, परिव्राजकाश्रम वा
सम्यगास्थायेत्यर्थः । यस्तेषां ब्रह्मसस्थो ब्रह्मनिष्ठो ज्ञानी अमृतत्वं

मोक्षमेति गच्छतीति ॥ तनश्च सर्वेषामपि ब्रह्मलोकप्राप्तिप्रति-
पादनात्, तुल्यफलनैवोक्ता । तथा जावालश्रुतावपि तुल्यफल
तैव श्रूयते—‘ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वर्णा
भवेत् । वर्णा भूत्वा प्रव्रजेत् । याद वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्र-
जेत् गृहाद्वा वनाद्वा ब्रह्मलोक गच्छति’ इति । मनुरप्याह—

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेतं यथाशास्त्रं निषेविताः ।

यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ इति

अत्रापिगन्दादेर्कोऽपि द्रष्टव्यः । आपस्तम्बोप्याह—‘चत्वार
आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुले वसनं मौनं वानप्रस्थ्यामिति ।
तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रं वर्तमानं क्षमं गच्छति’ इति ।
तेन तुल्यफलत्वाद्विकल्प इति ॥

ननु तुल्यत्वे सति ब्रह्मचर्येणैवाभयविधफलप्राप्तेरितरा-
श्रमविधानानर्थक्यप्रसङ्गः इति । उच्यते—या यस्यानुष्ठाने समर्थः
तस्य तदाश्रमप्रतिपत्त्यर्थं इतराश्रमविधानमिति । जन्मान्तर-
वारूनया वा इष्टाश्रमप्रतिपत्त्यर्थम् । श्रुतिरपि—“तं विद्याकर्म-
णी समन्वारमेते पूर्वप्रज्ञा च” इति । यावज्जीवश्रुतेरपि
गृहस्थस्यार्थिनः शक्तिविषये द्रष्टव्या । एव गृहीते व्युत्थानश्रुति-
रप्युपपद्यते—‘एतं वै तमात्मानं विदित्वा पुत्रपणायाश्च वित्ते-
षणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति’ इति ।
इतरथा हि भिक्षाचर्यमिति सन्यासापदेशो नोपपद्यत इति । जा-
यमानश्रुत्याऽपि यज्ञादीनामवश्यकर्तव्यता प्रतिपाद्यते गृहस्थस्य,
न तु जायमानस्यैव, कृणव्रयसम्बन्धस्यात्यन्तासम्भवात् ‘ब्रह्म-
चर्यादेव प्रव्रजेत्’ इति श्रुतिविरुद्धत्वात् ‘सोऽन एव ब्रह्म-
चर्यात्प्रव्रजति,’ ‘यमिच्छेत्तमावसेत्’ इत्यादिस्मृतेरविरुद्धत्वाच्च ।

अर्थवादानां च कार्यशेषत्वात् । ततश्च पदार्थोऽप्येव ग्रही-
तव्यः—गृहस्थो जायमानः पूर्ववासनया गार्हस्थ्यं प्रविष्टः ।
ब्राह्मणग्रहेण क्षत्रियवैश्ययोरुपलक्षणम् । त्रिभिः ऋणैः सम्बध्यते—
यज्ञेन देवेभ्य ऋणी भवत्यतो यज्ञं कर्तव्यः । प्रजया पितृभ्यः
अतः प्रजोत्पादनं कर्तव्यम् । ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः अतः पर्वदौ
ब्रह्मचर्यरक्षणं कर्तव्यमिति । एवं गृहीते सर्वत्र श्रुतिस्मृत्योर-
विरोधो भवति । एकेग्रहणान्नं तु गौतमः, तस्य तु समुच्चयो
मतः । कथमवगम्यते? “एकाश्रमस्य त्वाचार्या.” इति वाधपक्ष-
स्यापि परमतत्वेन निर्देशात्, “प्रागुत्तमात्रय आश्रमिणः.”
इति च लिङ्गात्, प्रागुत्तमाश्रमात्रयस्याभावात् । विकल्पपक्षे
गौतमस्तावदेव मन्यते—

यज्ञेन देवानामोति वैराजं तपसा पुनः ।

संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानं वैराग्यात्प्रकृतौ लयम् ॥

इति भिन्नफलत्वेनोपदेशात् जाबालश्रुतावप्यन्यतममारुह्येत्यनुक्त्वा
एतानारुह्येति समुच्चयाभिप्रायेणोक्तत्वात्, ब्रह्मलोकप्राप्तेरपि स-
मुच्चयफलत्वेनोपदिष्टत्वात् जाबालश्रुतावपि प्राधान्येन पूर्वं स-
मुच्चयपक्षस्यैवाभिहितत्वात्, ‘सर्वेऽपि क्रमशः’ इत्यस्मिन् मनु-
वाक्येऽपिशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात्, आपस्तम्बवाक्येऽपि तेषु
सर्वेष्विति बहुवचनात्—नैकस्मिन्नेव वर्तमानः किं तु सर्वेष्वेव
वर्तमान इत्यभिप्रायेणोक्तत्वात्—इतराश्रमविधानस्य चास्मिन्पक्षे
सुतरामुपपद्यमानत्वात्, ऋणत्रयश्रुतेरपि यथार्थ एवोपपद्यमान-
त्वात्, ‘पूर्वप्रज्ञा च’ इति श्रुतेरपि विद्याभिप्रायेणोपपद्यमानत्वात्,
यावज्जीवश्रुतेरपि “गृही वनं प्रविशेद्यदि गृहमेव कामयेत तदा
यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्” इति जाबालश्रुतिवाक्ये अनित्य-

त्वदर्शनात्, अस्मिन् पक्षे व्युत्थानश्रुतेरपि सुतरामुपपद्यमान-
त्वात्, “चतुर्थमायुषो भाग” इत्यनेनापि मनुना समुच्चय-
पक्षमेवाश्रित्योक्तत्वात्, समुच्चयपक्ष एव श्रेयानिति । अत एव
विकल्पबाधपक्षौ परमतत्वेनोपन्यस्तौ । एवञ्च—“यमिच्छेत्तमा-
वसेत्” इत्यादेवाक्यानि विकल्पाच्चार्यदर्शनेनोक्तानीति द्रष्टव्या-
नि । असमर्थो यः समुच्चयानुष्ठाने अन्धपङ्गुत्वादिदोषेण निस्स्व-
त्वादिना वा तेन विकल्पपक्षोऽप्याश्रयणीयः इत्यभिप्रायेण ब्रुवत-
इत्यर्थसिद्धस्याप्युपन्यासः । अथवा—योऽध्यात्मज्ञानी तेन विक-
ल्पपक्ष आश्रयणीयः, इतरेण समुच्चयपक्ष इति । कुत ? अनुष्ठा-
नस्य विज्ञानोत्पत्तिः प्रयोजनम् । तस्मिन्नुत्पन्ने यत्र क्वाप्याश्रमे
स्थितस्य पुरुषार्थः सिध्यतीति । आश्रमग्रहणं संव्यवहारार्थं
‘वर्णानाश्रमांश्च’ इत्यादौ ॥

के पुनस्त आश्रमा इत्यत आह--

ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्यं चरतीति, ब्रह्मण एव वा विषये निस्स्पृहश्चर-
तीति, ब्रह्मचारी । गृह पत्नी तत्सयोगाद्गृहस्थः । भिक्षाशील-
त्वाद्विभूः । विखनसा प्रोक्तं शास्त्रं वैखानसं तद्विधिना वर्तत
इति वैखानसः । विसमास एषामेव पृथक्त्वज्ञापनार्थः, यथाऽऽ-
होशना—‘द्वौ ब्रह्मचारिणोऽप्युपकुर्वाणो नैष्ठिकश्चेति, द्वौ वैखानसौ
सपत्नीको विपत्नीकश्चेति, द्वौ संन्यासिनौ भिक्षुसंन्यासी वेद-
संन्यासी चेति, बहुधा गृहस्थः शालीनयायावरादिभेदेन’
इत्यादि । ननु च स्मृत्यन्तरे वैखानसमभिधाय भिक्षुरित्युक्तः
इह किमर्थं क्रमभेद इति । उच्यते ‘प्रागुत्तमाख्य आश्रमिणः’
इत्यत्र वैखानसवर्जनार्थः क्रमभेदः । तस्य ग्रामप्रवेशनप्रतिषे-

धादेव सिद्धमिति चेत् न, अर्थिनामरण्यगमनस्यापि सम्भवात्
तथाच स्मृत्यन्तरम्—

चातुर्वैद्यो विकल्पी च नैरुक्तो धर्मपाठकः ।

ब्रह्मचारी गृही भिक्षुः पर्षदेषा दशावरा ॥

इति ॥ केचित्तु—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टि सर्ववेदसदक्षिणात् ।

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् गृहात् ॥

इति स्मृत्यन्तरमवलम्ब्य गार्हस्थ्यदेव संन्यासः कर्तव्य इत्ये-
वमर्थं क्रमभेद इति वर्णयन्ति । तत्पूर्वसूत्रेणैव प्रतिपादितं
उत नेति भूसुरैर्विचारणीयम् ॥

तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादितरेषाम् ॥ ३ ॥

चतुर्णामप्याश्रमाणां गृहस्थः कारण, अप्रजनत्वादितरेषां
ब्रह्मचार्यादीनाम् । वैखानसार्था हेतूक्तिः, ब्रह्मचारिणो ब्रह्म-
चर्यरक्षणादेव सिद्धत्वाद्भिक्षोरप्यूर्ध्वरेतस्त्वविधानात् । एव च
वैखानसस्य सपत्नीकत्वपक्षेऽपि ब्रह्मचर्यरक्षणं कर्तव्यम् । अ-
धिकारादेव सिद्धे तेषां ग्रहणं गृहस्थोत्पन्नानामेव तेषां धर्म-
अधिकार इत्येवमर्थम् । तथाच शातातपः—

चण्डालाः प्रत्यवसिताः परिव्राजकतापसा ।

तेषां जातान्यपत्यानि चण्डालैस्सह वासयेत् ॥

इति तेषां गृहस्थ एव योनिरित्युक्ते एवकारादेवेतरेषां ब्रह्म-
चर्यरक्षणे सिद्धे एवमिति धनमेषां पुनर्निवृत्तिर्मा भूदिति । यदि
ते गार्हस्थ्यं प्रति निवृत्त भवेयुः तदा ते चण्डाला भवन्ति
कुत ? उदाहृतशातातपवचनात् । तत्र—चण्डाला भवन्ति ।

प्रत्यवसिताः प्रतिनिवृत्ता ये परिव्राजकतापसा नैष्ठिकवैखानसाः
तस्मात्तेषां जातान्यपत्यानि चण्डालैस्सहवासयेद्राजा ग्रामो^० वे-
त्यर्थः ॥

इदानीमाश्रमधर्मेषु क्रमेण वक्तव्येषु प्राप्तेषु सर्वाश्रमसा-
म्यादुपकुर्वाणस्य पूर्वमुक्त्वा नैष्ठिकस्य क्रमेण प्राप्त वक्तुमाह—

तत्रोक्तं ब्रह्मचारिणः ॥ ४ ॥

तत्रोपनयनप्रकरणे यदग्नीन्धनाद्युक्तं तदस्यापि भवतीत्यति-
देशः । ननु च नैष्ठिकस्यैवेद उपकुर्वाणस्येति कथं ज्ञायत इति ?
उच्यते—उपकुर्वाणस्योक्तत्वात्, गृहस्थभिक्षुवैखानसानां वक्ष्य-
माणत्वात्, नैष्ठिकस्यैव भवतीति । तर्हि ब्रह्मचारिग्रहणं किमर्थ-
मिति चेत् येनोपकुर्वाणव्रतमनुष्ठितं तस्यैव नैष्ठिकत्वस्याधि-
कार इत्येवमर्थम् । अतिदेशात् उपकुर्वाणव्रतमेव नैष्ठिकस्या-
प्यनुष्ठातव्यमित्युक्त्वा इदानीमस्य विशेषविधिमाह—

आचार्याधीनत्वमाऽन्तम् ॥ ५ ॥

आचार्यपारतन्त्र्यं तच्चिन्तानुविधायित्वं आ मरणात् क-
र्तव्यम् ॥

किंच—

गुरोः कर्मशेषेण जपेत् ॥ ६ ॥

गुरुशुश्रूषाऽतिरिक्तकाले जपं कुर्यात् । एवं च जप एवा-
स्य विशिष्टं धर्मसाधनमिति ॥

आचार्य इति प्रकृते गुरुग्रहणं मातापित्रोरपि शुश्रूषाप्रा-
प्त्यर्थम् । तथाच मनुः—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परम तप उच्यते ।

न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्य समाचरेत् ॥ इति ॥

गुर्वभावे तदपत्ये वृत्तिः ॥ ७ ॥

गुरोरभावे तदपत्ये शुश्रूषा, अध्यापयितुरभावे तदपत्ये शुश्रूषेति नियमार्थम् । गुरुग्रहण समानजातीयापत्यग्रहणार्थम् । अपत्यग्रहण भार्यानिवृत्त्यर्थम् ॥

तदभावे वृद्धे सब्रह्मचारिण्यग्नौ वा ॥ ८ ॥

तदभावं गुरुपुत्राभावे विद्यादिभिर्वृद्धे, तदभावं सब्रह्मचारिणि समानचरणे, तदभावे अग्नौ । अग्ने. शुश्रूषा ज्योतीरूपस्याग्नेर्ध्यानम् ॥

किं पुनरस्याश्रमस्य फलमित्यत आह—

एवंवृत्तो ब्रह्मलोकमवाप्नोति जितेन्द्रियः ॥ ९ ॥

एव यथोपदेशं वर्तमानो ब्रह्मलोकं ब्रह्मणः स्थानमवाप्नोति स चेज्जितेन्द्रियो भवति । ब्रह्मचर्यरक्षणोपदेशात् उपस्थेन्द्रियस्योक्तत्वात् इदं चक्षुरादिविषयं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह मनु -

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नर ।

न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥

इति । उत्तरेषामप्येतदेवं प्रधानमित्येवमर्थं फलावसाने विश्रानम् ॥

इदानीमन्येषामपि सामान्यधर्ममाह—

उत्तरेषां चैतदविरोधि ॥ १० ॥

यद्ब्रह्मचारिण उक्तं तदुत्तरेषामपि भवति यदविरुद्धं
 द्यूतादिवर्जनम् । यद्विरुध्यते तद्व्याप्यते यथाऽग्निकार्यं प्रव्रजि-
 तस्य, गुरुकुलवासो वैखानसस्य, गृहस्थस्य ब्रह्मचर्यरक्षणम् ।
 चशब्दः उत्तरस्य यद्वक्ष्यमाणं तदप्यविरुद्धं पूर्वेषामपि भव-
 तीति ज्ञापयति, 'यथा न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैस्सह सम्भाषे-
 त' इत्यादि ॥

अनिचयो भिक्षुः ॥ ११ ॥

इदानीं क्रमप्राप्तस्य गृहस्थस्य धर्मा वक्तव्याः, तान्वि-
 लङ्घ्य किमर्थं भिक्षोरभिधीयत इति चेत्, अत्रोच्यते—बहुवक्त-
 व्यो गृहस्थः । तस्याभिधीयमाना धर्मा अविरुद्धाः केचित्कथ-
 नाम पूर्वेषां स्युरिति तदर्थं व्युत्क्रमेणाभिधानम् । तर्हि वैखा-
 नसस्य वक्तव्य इति चेत्, उपन्यासक्रमेणोक्तत्वाददोषः ॥

अतो भिक्षोस्तावदुच्यते । अनिचयशब्देनौपचयिकद्रव्यस्य
 त्याग उच्यते, न नित्यद्रव्यस्य शिखायज्ञोपवीताद् ॥

ननु च नित्यस्यैव त्यागो युक्तः उपवीतशब्देन न्यास-
 विशेषोऽभिधीयते—

उद्धृते दक्षिणे पाणानुपवीत्युच्यते ब्रुधैः ॥ इति ॥
 यज्ञार्थमुपवीतं यज्ञोपवीतम् । अस्य यज्ञाधिकारमावात् ।
 न कुण्ड्यां नोदके सङ्गो न चेले न त्रिपुङ्करे ॥
 नागारे नासने नात्रे यस्य स्यान्मोक्षवित्तु सः ॥ .

इति कुण्ड्यादीनां त्यागोपदेशात् । जाबालश्रुतावपि—'नखानि
 निकृत्य यज्ञोपवीतं विसृज्य' इति यज्ञोपवितस्य त्यागो-
 पदेशाच्चेति ॥

उच्यते—प्रथमं तावद्यदुक्त यज्ञाधिकाराभावात् इति तत्र यागशब्दो देवपूजनादावपि वर्तते देवपूजनं त्वस्य ध्यानेन परमात्मपूजनमस्त्येव कुत. ?

अरण्यनित्यस्य जितेन्द्रियस्य

सर्वात्मकप्रीतनिवर्तकस्य ।

अध्यात्मचिन्तागतमानसस्य

• ध्रुवा ह्यनावृत्तिरूपेक्षकस्य ॥

इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् आत्मयाग एवाधिकारात् । तथाच श्रुयते श्रुतौ—‘धर्माधर्मौ हविर्मनस्सुव प्राणोऽध्वर्युर्गिन्द्रियाण्युद्रातारः शब्दादयो होना एतै ऋत्विग्भिस्तेन सुवेण तद्धविरहरहर्यतिना परमात्मन्यग्नौ होतव्यम्’ इति । अतो यागाधिकारसद्भावाददोषः । यच्चोक्तम्—‘न कुण्ड्यां नोदके सङ्गः’ इति तत्रापि कुण्डिकादीनां वैचित्र्यवर्जनार्थं सङ्गस्यैव परित्यागः, न कुण्डिकादेः । कुत. ? तत्रैव ‘यज्ञोपवीत्युदककमण्डलुहस्तः’ इति वक्ष्यमाणत्वात् । तत्र ‘सर्वाश्रमाणां धर्मिष्ठ’ इति सर्वाश्रमाधिकारात् सामान्यत्वेन वर्तमानोऽपि विशेषधर्मेण बाध्यत इति चेत्, न, यदि सर्वाश्रमाधिकारस्तत्रेष्यते तत्र प्रकरणे वाक्यार्थघटनार्थं ‘यज्ञोपवीत्युदककमण्डलुहस्तत्वम्’ इति भावप्रत्ययेनैवावश्यत् ‘पैशुनमत्सराभिमानाहंकारानार्जवात्मस्तवपरगर्हदम्भलोभक्रोधमोहविवर्जन सर्वाश्रमाणां धर्मिष्ठम्’ इति पूर्वमुक्त्वा ततश्चाभावप्रत्ययेन विशेषोद्देशेन ‘यज्ञोपवीत्युदककमण्डलुहस्तः’ इति निर्देशः सर्वाश्रमाधिकारनिवृत्त्यर्थ इति ज्ञातुं शक्यते । ततस्तत्र सर्वाश्रमाधिकाराभावात् पूर्वापरविरोधप्रसङ्गो मा भूदिति ‘न कुण्ड्यां नोदके सङ्गः’ इति सङ्गमात्रस्यैव त्यागः क्रियत इति ग्रहीतुं शक्यत एवेति । तदर्थ एव

सङ्गशब्दस्यापि निर्देश । तस्मात्तेनापि न कुण्ड्यादीनां त्याग-
यच्चोक्तम्—‘नखानि निकृत्य यज्ञोपवीत विसृज्य’ इति तत्रापि
प्रथमं सन्यासाश्रमप्रवेशकाले पुराणस्य यज्ञोपवीतस्य त्याग-
मात्रं क्रियते, न तदानीं गृह्यमाणस्य प्रतिषेधः । कुतः ? ‘न-
खानि निकृत्य पुराणं वस्त्रं यज्ञोपवीतं कमण्डलुं त्यक्त्वा
नवानि गृहीत्वाऽऽश्रमं प्रविशेत्’ इति स्मृत्यन्तरश्रवणात् ।
तस्मादौपचयिकतदव्यस्य त्यागः ॥

किञ्च—नित्यद्रव्यत्यागे भिक्षोराचमनाभावश्च प्राप्नोति, ‘आ-
चमने यज्ञोपवीती’ इत्यारम्भात् तदभावे आचमनस्याप्यभावः
प्राप्नोतीति । ‘मुण्डश्शिखी वा’ इति मुण्डपक्षे आचमनाङ्गशि-
खावर्जितस्यापि आचमनं युग्माभिरभ्युपगम्यते, तद्वदस्माभिर-
पीति चेत्, न, तत्र वचनाददोषः, ‘मुण्डश्शिखी वा’ इति ।
युग्माकं तु यज्ञोपवीतं त्यक्तव्यमिति वचनाभावादोष एवेति ॥

भिक्षुरनिचय इति वक्तव्ये धर्मस्यादापभिधानं नित्यस्याग्नि-
होत्रदारादेरपि त्यागार्थम् । एवं च गार्हस्थ्यादेव यः प्रव्रजेत्
तेन श्रौतस्य च स्मार्तस्य चाग्ने दारपुत्रपञ्चयज्ञादिसहितस्य
त्यागः कर्तव्यः । वैसानसादेव यः प्रव्रजेत् तत्रापि सपत्नीक-
पक्षे प्राप्तस्य दारस्य श्रामणकाग्निसहितस्य पञ्चयज्ञादेरपि
त्यागः कर्तव्यः ॥

केचिन्नैष्टिकसंन्यासनिचयत्वविधानार्थमादावभिधानमिति व-
र्णयन्ति । तदयुक्तं, ‘गुरो कर्मशेषेण जपेत्’ इति जपस्यैव
प्रधानं वेनोपदिष्टत्वात् तेनैवाग्निपरिश्रहादेरप्यभावो ज्ञातुं शक्यत
एवेति ॥

ऊर्ध्वरेताः ॥ १२ ॥

‘उत्तरेषां चैतद्विरोधि’ इत्यनेन ब्रह्मचारिणः उक्तेन ब्रह्मचर्यरक्षणेनास्यापि सिद्धेरूर्ध्वरेतोग्रहणं यथा यथा रेतसः क्षयो भवति तथा तथोपायः कर्तव्य इत्येवमर्थम् । उपायश्चाल्पान्नाभ्यवहारादि । यथा चाह भगवान्वसुदेवः—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्ज रसोप्यस्य पर दृष्टा निवर्तते ॥

इति । तथाऽल्पानाम्यवहाराभिप्रायेण स्मृत्यन्तरेऽप्युक्तम् ‘अष्टौ ग्रासा मुनेर्मक्ष’ इत्यादि । एवंच ब्रह्मचारिणः संपूर्णभोजने न दोषः । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

अनङ्गान्ब्रह्मचारी च आहिताग्निश्च ते त्रयः ।

भुञ्जाना एव सिध्यन्ति नैषां खिद्धिरनघ्नताम् ॥ इति ।

ध्रुवशीलो वर्षासु ॥ १३ ॥

पर्पास्विति बहुवचनान् ग्रामाद्ग्रामान्तरं चतुर्षु मासेषु न गच्छेदित्यर्थः । एकत्रापि वसन्न चङ्क्रमणप्रयासः स्यादिति शीलग्रहणम् । अनेनैवास्यानिकेतनत्वं सिध्यति । तथाच स्मृत्यन्तरम्—‘ग्रामान्ते देवगृहे शून्यागारे वृक्षमूले वा’ इति । शीलग्रहणं च कुर्वन्नेतत् ज्ञापयति, नावश्यमेव भवेत् । ततश्च दुर्भिक्षराष्ट्रभ्रंशादौ गच्छेदपीति ॥

भिक्षार्थी ग्राममियात् ॥ १४ ॥

भिक्षा भिक्ष्यमाणत्वाद्वा दासः, कमण्डलवादिः, तदर्थं ग्रामं गच्छेन् अर्थाच्छेपः कालमरण्ये देवायतनादौ तिष्ठेदिति सिद्धम् ॥

ब्रह्मचारिभिक्षाकाले प्राप्त आह—

जघन्यमनिवृत्तं चरेत् ॥ १५ ॥

जघन्यं भोजनक्रियात् पश्चादित्यर्थः । तथाच मनुः—

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।

वृत्ते शरावसपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥

इति । अनिवृत्त यस्मिन् गृहे प्रत्याख्यातं तस्मिन्दिने तद्गृहं पुनर्न प्रविशेदित्यर्थः । चरेदिति स्मृत्यन्तरोपसङ्गहणार्थम् । यथाऽऽह वसिष्ठ — ‘विधूमे सन्नमुसले एकशाठीपरिहितोऽजिनेन वा’ इति ॥

निवृत्ताशीः ॥ १६ ॥

भिक्षादानाभिवादानादावाशिषामप्रयोक्तव्यर्थः । ‘हिंसा-नुग्रहयोरनारम्भी’ इत्यनेनैवैतल्लभ्यमिति चेत्, न, क्रियारूपत्वादनुग्रहस्य, वागात्मकत्वादाशिषः ॥

वाक्चक्षुःकर्मसंयतः ॥ १७ ॥

ब्रह्मचारिप्रकरणे ‘वाग्बाहूदरसंयतः’ इत्यनेनैव सिद्धे अतिशयार्थं पुनर्वचनम् । अतो वाक्संयमो मौनम्, अन्यत्र स्वाध्यायजपपथिप्रश्नधर्मयोगप्रश्नेभ्यः—

धर्मयोगं पथिप्रश्नं स्वाध्यायं च तथैव च ।

भिक्षार्थं देहिवचनं न निन्दति यतेरपि ॥

इति स्मृत्यन्तरवचनात् । चक्षुस्संयमः, आत्मनो व्याघ्रेरपीक्षणं न कर्तव्यम् । तथा च वसिष्ठः—‘उपेक्षकस्सर्वभूतानाम्’ इति । कर्मसंयमः यावद्विहितानुष्ठानमात्रं, काम्ये प्रवृत्तिर्मा भूदिति ॥

इदानीं ‘अनिचयो भिक्षुः’ इत्यनेन सर्वस्यौपचयिकद्रव्यस्य परित्यागे सति प्रतिप्रसवः क्रियते—

कौपीनाच्छादनार्थं वासो विभृयात् ॥ १८ ॥

कौपीनमिति नग्नतोच्यते । तदावरणमात्रं वासः परिदध्यात् ।
एवं च प्रशस्तद्विजातिभ्यस्तावन्मात्रप्रतिग्रहे न दोषः । ततश्च—

अभय सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यस्तु निवर्तते ॥

हन्ति जातानजातांश्च प्रतिगृह्णाति यस्सदा ॥

इति स्मृत्यन्तरे यदोपसंकीर्तनं तदस्मादन्यत्रेति द्रष्टव्यम् ॥

प्रहीणमेके निर्णिज्य ॥ १९ ॥

एके मन्यन्ते प्रतिग्रहदाषपरिहारार्थं प्रहीणं यद्रथ्यादौ
त्यक्तं तत्प्रक्षाळ्य परिदध्यात् निर्णिज्येति प्रत्यात्मिकशौच-
प्रापणार्थम् ॥

नाविप्रयुक्तमोषधिवनस्पतीनामङ्गमुपाददीत ॥

ओषधयः फलपाकान्ताः । अपुष्पेण ये फलवन्तस्ते वन-
स्पतयः । उभयग्रहणेन सर्वे स्थावरा अपि गृह्यन्ते । तेषाम-
विप्रयुक्तं ततोऽनपगतं शाखापत्रादि न गृह्णीयात् 'हिसाऽनुग्र-
हयोरनारम्भी' इत्यनेन सिद्धमिति चेत्, तत्र जङ्गमवध एव
हिसोति केचिद्वदन्ति । तदभिप्रायेणोक्तत्वाददोषः । उपशब्दात्
प्रयोजयिताऽपि न स्यात् ॥

ध्रुवशीलत्वोपदेशाद्वर्षाभ्योऽन्यत्र कामचारे प्राप्ते आह—

न द्वितीयामपर्तु रात्रिं ग्रामे वसेत् ॥ २१ ॥

ऋतुशब्देन वर्षा एवोच्यन्ते । अपगते ऋतौ द्वितीयां
रात्रिं ग्रामे न वसेत् । एकस्मिन्ग्रामे दिनद्वयं न वसेदित्यर्थः ।

ग्रामग्रहणादरण्ये न दोषः । अपर्तुग्रहणाद्वर्षासु कदानित्
द्वितीयामपि वसतो न दोषः । वर्षाशब्देन हेमन्तग्रीष्मावुच्येते ।
ततश्च तस्मिन्वर्षाकाले एकत्रैव वसेदन्यत्र न वसेदित्यर्थ-
सिद्धम् ॥

मुण्डशिखी वा ॥ २२ ॥

जटिलप्रतिषेधार्थं आरम्भः । इच्छातो विकल्पः ॥

वर्जयेद्बीजवधम् ॥ २३ ॥

बीजानां ब्रीह्यादीनां यद्य अवहननादि न कुर्यात् ॥

समो भूतेषु ॥ २४ ॥

सर्वप्राणिषु मध्यस्थः स्यात् आत्मपरपक्षविभागवर्जक
इत्यर्थः ॥

हिंसाऽनुग्रहयोरनारम्भी ॥ २५ ॥

ब्रह्मचारिप्रकरणे हिंसाभित्यनेनैव सिद्धे अतिशयार्थमिदं
पुनर्वचनम् । ततश्चाज्ञातेऽपि प्राणिवधे अहरहस्तत्परिहारार्थं
प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् । तथाचाहोशना—‘ अज्ञातवधशुद्धयर्थं रात्रा-
वहस्त्रीन्प्राणायामान्धारयेत् ’ इति । अनुग्रहशब्देन स्नेह उच्यते ।
तमपि न कुर्यादित्यर्थः ॥

भिक्षोरुक्त्वा इदानीं वैखानसधर्ममाह—

वैखानसो वने मूलफलाशी तपश्शीलः ॥

वैखानशसब्दः कृतनिर्वचनः । सोऽरण्ये वसन्मूलाद्यशनशीलः
स्यात्, न सस्कृतमन्नमश्नीयादित्यर्थः । तपश्शीलः शरीरपरि-

शोषणशीलः । एवंच मूलफलाद्यपि स्वल्पमेवाश्रीयान्, स्मृत्य-
न्तरदर्शनात् षोडशकृत्व एव 'वानप्रस्थस्य षोडश' इति ॥

श्रामिणकेनाग्निमाधाय ॥ २७ ॥

श्रामणको नाम वैखानसानां शास्त्रम् । तेनाग्निमाधाय गृही-
त्वा सायंप्रातर्होम कुर्यादिति शेषः ॥

• अग्राम्यभोजी ॥ २८ ॥

मूलफलमपि ग्राम्य न भक्षयेत् ॥

देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः ॥ २९ ॥

ग्राम्यान्नसाधना. गृहस्थस्य पञ्च महायज्ञाः । अस्य चाग्रा-
म्याहारप्रतिषेधात्तन्निवृत्तिर्मा भूदित्यारम्भः । तथाच मनु.—

आरण्यैर्विविधैर्मैर्धैः शाकमूलफलेन वा ।

एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥

सर्वातिथिः प्रतिषिद्धवर्जम् ॥ ३० ॥

यावदस्य आश्रम गच्छति तत्सर्वमस्यातिथिरेव । 'ब्राह्म-
णस्यानतिथिरब्राह्मण' इत्यादिवर्णनियमः सङ्ख्यानियमो वा
नास्तीत्यर्थः । प्रतिषिद्धा. स्तेनादयः प्रतिलोमजाश्च, तद्वर्जम् ॥

वैष्कमप्युपयुञ्जीत ॥ ३१ ॥

विष्कैर्व्याघ्रादिभिर्हतस्य पशोर्मांसं वैष्कम् । तदुपयुञ्जीत ।
अपिशब्दो गर्हायाम् । ततश्चापद्येवोपयुञ्जीत ॥

न फालकृष्टमधितिष्ठेत् ॥ ३२ ॥

अरण्येऽपि फालकृष्टप्रदेशं नाक्रामेत्, आवासं तत्र न कुर्या-
दित्यर्थः । आक्रामेदिति सिद्धे अधितिष्ठेदिति वचनं प्रमादादा-
क्रमतो दोषाभावज्ञापनार्थम् । कृष्टमिति सिद्धे फालग्रहणं क्षेत्र-
समीपे वासप्रतिषेधार्थम् ॥

ग्रामं च न प्रविशेत् ॥ ३३ ॥

अफालकृष्टेनापि मार्गेण जनवासं न प्रविशेत् । चशब्दा-
द्ग्रामान्तरमपि ॥

जटिलश्चीराजिनवासाः ॥ ३४ ॥

जटिल. केशी । जटिल एव स्यादिति नियमार्थ आरम्भः ।
चीरं दर्भादिनिष्पन्नम् । इदमधोवासो द्रष्टव्यम् । अजिनं चर्म ।
उत्तरीयमिदम् । तथाच स्मृत्यन्तरम्—‘चीरवासा अजिनोत्तरी-
यश्च’ इति ॥

नातिसंवत्सरं भुञ्जीत ॥ ३५ ॥

मूलफलमपि गतसंवत्सरं न भुञ्जीत । तथाच मनुः—
‘त्यजेदाश्वयुजे मासि’ इत्यादि । एवञ्च संवत्सरमात्रनिश्चयः
सिद्धः ॥

वैखानसस्योक्त्वा इदानीमेकीयमतेनाश्रमबाधपक्षं वक्तुकाम
आह—

ऐकाश्रम्यं त्वाचार्यः प्रत्यक्षविधानात्

गार्हस्थ्यस्य गार्हस्थ्यस्य ॥ ३६ ॥

एकाश्रमे भवमैकाश्रम्यम् । तुशब्दोऽवधारणे । गार्हस्थ्य-
स्येति कर्मणि षष्ठी । गार्हस्थ्यमेवाचार्या इच्छन्ति । कुतः ?

प्रत्यक्षविधानात् उपलब्धश्रुतिविधानादित्यर्थः । यद्यपि गृहस्थो भवेदित्येवं न विहितम्, तथाऽप्यग्निहोत्रादिगृहस्थसाध्यक्रियाविधानात्तस्यैव विधानं द्रष्टव्यम् ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥

• ब्रह्मचार्यादीनां धर्मा उक्ताः, सांप्रतं गृहस्थस्य धर्मा वक्तव्या इत्यत आह—

**गृहस्थस्सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वा यवी-
यसीम् ॥ १ ॥**

गृहस्थ इति भाविसङ्गत्या व्यपदेशः, स्नातकस्य यावत्पाणिग्रहणं तावदविरुद्धस्य गृहस्थधर्मस्य प्रवेशार्थं । सदृशी जात्या न कुलतः ॥

विद्या प्रणष्टा पुनरभ्युपैति जातिप्रणाशे त्विह सर्वनाशः ॥

कुलापदेशेन यथाऽभिपूज्या तस्मात्कुलीनां स्त्रियमुद्ग्रहेत ॥ स्मृत्यन्तरे उत्कृष्टकुलाया एवाधिगमश्रवणात् । भार्या भरणयां लक्षणयुक्तमित्यर्थः । विन्देत याचेतेत्यर्थः । अनन्यपूर्वामन्यस्य वाचाऽप्यइत्तामित्यर्थः । यवीयसीमात्मनो हीनवयसीमित्यर्थः ॥

• अस्यापवादः—

असमानप्रवरैर्विवाहः ॥ २ ॥

समानप्रवरत्व समानार्थ्यता, तदभावः असमानप्रवरत्व, तैरसमानप्रवरैर्विवाहः कर्तव्यः । असमानप्रवरामिति वक्तव्ये

एवमभिधानं यदि मातृपक्षतः सगोत्रा भवति तदानीमपि दो-
षाभावज्ञापनार्थम् । एवंच पितृपक्षत एव सगोत्राप्रतिषेधः ।
तथाच मनु.—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ॥

इत्यादि ॥

ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यः ॥ ३ ॥

पितृबान्धवाः पितुर्मातुलभगिन्यादयः, तेभ्यः सप्तमादूर्ध्वं
विवाहः । अष्टमात् प्रभृति वा विवाहः कर्तव्य इत्यर्थः ॥

बीजिनश्च ॥ ४ ॥

ऊर्ध्वं सप्तमादित्यनुकर्षणार्थश्चकार । बीजं यत्परक्षेत्रे
उप्तं तस्य जातमात्रादेव । अनेनासमानप्रवरत्वेन प्राप्तै सत्यां
प्रतिषेधः ॥

मातृबन्धुभ्यः पञ्चमात् ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वं विन्देतेति वर्तते । मातृबान्धवाः मातुलमातृष्वस्रा-
दयः । तत्र पञ्चमादूर्ध्वं विवाहः कर्तव्य ॥

इदानीं विवाहविधिमाह—

ब्राह्मो विद्याचारित्रबन्धुशीलसम्पन्नाय दद्यादा-
च्छाद्यालंकृताम् ॥ ६ ॥

ब्राह्म इति विवाहसंज्ञा । विद्या त्रयी । चारित्र्यं चोदित-
कर्मानुष्ठानम् । बन्धुः प्रशस्ताभिजनः । शीलं धर्म एवाभि-
मुखत्वम् । संपन्नशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । आच्छाद्य वस्त्र-

युगलेन वर, अलकृतां भूषणादिभि, दद्यादुदकपूर्वेण । आ-
च्छाद्य अलकृतामित्युत्तरस्मिन्नपि विवाहत्रये द्रष्टव्यम् ॥

संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये सह धर्मश्चर्यतामिति ॥

प्रजापत्य इति विवाहसज्ञा । तस्मिन्प्राजापत्ये विवाहे
संयोगार्थो मन्त्रः संयोगमन्त्रः त प्रदानकाले उक्त्वा दद्यात् ।
कोसौ मन्त्रः ? ‘सह धर्मश्चर्यतां’ इति ॥

आर्षे गोमिथुनं कन्यावते दद्यात् ॥ ८ ॥

आर्ष इति विवाहसज्ञा । तस्मिन्पूर्व वरेण गोमिथुने दत्ते
पश्चादाच्छद्यालकृतां दद्यात् ॥

अन्तर्वेद्यृत्विजे दानं दैवः ॥ ९ ॥

अन्तर्वेदाति प्रक्रान्तयज्ञग्रहणार्थः । ‘ऋत्विक् श्वशुर’ इत्यादौ
क्रियोत्तरकालमपि ऋत्विज इति व्यवहारदर्शनात् । नित्यदक्षि-
णातोऽधिकमिति ज्ञापनार्थं दानग्रहणम् । दैव इति विवाह-
सज्ञा ॥

अलंकृत्येच्छन्त्याः स्वयं संयोगो गान्धर्वः ॥

अलकृत्य स्वयमेवात्माब्रम्, वक्ष्यति—‘उत्सृज्य पित्रयान-
लकारान्’ इति तद्विषयमेतदिति । कामयमाना स्वयमेव वरणे
संयुज्येत, स गान्धर्वो विवाहः ॥

वित्तेनानतिः स्त्रीमतामासुरः ॥ ११ ॥

यत्र धनदानेनानमनं कन्यावतां क्रियते, स आसुरो नाम
विवाहः । कन्यावतामिति वक्तव्ये स्त्रीग्रहणं कन्यादानफल-
निवृत्त्यर्थम् ॥

प्रसह्यादानाद्राक्षसः ॥ १२ ॥

यत्र विक्रमेणादानं स राक्षसः ॥

असंविज्ञातोपसंगमनात्स पैशाचः ॥ १३ ॥

यत्राज्ञातां कन्यां, सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा अन्यव्यापारे वा सक्तामुपगच्छति, स पैशाचो नाम विवाहः । उपगमन-शब्द उपगमनार्थेष्वालिङ्गनादिषु द्रष्टव्यः, क्षतयोन्याः संस्कारा-भावात् । तथा च मनुः—

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ॥ इति ॥

चत्वारो धर्म्याः प्रथमाः ॥ १४ ॥

आद्याश्चत्वार एव धर्मादनपेताः आद्या इति वक्तव्ये प्रथ-मग्रहणं यो यः प्रथमः स स प्रशस्त इत्येवमर्थम् । ततश्च पूर्वस्य पूर्वस्याभाव एव उत्तरोत्तरो द्रष्टव्यः ॥

षडित्येके ॥ १५ ॥

गान्धर्वासुरावपि धर्म्यौ मन्यन्ते । तथा च वसिष्ठः—‘ष-
✓द्विविवाहाः ब्राह्मो दैव आर्षो गान्धर्वः क्षात्रो मानुषः’ इति ।
एवञ्च राक्षसपैशाचावप्यत्यन्तानि कृष्टौ चोदनसामर्थ्यात् पूर्वा-सम्भवे द्रष्टव्यौ ॥

इदानीं तासु जातानां पुत्राणां विशेषार्थमाह—

अनुलोमाः अनन्तरैकान्तरद्वयन्तरासु जाताः

सवर्णाम्बिष्टोग्रनिषाददौष्यन्तपारशवाः ॥

अनुलोमा. वर्णानुपूर्व्येणोत्पन्ना. । ब्राह्मणस्यानन्तरा क्षत्रिया, एकान्तरा वैश्या, द्वयन्तरा शूद्रा क्षत्रियस्यानन्तरा वैश्या, एकान्तरा शूद्रा तस्य द्वयन्तरा नास्ति । वैश्यस्यानन्तरा शूद्रा एकान्तरा तस्य नास्ति । ततश्च ब्राह्मणेनानन्तरायां जातः सवर्णः । क्षत्रियेणानन्तरायां जातः अम्बष्ठः । वैश्येनानन्तरायां जातः उग्रः । ब्राह्मणेनैकान्तरायां जातः निषादः । क्षत्रियेणैकान्तरायां जातो दौष्यन्तः । ब्राह्मणेन द्वयन्तरायां जातः पारशवः ॥

प्रतिलोमाः सूतमागधायोगवक्षत्तृवैदेहक-

चण्डालाः ॥ १७ ॥

प्रतिलोम्येनोत्पन्नाः प्रतिलोमाः । तास्वनन्तरैकान्तरद्वयन्तरास्वेव । क्षत्रियस्यानन्तरा ब्राह्मणी, वैश्यस्यानन्तरा क्षत्रिया, शूद्रस्यानन्तरा वैश्या । वैश्यस्यैकान्तरा ब्राह्मणी । शूद्रस्य क्षत्रिया । शूद्रस्य द्वयन्तरा ब्राह्मणी । क्षत्रियस्यानन्तरायां जातः सूतः । वैश्यस्यानन्तरायां जातो मागधः । शूद्रस्यानन्तरायां जातः आयोगवः । वैश्यस्यैकान्तरायां जातः क्षत्ता । शूद्रस्यैकान्तरायां जातो वैदेहकः । शूद्रस्य द्वयन्तरायां जातश्चण्डालः । एवं तावद्भौतममतम् ॥

इदानीमन्येषां मतेन संज्ञाभेदमाह—

ब्राह्मण्यजीजनत्पुत्रान्वर्णेभ्यः आनुपूर्व्यात्

ब्राह्मणसूतमागधचण्डालान् ॥

ब्राह्मणी जनितवती ब्राह्मणादिभ्यो वर्णेभ्यः आनुपूर्व्यात् ब्राह्मणाद्ब्राह्मणं, क्षत्रियात्सूतं, वैश्यान्मागधं, शूद्राच्चण्डालम् । ससारस्यानादित्वप्रदर्शनार्थमजीजनदिति भूतनिर्देशः ॥

तेभ्य एव क्षत्रिया मूर्धावसिक्तक्षत्रियधीवर-
पुल्कसान् ॥ १९ ॥

अजीजनदानुपूर्व्येणेति च वर्तते । तेभ्य एव ब्राह्मणादि-
भ्यः आनुपूर्व्यात् क्षत्रिया अजीजनत् जनितवती । क्षत्रियायां
ब्राह्मणाज्जातो मूर्धावसिक्तः । क्षत्रियायां क्षत्रियाज्जातः क्षत्रियः ।
वैश्यात् क्षत्रियायां जातो धोवरः । शूद्रात् क्षत्रियायां जातः
पुल्कसः ॥

तेभ्य एव वैश्या भृज्यकण्ठमाहिष्यवैश्यवै-
देहकान् ॥ २० ॥

अजीजनदानुपूर्व्येणेति वर्तते । एव वैश्यायां ब्राह्मणाज्जातो
भृज्यकण्ठः । वैश्यायां क्षत्रियाज्जातो माहिष्यः । वैश्यायां वैश्या-
ज्जातो वैश्यः । वैश्यायां शूद्राज्जातो वैदेहकः ॥

पारशवयवनकरणशूद्रान् शूद्रेत्येके ॥ २१ ॥

एतेभ्य एवानुपूर्व्याज्जनितवती । शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः पा-
रशवः । क्षत्रियाच्छूद्रायां जातो यवनः । वैश्याच्छूद्रायां
जातः करणः । शूद्राच्छूद्रायां जातः शूद्र इत्येव सज्ञाभेदेन
एके आचार्या वर्णयन्ति । एकीयमतेन सज्ञाभेदकथनं च देशा-
न्तरेष्वेतत्संज्ञोपलब्धावपि न जातिभेदो मन्तव्य इत्येवमर्थः ॥

एषामपि च—

वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापिकर्षाभ्यां सप्तमेन ॥ २२ ॥

वर्णशब्देनोत्पादकबीजमुच्यते । यो वर्ण उत्पादकः तद्व-
र्णसंभवोदित्यर्थः । सप्तमेन युगपरिवर्तनेन । अन्तरशब्देन

क्षेत्रमित्युच्यते । ततश्च क्रमो द्रष्टव्यः, उत्कर्षेणोत्पादकवर्णत्व-
मपकर्षेण क्षेत्रवर्णत्वमिति । ततः स्त्रीतः उत्कर्षो मन्तव्यः पुरु-
षादपकर्षश्च । तद्यथा—ब्राह्मणेन क्षत्रियायां मूर्धावसिक्ता जा-
यते । साऽपि मूर्धावसिक्ता तत्रोत्कृष्टबीजगुणा ब्राह्मणेनैव
दुहितरमुत्कृष्टबीजगुणां जनयति, साऽपि ब्राह्मणेनैवेत्येव सप्तमे
युगे ब्राह्मण्येव भवतीत्येवमुत्कर्षः । तथा ब्राह्मणेन क्षत्रियायां
मूर्धावसिक्तो जायते । स क्षत्रियया सम्बध्यमानः पूर्ववत्
क्षत्रिय एव भवतीत्यपकर्षः । एव शूद्रापत्यादावपि सर्वत्र
द्रष्टव्यम् । तथाच मनुः—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रयसा चेत्प्रजायते ।

अश्रेयांच्छ्रेयसीं जातिं प्राप्नोत्या सप्तमाद्युगात् ॥

✓ शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जातमेव च विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ इति ॥

पञ्चमेनाचार्याः ॥ २३ ॥

पञ्चमेनैव युगपरिवर्तनेन वर्णान्तरगमनं भवतीति केचि-
दाचार्या वर्णयन्ति । इदमपि वृत्तापेक्षया द्रष्टव्यम् ॥

सृष्ट्यन्तरजानां च ॥ २४ ॥

सृष्टिश्चत्वारः वर्णास्तदन्तरं मूर्धावसिक्तार्थादः, तेभ्यो जाताः
सृष्ट्यन्तरजाः । वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकारार्थां सप्तमेन पञ्च-
मेनाचार्या इत्यनुकर्षणार्थश्चकारः । ततश्च तत्राप्यनुलोमप्रति-
लोमान् कल्पयित्वा उत्पादकक्षेत्रजात्यन्तरगमनं द्रष्टव्यम् ॥

प्रतिलोमात्तु धर्महीनः ॥ २५ ॥

तुशब्दो विशेषार्थः, सृष्टरपि प्रतिलोमाज्जातः सूतादिः धर्महीनः तदन्तरे प्रतिलोमाज्जातो विशेषत एवेति । धर्मशब्देनोपनयनं द्रष्टव्यम् । एवञ्च अनुलोमानामुपनयनं सिद्धम् । वेदाध्ययने तु प्रतिषेधो द्रष्टव्यः । कुत - 'अनुलोमानामुपनयनमेव न वेदाध्ययनं न पञ्चयज्ञं नौपासनं नाग्निहोत्रं न समित्कार्यं न सन्ध्योपासनमुपनयनमपि तूष्णीमेव' इत्यादिस्मृत्यन्तरदर्शनात् ॥

केचिच्चकार न पठन्ति । तेषामुत्तरसूत्रात् 'शूद्रायां च' इत्यतश्चकारमध्याहृत्य योजनीय 'सृष्ट्यन्तरजानां' इत्यस्मिन्सूत्रे । अपरे 'सृष्ट्यन्तरजानां प्रतिलोमात्तु धर्महीनः' इत्येकमेवेदं सूत्रमिति व्याचक्षत । सर्वत्र व्याख्यानं तुल्यमेव ॥

शूद्रायां च ॥ २६ ॥

अनुलोमानामपि शूद्रायां जात उपनयनादिरहितः । एवञ्च सवर्णाम्बष्ठनिषादानामेवोपनयनम् । तथाच स्मृत्यन्तरम्— 'सवर्णमुपनीय धनुर्वेदं शिक्षयेत्, अम्बष्ठमुपनीय वैद्यशास्त्रं, निषादमुपनीय हस्तिशिक्षां शिक्षयेत्, अन्येषामुपनयनाभावः' इति । केचिदम्बष्ठ्यायां सवर्णाज्जातमुपनीय नृत्तं शिक्षयेदिति वर्णयन्ति । उग्रादयो वृत्तिविशेषेण ज्ञातव्याः । उग्रो हन्ता व्यालमृगादीनां, दौष्यन्तो मत्स्यघातकः, पारशवो भद्रकालीपूजकः, सूतो हयशिक्षकः, मागधो वणिक्पथसेवी, पट्टकुदायोगव, क्षत्ता चाक्रिक, स एव लवणविक्रेता, वैदेहकोऽजपालः, इत्यादि ॥

असमानायां च शूद्रात्पतितवृत्तिः ॥ २७ ॥

उत्कृष्टजातायां शूद्राज्जात. पतितवत्स्पर्शनप्रतिग्रहादौ व-
र्जनीय. इत्यर्थः ॥

अन्त्यः पापिष्ठः । २८ ॥

शूद्रेण ब्राह्मण्यां जातः पापतम. । अतः सोऽत्यन्तं परि-
हर्तव्यः । तथाच स्मृत्यन्तरम्—‘चण्डालमागोवालव्यजनाद्-
च्छेत्’ इत्यादि ॥

तत्रानुलोमानामुपनयनाविधानात्, अन्यायेनोत्पन्नानां तद-
योग्यत्वात् यद्यपि ‘सदृशी भार्या विन्देत्’ इत्यत्र समानजातिष्वेव
चोदित, तथाऽपि प्रथमनिविष्टस्य निकृष्टजातिष्वपि क्रमेण
विवाहोऽस्तीति ज्ञापयति । तथाच वसिष्ठः—‘तिस्रो ब्राह्मणस्य
भार्या वर्णानुपूर्व्येण द्वे राजन्यस्य एकैका वैश्यशूद्रयोः’ इति ।
‘प्रतिलोमशूद्राभ्यां जातो धर्महीनः’ इति वक्तव्ये ‘शूद्रायां
च’ इति पृथक् सूत्रकरणात् शूद्राविवाहस्यापि कथंचिद्योग्य-
तां दर्शयति । ततश्च प्रथममुत्तमजातिषूत्पन्नपुत्रस्य कामिनः
शूद्राविवाहोऽपि मन्त्रवर्जो द्रष्टव्यः । तथाच वसिष्ठः ‘शूद्रा-
मप्येके मन्त्रवर्जम्’ इति । तत्रापिशब्दस्य निन्दार्थत्वादुत्पन्न-
पुत्रस्येति तत्रार्थः । ‘प्रतिलोमात्तु धर्महीनः’ इत्यनेन निकृष्ट-
स्योत्तमाविवाहाभावं दर्शयति । तथाच वसिष्ठः—

छन्नोत्पन्नास्तु ये केचित्प्रातिलोम्यगुणाश्रिताः ।

गुणाचारपरिभ्रंशात् कर्मभिस्तान्विजानीयुः ॥

इत्यादि । छन्नोत्पन्नत्वेन प्रातिलोम्येन विवाहाभाव उक्त इति
तत्रार्थः ॥

विवाहविधिं च पुत्रोत्पादनं चोक्त्वा इदानीं विवाहस्तु-
त्यर्थमाह—

पुनन्ति साधवः पुत्राः ॥ २९ ॥

पुनन्ति दुःखाद्रक्षन्तीत्यर्थः । तथाच व्यासः—

पुदिति नरकस्याख्या दुःखं च नरकं विदुः ।

पुदि त्राणात्ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च ॥

इति । साधवः विवाहेनैवोत्पन्नाः तस्माज्जारत्वेन वा प्रातिलो-
म्येन वा पुत्रोत्पादनं न कर्तव्यम् । पुत्राः शिक्षिताः । कुतः-?
'तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः' इति श्रुतेः ॥

त्रिपुरुषमार्षात् ॥ ३० ॥

आर्षविवाहोढाया जातः पित्रादिपुरुषत्रयं नरकादुद्धरती-
त्यर्थः ॥

दश दैवात् ॥ ३१ ॥

दैवविवाहोत्पन्नो दश पुरुषम् ॥

दशैव प्राजापत्यात् ॥ ३२ ॥

उभयत्र दशेति मा भूदित्येवमर्थं 'प्राजापत्याश्च' इति
नोक्तम् । एवशब्दो विस्पष्टार्थः ॥

दश पूर्वान् दशापरानात्मानं च ब्राह्मीपुत्रो
ब्राह्मीपुत्रः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मविवाहेनोत्पन्नो ब्राह्मः पुत्रः । अतिक्रान्तान् दश भवि-
ष्यांश्च दश पुनाति । उपन्यासक्रमं विहाय व्युत्क्रमेण फला-
भिधानं कन्यादातुरपि प्रतिफलभूयस्त्वदर्शनार्थं, यथा जावा-

लिश्रुतिः—‘यस्संपन्नाय पुत्रीं दद्यात् सोऽग्निष्टोमफलमवाप्नोति’
इति । तथा कौषीतकब्राह्मणमपि—‘तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति
सुहृदः साधुकृत्या द्विषन्तः पापकृत्याम्’ इति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये पौराणिके चतुर्थोऽध्यायः.

• अपत्योत्पादनार्थं कर्मार्थं च भार्यापरिणयनमुक्तम् । तत्र
पूर्वमपत्योत्पादनविधिमाह—

ऋतावुपेयात् ॥ १ ॥

ऋतुर्भग्नहणसामर्थ्येन स्त्रीगतेनोपलक्षितः कालः षोडशा-
होरात्रः । तथाच मनुः—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।

चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विर्गाहितैः ॥

इति । तस्मिन् उपेयादुपगच्छेत्, प्रकृतां भार्यां, प्रहर्षयन् न
तु पशुवत्, उपोपसर्गयोगात् ॥

नायं विधिः, कामत एवार्थप्राप्तत्वात् । नापि नियमः ।
कोसौ नियमः ? पक्षे प्राप्तस्य पुनर्वचनं नियमः इच्छातः
प्रवृत्तिः, ऋतौ गमने चागमने च प्राप्ते ऋतावुपेयादेवेति । अस्मिन्
पक्षे गृहीते अनृतौ न विधिर्न प्रतिषेध इति प्रवृत्तिरेव भवति
मरीचादिवत् । मरीच भक्षयेन्न भक्षयेद्वेति न कचिद्धर्मशास्त्रे
श्रूयते । तथाऽपि शिष्टा भक्षयन्ति, तद्वदत्रापि प्रवृत्तिरेव
भवतीति ‘सर्वत्र वा’ इत्यस्यानारम्भः प्राप्नोति, अगमने प्रा-

यश्चित्तं च । ननु चोभयमपीष्यते, 'यत्र तु प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिः न तत्र शास्त्रमस्ति, तदनुवर्तमानो नरकाय राध्यति इतिच्छातः प्रवृत्तौ नरकपातश्रवणात्तान्नवारणार्थः, 'सर्वत्र वा' इत्यस्यारम्भः । स्मृत्यन्तरे अगमने प्रायश्चित्तं श्रूयते—

ऋतुस्नातां तु यो भार्या सन्निधौ नोपगच्छति ।

घोरायां ब्रूणहत्यायां युज्यते नात्र सशयः ॥

इति । नैतदेवम् । 'यत्र तु प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिः' इत्यादेस्तावदयमर्थः—यत्र यस्मिन्ननुष्ठाने प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिः फलं ज्ञात्वा तत्प्रीत्या प्रवृत्तिः, फलाभिसन्धिना प्रवृत्तिरित्यर्थः, तस्यां प्रवृत्तौ न शास्त्रमस्ति अत्यन्तं न फलतीत्यर्थः । तदनुवर्तमानः फलाभिसन्धिनाऽनुष्ठानं कुर्वन्नरकाय राध्यति नरकं गच्छतीति । सन्ध्योपासनादेः फलाभिसन्धित्यागेनानुष्ठानार्थमिदं वचनम् । तथाच भगवन्वासुदेवः 'मा कर्मफलहेतुर्भू' इत्यादि । यदि सर्वत्र प्रीतिप्रवृत्तिनिवारणं स्यात् तदानीं मरीचादीनामपि शास्त्रं वक्तव्यम्, शास्त्रेण विना नरकपतनं भवतीति । तस्मात् 'सर्वत्र वा' इत्येतदपि शास्त्रेणानुग्रहार्थं न वक्तव्यम् । यच्चोक्तं 'ऋतुस्नातां तु यो भार्या' इत्यादि तदपि ऋतुस्नाताया भार्यायाः आत्मदर्शनार्थं वचनम् । कुतः? जावलिश्रुतिदर्शनात् एवच श्रूयते—'ऋतुस्नाता भार्या यं पूर्वं पश्येत्तादृशं पुत्रं जनयति तस्मात्सन्निधौ भर्तृत्रयं प्रथममात्मानं दर्शयेत्' इति । ततश्चागमने प्रायश्चित्ताभावात् नियमेन दोषाभावः प्राप्नोति । प्राप्तस्य पुनर्वचनं नियम इति येषां पक्षः तेषां नियमाशंकाऽपि नोपपद्यते, ऋतुगमनस्यैव प्राप्त्यभावात् इच्छातः प्रवृत्तिः सर्वत्र भवतीति । तस्मात्परिसङ्ख्यार्थमिदं

सूत्रम् । का च परिसङ्ख्या ? तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ वचनम् ।
इच्छात् प्रवृत्तेः ऋतायनृतौ च प्राप्तौ सत्यां ऋतावेव गमनं
कर्तव्यमिति । इदमप्यनर्थकं 'सर्वत्र वा' इत्यारम्भादिति चेत्
न, व्यवस्थितविकल्पार्थत्वात् । व्यवस्था चैव द्रष्टव्या—यदि पुत्रा-
र्थैव प्रवृत्तिः तदानीमृतावेवोपेयात् । रत्यर्था चेत् 'सर्वत्र वा' इति ।
ऋणत्रयश्रुत्या पुत्रोत्पादनार्थमनुष्ठानार्थं च भार्याग्रहणं न रत्यर्थ-
मिति चेन्न 'रतिपुत्रफला नारी' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् या स्या-
दनतिचारेण रति सा धर्मसञ्चिता' इति वासिष्ठदर्शनात्,
'स्वदारतुष्ट एव भवेत्' इत्यौशनसदर्शनात्, 'अपि नार्यो
विजनिष्यमाणाः पतिभिः सह शयीरन्' इति वाजसनेयश्रुति-
दर्शनात्, 'विरक्तो मिश्रुर्भवोदितरो गार्हस्थ्यं प्रविशेत्' इति
च स्मृत्यन्तरदर्शनात्,

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमा स्युः क्रमशोऽवराः ॥

इति मनुदर्शनात्, ऋणत्रयश्रुत्याऽपि वैकल्पिकाचार्यपक्ष एवा-
नृतौ ब्रह्मचर्योपदेशात् । समुच्चयपक्षे तु यज्ञप्रजाभ्यामित्युदाह-
रणत्वेनोपपद्यमानत्वात्, गार्हस्थ्यचोदनायाः स्मृतिविरोधो मा
भूदिति । तस्मादनष्टरागस्य रत्यर्थमपि दारग्रहणमस्त्येव ।
ततश्च यदि जायापती विरक्तौ भवतः गमनं च पुत्रार्थमेव
तदानीमृतावेवोपेयात् । सरक्तयोः 'सर्वत्र वा' इत्युपपद्यत
इति । तर्हि ऋतावुपगमनमकुर्वतो दोषाभावः प्राप्नोति, स दोष
इति चेन्न, अस्माभिरपि दोषाभावस्यैवेष्ट्यमाणत्वात् । एवमपि
पुत्रार्थिन अनृतौ गमनं कुर्वतः प्रायश्चित्तं प्राप्नोति, स दोष-
इति चेन्न, तस्यैव परिसङ्ख्याफलत्वात् । येषां शास्त्रप्राप्तस्य
पुनर्वचन परिसङ्ख्येति तेषामप्युपपद्यते । तद्यथा—'जातपुत्रो-

प्रीनादधीत' 'त्रिभि ऋणवान् जायते' इति श्रुतेः, 'पुनन्ति साधवः पुत्राः' इति च स्मृते । पुत्रात्पादनार्थं गर्भग्रहणसामर्थ्याद्वतावेव गमने प्राप्ते अनुत्पन्नपुत्रस्य पुनरिदं वचनं अनृतुकालीनगमनप्रतिषेधपरं विज्ञायत इति तस्मात्परिसङ्ख्यैवेयं यद्युपेयाद्वतावेवेति । ननु यदि पुत्रार्थं गमनं तदा उत्पन्नपुत्रस्य न प्राप्नोति इति । उच्यते बहुपुत्रस्याभीष्टत्वात् । यथाऽऽह शङ्खः—

पुत्रपौत्रप्रतिष्ठस्य बह्वपत्यस्य जीवतः ॥

इत्यादि । तथाच श्रुतिः—'दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि' इति । तस्मात्परिसङ्ख्यार्थं सूत्रमिति स्थितम् ॥

सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम् ॥ २ ॥

पर्वादीनि प्रतिषिद्धानि । यथाऽहं मनुः—

अमावास्यामष्टमी च पौर्णमासी चतुर्दशीम् ।

ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥

इति । वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः । अन्ये तु व्याचक्षते—ऋतावुपेयादित्यनेन ऋतावेव सकृद्गमनं चोद्यते । सर्वत्र वेत्यनेन सर्वस्मिन् काले सकृद्गमनमिति । तदयुक्तं 'ऋतावुपेयात् द्विरेकतो वा अनृतौ कामतः' इति श्रुतिदर्शनात्—

देवपितृमनुष्यऋषिभूतपूजकः ॥ ३ ॥

एते पञ्च महायज्ञाः । तत्र देवपूजकशब्देन वैश्वदेवमुच्यते । पितृपूजक इति पित्रर्थं ब्राह्मणं भोजयेन्नित्यमिति । तथाच मनुः—

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थं पाञ्चयज्ञिके ।

न चैवात्राशयेत्किञ्चिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥

इति । अन्नासम्भवे पयो दद्यात्, तदसम्भवे मूलं, तदसम्भवे फलं, सर्वासम्भवे उदकम् । तथाऽऽह मनुः—

दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।

पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥

इति । तत्रापि सर्वासम्भवे उदकमिति द्रष्टव्यम् । मनुष्यपूजक इति अतिथिपूजनमुच्यते । तत्राप्यन्नासम्भवे आसनार्थं तृणं दद्यात्, तदसम्भवे सवेशनार्थं भूमि, शीतापनोदार्थमग्नि, पङ्कापकर्षणार्थमुदकं, मधुरां च वाणीम् । यथाऽऽह वसिष्ठः—
'तृणभूम्यग्न्युदकवाक्सूनृतानसूयाः सतां गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन' इति । स्वयमपि च वक्ष्यति अतिथिपूजनम् । तच्छेषः वसिष्ठोक्तः द्रष्टव्यः । भूतपूजक इति वैश्वदेवोत्तरकाल दिग्देवताभ्यो बलिहरणम् । ऋषिपूजक इति नित्यस्वाध्यायः । अग्निपरिग्रहणात् प्रागेपामभिधानमनग्निकस्यापि लौकिकेऽग्नौ प्राप्त्यर्थम् । ततश्च शूद्रस्य पाकयज्ञपक्षेऽपि लौकिकेऽग्नौ द्रष्टव्यम् । तथा अवकीर्णिहोमश्च ॥

नित्यस्वाध्यायः ॥ ४ ॥

नित्यस्वाध्याय इति ब्रह्मयज्ञोऽभिधीयते । पूर्वमृषिपूजक इत्यनेनाभिहित एव इतरानुष्ठानाशक्तावपि स नित्यं विगुणोऽपि कर्तव्यः । पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण ऋषियज्ञ इति वक्तव्ये स्मृत्यन्तरोक्तस्य विधेः प्रापणार्थमेवमभिधानम् । तथा चाहोशना—
'अथ ब्रह्मयज्ञे दर्भेष्वानीनो दर्भान् धारयमाणः प्राङ्मुख उद-

इमुखो वा प्रणवव्याहृतिसावित्रीपूर्वं वदानामेकदेशं पठेत्
वेदानामादि वा ऋग्यजुस्साम्नामेक वा त्रिर्वा प्रणवमैतिहासिक
श्लोक वा समाहितः' इत्यादि ॥

पितृभ्यश्चोदकदानम् ॥ ५ ॥

चकारादेवतानामृषीणां च । उदकमिति सिद्धे दानग्रहण
तर्पणपूर्वत्वज्ञापनार्थम् । तथाच स्मृत्यन्तरम् -

देवतानामृषीणां च तर्पयित्वा समाहितः ।

पश्चादद्यात् पितॄणां च स्वध्यापूर्वं तिलैस्सह ॥

इति । नित्य पितृभ्य उदकदानचोदनयैव अहरहस्स्नानमप्यर्था-
त्सिद्धं, तत्पूर्वकत्वादुदकदानस्य, तथाच मनु —

नित्य स्नात्वा शुचिः कुर्यात् देवर्षिपितृनर्पणम् ।

इति । उदकदान द्विविधम्, यदप्सु दीयते यदाकाशे चेति ।
ननु च भूम्यामेव चोद्यते, नाप्सु, यथाऽऽह भृगु —

नोदकेषु न पात्रेषु न क्रुद्धो नैकपाणिना ।

नोपतिष्ठति तत्तोयं यद्भूम्यां न प्रदीयते ॥

इति । तथा बृहस्पतिरपि—

उदके नोदकं दद्यात्पितॄभ्यस्तु कदाचन ।

उत्तीर्य तु शुचौ देशे कुर्यादुदकतर्पणम् ॥

इति । नैतदेवं—स्मृत्यन्तरे विरुद्धाभिधानात् विषयविभक्तकथ-
नाच्च, यथा चाहोशना—

आपो देवगणास्सर्वे आपः पितृगणाः स्मृताः ।

तस्मादप्सु जल देयं पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥

इति । तत्र कात्यायनो विषयविभागमाह—

• देवानां च पितॄणां च जले दद्याज्जलाञ्जलिम् ।

असंस्कृतप्रमीतानां स्थले दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥

इति । तर्पणायुदकदानान्तमुभाभ्यां हस्ताभ्यां द्रष्टव्यम् । उद-
कदाने तावददोषः, जलाञ्जलिमिति वचनात् । तर्पणे तु नोप-
पद्यते, नैकपाणिनेत्यस्यस्य विरुद्धवाक्य श्रवणात् । तथाच भृगुः—

उभाभ्यामपि हस्ताभ्यामुदकं तर्पयन् द्विजः ।

स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाकिञ्चराः ॥

इति । नैष दांषः, विभागवाक्यश्रवणात् । तथा चाह बृह-
स्पतिः—

श्राद्धे सेचनकालश्चेत् एकपाणि प्रदापयेत् ।

तर्पणे तूभयं कुर्यादेष धर्मस्सनातन ॥

इति । तस्मादेकमप्स्वेव चोद्यते । आकाशे यच्चोद्यते तदप-
रम् । यथाऽऽह भृगुः—

नाभिमात्रे जले स्थित्वा चिन्तयन्नुर्ध्वमानसः ।

आगच्छन्तु मे पितर इमं गृह्णन्त्वपोऽञ्जलिम् ॥

त्रिस्त्रिजलाङ्गलिमाकाशे उच्चैरुच्चतरं बुधः ।

उक्त्वा चोक्त्वा क्षिपेठारि वाग्यतो दक्षिणामुखः ॥

पितॄणां स्थानमाकाशं दक्षिणा दिक्तथैव च ।

तस्मात्तथा सदा दत्त पितॄणां स्यात्तदक्षयम् ॥

इति । पितॄणां यद्वियते तत्सर्वं तिलैर्दर्भैश्च सह द्रष्टव्यम्,—
यथाऽऽह भृगुः—

तिलदर्भयुतं वारि स्वधया यत्प्रदीयते ।
तत्सर्वममृतं भूत्वा पितॄणामक्षय भवेत् ॥

इति । तस्मादेव पितृभ्य उदकदानं कर्तव्यम् ॥

यथोत्साहमन्यत् ॥ ६ ॥

ब्रह्मयज्ञोदकदानाभ्यां यदन्यदवशिष्टं गृहस्थधर्मरूपं तद्यथाशक्ति कुर्यात्, उत्साहवचनात् । ततश्च मुख्यासम्भवे अमुख्येनापि कर्तव्यम्, उदाहृतं च 'पयोमूलफलैर्वाऽपि' इत्यादि ॥

भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा ॥ ७ ॥

भार्याशब्देन विवाहो लक्ष्यते, अग्निशब्देनौपासन, वैवाहिकमग्निमौपासनरूपेण धारयेदित्यर्थः ॥

कोचदेव व्याचक्षते—जातकाग्निरेव पारंपर्यागतस्य विवाहोत्तरकालमौपासनरूपेण धारणार्थमभिधानमिति । तदयुक्तम्—'विवाहं कुर्वन् लौकिकमग्निमाधाय' इति गृह्यस्मृतेः । यदि जातकाग्निरेवागच्छति तदानीं तत्र लौकिकग्रहणं न करोति । ततश्चाशुचित्वात् जातकाग्निस्त्यक्तव्य एव ॥

यदा वा अस्य भ्रातृभिः पित्रा वा सह विभागः तत्र वाऽग्निपरिग्रहणं कुर्यात् । विवाहोत्तरकालमपि द्रव्यापेक्षया विकल्प, कर्मणां द्रव्यसाध्यत्वात् । यो हि द्रव्यवान् स विवाहकाले परिगृह्णीयात् निस्स्वो दायकाल इति ॥

केचिद्विवाहात्प्रागपि दायादिकमग्निं परिगृह्णीयादिति व्याचक्षते । तदयुक्तम्—'विधुरः पुनर्निविष्टः पुनराग्निं च गृह्णीयात् अभार्यस्याग्न्यभावात्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् ॥

कथमवगम्यते स्मार्तस्यैव धारणं न श्रौतस्येति ? जा-
तपुत्रोऽग्नीनादर्थात्' इति श्रुतेः, तत्राप्यग्नीनिति बहुवचनप्र-
योगात् ॥

तस्मिन्गृह्याणि ॥ ८ ॥

तस्मिन्नेवौपासने गृह्याणि कर्माणि पुंसवनादीनि कुर्यात् ।
ग्रहणपक्षे इदम् । अगृहीतश्चेल्लौकिकेऽग्नावेव द्रष्टव्यानि ॥

देवपितृमनुष्ययज्ञाः स्वाध्यायश्च ॥ ९ ॥

देवयज्ञो वैश्वदेवः । पित्रर्थं ब्राह्मणभोजनं पितृयज्ञः ।
मनुष्ययज्ञोऽतिथिपूजनम् । एतेषामग्निस्म्वन्धोऽपि - वैश्वदेवस्य
प्रसिद्धः, पितृयज्ञस्य तद्भोजनार्थः पाकः, मनुष्ययज्ञस्याप्यति-
थिभोजनार्थः पाकः, स्वाध्यायशब्देन ब्रह्मयज्ञ उच्यते । तस्यै-
कीयमत एवाग्निसम्बन्ध इति विसमासः । तथा चाहोशना—
'उदकसमीपे अथ ब्रह्मयज्ञः' इत्यारभ्य ब्रह्मयज्ञमुक्त्वा 'अग्निसमीपे
इत्येकेषाम्' इति । एषां गृह्योक्तकर्मत्वादेव सिद्धमिति चेत्, न
आशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात्पुनरभिधानस्य । काऽऽशङ्केति चेत्, देव-
यज्ञादीनां पूर्वं लौकिकेऽग्नौ विधानात्तत्रैव तेषामधिकारः, नौ-
पासने । 'तस्मिन्गृह्याणि' इत्यनेनापि तद्वर्जितानां गृह्यकर्मणा-
मेव ग्रहणं, तेषां पूर्वं पृथगभिधानादिति कस्य चिदाशङ्का
स्यादिति । एवं च तेषामुभयत्राधिकारः । ततश्चाग्निसमोऽपि
लौकिकेऽग्नौ कृते न दोषः । ततश्च बादरायणसूत्रं—'अग्नि-
मतोऽपि वचनेन निषिद्धाः पञ्चयज्ञाः आहिताग्नेः' इति ॥

बलिकर्म ॥ १० ॥

अनेन भूतयज्ञ उक्त । आशङ्कानिवृत्त्यर्थमेवास्याभिधानम् । चकार. पूर्वसूत्रादधिक्रियते तस्मिन्नेवेत्यनुकर्षणार्थम् । वैश्वदेवानन्तरमेव कर्तव्यं न पृथगित्येवमर्थं पृथक्पुनः करणम् । तथाच गृह्यकार.—‘पूर्वं देवानां हुत्वा पश्चाद्बलिं हरेत्’ इति । पूर्ववद्भूतयज्ञ इति वक्तव्ये एवमभिधानं वैश्वदेवात्पृथग्धविस्सूचनार्थम् । ततश्च सिद्धस्यान्नस्य वैश्वदेवार्थं भूतयज्ञार्थं चैकदेशं गृह्णीयान् । तथाच जैमिनिः—‘अशनस्य बलीं वर्धयित्वा’ इति द्विवचनं सायंप्रातः कर्तव्यार्थम् । कर्मग्रहणं वैश्वदेवस्यापि सायंप्रातः कर्तव्यार्थम् । तथाच गृह्यस्मृतिः—‘सायंप्रातर्वैश्वदेवं बलिहरणं च’ इति । ‘अथ सायंप्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्’ इत्यादि ॥

अनुक्तगृह्यकाराणामपि सामान्यप्रवेशनार्थमिदानीं वैश्वदेवमाह—

**अग्नावग्निर्धन्वन्तरिर्विश्वे देवा प्रजापतिः स्वि-
ष्टकृदिति होमाः ॥ ११ ॥**

होमग्रहणादेव लभ्यमानस्याग्नेः सुसामिद्धेऽग्नौ होमार्थं पुनर्वचनम् । होमा इति बहुवचनमेकाहुतिप्रतिषेधार्थम् । होमग्रहणं च स्वाहाकारप्रदर्शनार्थम् । इतिकरणं चतुर्थ्युपसङ्ग्रहणार्थम् । विसमासो मन्त्रान्तरप्रसिद्धार्थः । ततश्चाग्नये स्वाहा, धन्वन्तरये स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा । स्विष्टकृच्छब्दोऽग्न्युपपदश्चतुर्थ्यन्तो द्रष्टव्यः, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति । एतावान्वैश्वदेवः ॥

इदानीं भूतयज्ञविधिमाह—

दिग्देवताभ्यश्च यथास्वम् ॥ १२ ॥

पूर्वं दिग्देवताभ्यो बलि हरेत् । इन्द्राग्निमनिऋतिवरुण-
वायुसोमेशानानां प्राच्यादिप्रदक्षिण, ऊर्ध्वं विष्णुः, अधोऽनन्तः
इन्द्राय नम इति मन्त्रोऽत्र द्रष्टव्यः । चशब्दात्तत्पुरुषेभ्यश्च ।
ततश्चेन्द्रपुरुषेभ्यो नम इत्यादि द्रष्टव्यम् । यथास्व यथास्थान-
मित्यर्थः ॥

• दार्षु मरुद्भ्यः ॥ १३ ॥

बहुवचनात्सर्वेषु । मरुद्भ्यो नम इति द्रष्टव्यः । अत्र तत्पु-
रुषचोदना नास्ति, चकाराभावात् ॥

गृहदेवताभ्यः प्रविश्य ॥ १४ ॥

प्रविश्येति वचनात् पूर्वं गृहाद्बहिर्द्रष्टव्यम् । ततश्च गृहा-
द्बहिरेकास्मिन्देशे गोमयेन मण्डलं कृत्वा दिग्देवताभ्यो बलिह-
रणं कृत्वा ततो बाह्यान्तरेषु च द्वारेषु बलिहरणं कृत्वाऽभ्य-
न्तरमेव प्रविश्य गृहदेवताभ्यो बलि हरेत् । ताः श्रचादयः,
यथा चाहोशना—‘ शयनस्य शिरस्स्थाने श्रियै नम इति दद्यात्
पादस्थाने भद्रकाल्यै नम इति, कोष्ठागारे धनपतये नम इति,
स्तम्भनिलये रुद्राय नम इति, गोष्ठे मित्राय नम इति, उत्लू-
खलमुसलयोर्वरुणाय नम इति, कूपे अहये बुध्न्याय नम इति,
पेषण्यामग्निसमीपे चैताभ्यो देवताभ्यो नम इति दद्यात्’ इति ॥

• ब्रह्मणे मध्ये ॥ १५ ॥

गृहमध्ये ब्रह्मणे नम इति दद्यात् ॥

अद्भ्य उदकुम्भे ॥ १६ ॥

अद्भ्यो नम इत्युदकुम्भे दद्यात् ॥

आकाशायेत्यन्तरिक्षे ॥ १७ ॥

आकाशाय नम इत्यन्तरिक्षेऽङ्गणप्रदेशे दद्यात् । इतिशब्दः प्रकारवाची । ततश्च मृत्यवे नम इत्यन्नशालायां, अजायैकपदे नम इति फलकेषु चेति द्रष्टव्यः ॥

नक्तंचरेभ्यश्च सायम् ॥ १८ ॥

सायं चेत् फलकाबलिहरणादूर्ध्वं आकाशे नक्तंचरेभ्यो नम इति दद्यात् । चकार पूर्वसमुच्चयार्थः, इतरथा नक्तंचरेभ्य एव स्यादिति ॥

स्वस्ति वाच्य भिक्षादानमपूर्वम् ॥ १९ ॥

स्वस्तीति भिक्षुकं वाचयित्वा तत उदकदानपूर्वमस्मै भिक्षादानं कर्तव्यम् । भिक्षादाने स्त्रिया अधिकारात् तस्या एव च याचितत्वादतस्तामेव कारयेद्गृहस्थः । केचिद्व्याचक्षते वैश्वदेवानन्तरमेव विधानादग्रमैक्षस्यायं विधिर्न सामान्यस्येति । तेषां पक्षे स्वस्तिवाचनं पुरुषेणैव कारयितव्यमिति द्रष्टव्यम् ॥

ददातिषु चैवं धर्म्येषु ॥ २० ॥

ददातिशब्देन हिरण्यादिदानमुच्यते । धर्म्यग्रहणान्न दृष्टार्थ मित्रादिभ्यो दानत् । एवमेव उदकपूर्वं दद्यात् । चकारादेव सिद्धे एवंशब्दः समस्तप्रापणार्थः । ततश्च यथा भिक्षादानं स्त्रीकृतमपि भर्तुरनुज्ञया प्रमाण भवति तद्वद्धिरण्यादिदानमपि प्रमाणं भवति । तथाच नारदः—

स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि कार्याण्याहुरनापदि ।

विशेषतो गृहक्षेत्रदानधर्मन्निविक्रयाः ॥

एतान्येव प्रमाणानि भर्ता यद्यनुमन्यते ।

इत्यादि । भिक्षादानमपि भर्तुरनुज्ञया विना न कार्यम् । तथाच मनुः—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता ।

न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं कार्यं किञ्चिद्गृहेष्वपि ॥ इति॥

समद्विगुणसाहस्रानन्तानि फलान्यब्राह्मणब्रा-
ह्मणश्रोत्रियवेदपारगेभ्यः ॥ २१ ॥

पात्रविशेषात्फलविशेषप्रतिपादनार्थोऽयमारम्भः । समं ई-
षत्फलमित्यर्थः । अब्राह्मणाय दत्तं हिरण्यादि भैक्षं वा । अब्रा-
ह्मणशब्देन उपनीतमात्र उच्यते । तथा चाहोशना—‘येन वेदा
अनधीतास्तद्वृतानि च नानुष्ठितान्यब्राह्मण एव सः’ इति । अ-
ब्राह्मणशब्दं ब्राह्मण एव प्रयुक्तवान् । द्विगुणं भवति ब्राह्म-
णाय दत्तम् । ब्राह्मणशब्देनानुष्ठितवेदव्रतो अनधीतवेद उच्यते
यथाऽऽह वसिष्ठः—

यश्च काष्ठमयो हस्ती यश्च चर्ममयो मृगः ।

यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥

श्रोत्रियाय दत्तं सहस्रगुणं भवति । श्रोत्रियशब्देन एकशाखा-
ध्यायी उच्यते । यथाऽऽह बोधायनः— एकां शाखामधीत्य
श्रोत्रियो भवति’ इति । अनन्त वेदपारगाय दत्तम् । वेदपार-
गशब्देन साङ्गवेदाध्याय्युच्यते । यथाऽऽह कण्वः—‘येन साङ्गो
वेदोऽधीतः स वेदपारगो भवति’ इति । एषां पूर्व फलभि-

धानात् । एव जातिविशेषादपि द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह प्रजा-
पतिः—

शूद्रे समफलं दानं वैश्ये च द्विगुणं भवेत् ।
क्षत्रिये त्रिगुणं प्राहुरमितं ब्राह्मणे भवेत् ॥ इति ॥

एवं फलविशेषापेक्षया दानफलमुक्त्वा इदानीं तत्प्रसङ्गे-
नान्यमपि दानप्रकारमाह—

गुर्वर्थनिवेशौषधार्थवृत्तिक्षीणयक्ष्यमाणाध्ययना-
ध्वसंयोगवैश्वजितेषु द्रव्यसंविभागो बहि-
र्वेदि ॥ २२ ॥

गुरुग्रहण मातृपितृभृत्यानां चोपलक्षणम् । यथाऽऽह मनुः—

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् ।

गुर्वर्थं पितृभृत्यार्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनौ ॥

इत्यादि । निवेशनार्थं च । एवं याचित्वाऽपि निवेशः कर्तव्यः ।
इदमपि समुच्चयपक्षे द्रष्टव्यम् । औषधार्थं अर्थग्रहणे प्रस्तुते
पुनरर्थग्रहणमेभ्यो विद्याविशेषतोऽर्थस्यापि गुरुलाघवज्ञापनार्थम्,
निस्स्वेभ्य एव दातव्यमित्येवमर्थं वा । यथाऽऽह मनुः—

निस्स्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥

इत्यादि । वृत्तिक्षीणः आपन्नः । यक्ष्यमाणः नित्ययज्ञार्थमिदं
वचनम् । ततश्च 'अलं सोमाय, नासोमयाजी, स सोमं' पातु-
मर्हति' इत्येवमादीनि स्मृत्यन्तरवाक्यानि काम्ययज्ञे द्रष्टव्यानि ।
याचित्वाऽपि यक्ष्यमाणत्वान्नित्ययज्ञस्य । अध्ययनार्थं वेदाध्य-
यनार्थं, अध्वसंयोगः अध्वनि वर्तमानः, क्षीणः पथ्यदानार्थं

च संयोगग्रहणात् । वैश्वजितो विश्वजिता येनेष्टम् । एभ्यः संविभणः कर्तव्यः हिरण्यादेरपि, द्रव्यग्रहणात् । नियमेन कर्तव्यम्, समुपसर्गप्रयोगात् । वैश्वजितस्य आसंबत्सरात् या-
ज्जाप्रतिषेधात् अप्रार्थयमानायैव देयम् । इतरेभ्योऽप्रार्थयमाने-
भ्यो वा प्रार्थयमानेभ्यो वा दद्यात् । द्रव्यविभागश्च यथाऽऽत्म-
नः कुटुम्बव्यसनं न भवति तथा कर्तव्य, व्युपसर्गप्रयोगात् ।
तत्रैकदेशो दातव्य इत्यर्थः । बहिर्वेदिग्रहणादन्तर्वेद्यन्येभ्योपि ।
एवं च नियमेन कर्तव्यत्वात्तदकुर्वतो न केवल फलाभाव एव ।
किं तर्हि ? प्रत्यवायश्च भवति । तर्हि तत्कुर्वतोपि तत्प्रत्य-
वायाभाव एव प्रयोजनं न फलार्थमिति चेत्, न—विद्याविशे-
षत इति लिङ्गात्प्राप्तविशेषात्फलविशेषोऽस्तीति ज्ञापयति । तथा
च व्यासः—

गुरुनिवेशौषधार्थं स्वाध्यायार्थं च भारत ।

अध्वन्यपि प्रपृत्तस्य यागार्थं च तथैव च ॥

कृतवैश्वजितस्यापि वृत्तिक्षीणस्य पार्थिव ।

दत्त्वा विद्याविशेषेण स्वर्गलोके महीयते ॥

इत्यादि । ततश्च सन्ध्योपासनादिवद्द्रष्टव्यम् । यथा सन्ध्योपा-
सनमकुर्वतः प्रत्यवायः, कुर्वतः प्रत्यवायाभावश्च फलप्राप्तिश्चेति ॥

भिक्षमाणेषु कृतान्नमितरेषु ॥ २३ ॥

उक्तव्यतिरिक्तेषु भिक्षमाणेषु कृतान्नं दद्यात् । इतरेभ्य
इति केचित् पठन्ति, तेषामप्ययमेवार्थः । ननु च 'स्वस्ति
वाच्य भिक्षादानम्' इत्यनेनैव सिद्धत्वादेतन्न वक्तव्यमिति । उच्ये-
ते—इतिकर्तव्यतामात्रं तत् । इदं पुननियमेन भिक्षा दातव्ये-
त्येवमर्थमिति । एवं चेत् इदमपि सन्ध्योपासनादिवद्द्रष्टव्यं, अ-

विशेषेणोक्तत्वात् । दानं च बहिवद्यन्तर्वेदि च । कृतान्नग्रह-
णात् तण्डुलादेरनियमः । भैक्षमितरेष्विति वक्तव्ये—भिक्षमा-
णेष्विति वचनात् भवति भिक्षां देहीत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रार्थयमा-
नेष्वेव नियमः । अथवा भिक्षार्हाणामेवायं नियम इति । य-
थाऽऽह वसिष्ठः—

अत्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः ।

तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः ॥

इति । तत्र भिक्षादाने यतेर्हस्तेऽप्युदकदानं कर्तव्यम्—यथाऽऽह
भृगुः—

यतिहस्ते जलं दद्याद्भैक्षं दद्यात्पुनर्जलम् ।

भैक्षं पर्वतमात्रं स्यात्तज्जलं सागरोपमम् ॥

इति ॥

दानापवादमधुनोच्यते—

प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ते न दद्यात् ॥ २४ ॥

अधर्मसंयुक्तः गुर्वार्थमुद्दिश्य यः प्रार्थयते न च करोति तस्मै
प्रतिश्रुतमपि न दद्यात् । अपिशब्दात्संकल्पितमपि ॥

अधर्मसंयुक्तत्वं न यस्य कस्यचिद्वचनात् प्रतिपत्तव्यमि-
त्याह—

क्रुद्धहृष्टभीतार्तलुब्धबालस्थविरमूढमत्तोन्मत्त-
वाक्यान्यनृतान्यपातकानि ॥ २५ ॥

क्रोधहर्षभयरोगलोभाविष्टानां बालादीनां च वचनेनाधर्मसंयु-
क्तत्वं नाध्यवसेयं, अप्रमाणत्वात्तेषां वचनस्य । वाक्यग्रहणम-
न्यत्राप्येषां वचनस्याप्रामाण्यप्रसिद्धार्थम् ॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा इदानीं प्रकृतमाह—

भोजयेत्पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणीसु *
वासिनीस्थविरान् जघन्यांश्च ॥ २६ ॥

आत्मन प्रथममेतान्भोजयेत् । अतिथिर्वक्ष्यमाणः । कुमारो
बालः । व्याधितो रोगार्त । सु' वासिन्यो गर्भयुक्ता दुहितर । स्थ-
विरा वृद्धा । जघन्या परिचारकाः । चशब्दात् दीनानाथादयः
उपसङ्गह्यन्ते । विसमास क्रमनियमार्थ । ततश्च यथाऽनुग्राह्य-
मेतान्भोजयेत् ॥

आचार्यपितृसखीनां तु निवेद्य वचनक्रिया ॥

यो ह्येतस्मिन्काले आचार्यादीनां कश्चिद्गृहमागच्छेत्ततः सि-
द्धमन्नं निवेद्य तस्मै तदुक्तस्य वचनस्य करणं यत्ते ब्रूवते
तत्कुर्यादित्यर्थः । तुशब्दो नियमार्थः, तदेव कुर्यान्न कचिदपि
स्वतन्त्रेण भवितव्यमिति । वचनक्रियेत्युक्तत्वाद्यदि ते न कि-
ञ्चिद्ब्रूवन्ति तदानीं स्वतन्त्रेण भवितव्यम् ॥

ऋत्विगाचार्यश्चशुरपितृव्यमातुलानामुपस्थाने
मधुपर्कः ॥ २८ ॥

ऋत्विगादीनां तु गृहागमने सति मधुपर्केण पूजा कर्त-
व्या प्रथम, उपस्थानग्रहणान्न द्वितीयादौ । मधुपर्कविधिश्च
गृह्ये द्रष्टव्य ॥

संवत्सरे पुनः ॥ २९ ॥

पूजितास्ते यदि संवत्सरात्पुनरागच्छेयुस्तदा पुनरपि मधुपर्को देयः, नार्वाक् ॥

यज्ञविवाहयोरर्वाक् ॥ ३० ॥

अर्वागपि संवत्सराद्यज्ञे विवाहे चागतानां मधुपर्को देयः । यज्ञे ऋत्विजां श्रुतित एव मधुपर्कदानस्य सिद्धत्वात् श्वशुराद्यर्थ आरम्भः ॥

राज्ञश्च श्रोत्रियस्य ॥ ३१ ॥

राज्ञश्चोपस्थाने मधुपर्को देयः श्रोत्रियश्चेत् । पृथग्रहणादर्वागपि संवत्सरात् । चकाराद्वत्त्वं च ॥

अश्रोत्रियस्यासनोदके ॥ ३२ ॥

यदि राजा अश्रोत्रियो भवति तस्यासनोदकमात्रेणैव पूजा कर्तव्या ॥

श्रोत्रियस्य तु पाद्यमर्घ्यमन्नविशेषांश्च प्रकारयेत् ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणस्य श्रोत्रियस्य । कुत एतत् ? पुनः श्रोत्रियग्रहणात् । वैश्वार्थं चेत्, न 'वैश्यो मधुपर्केण न मान्यः तस्मात्तं भोजयेदेव' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । तुशब्दो विशेषार्थः । स यदि वृत्तसम्पन्नो भवति तस्योपस्थाने पादप्रक्षालनार्थं पूजार्थं चोदकं देयम् । पाद्यमर्घ्यमिति विसमासात् मधुपर्कश्च अन्नविशेषाः मुद्गोदनादिभेदाभिन्नाः । चकारादुपदंशादिविशेषाश्च । प्रोपस-

गर्द्धतबहुलम् । तथाच श्रुतिः--‘ब्राह्मणायाभ्यागताय सर्पिष्म-
दन्नं प्रचति’ इति ॥

असामर्थ्ये तु सति—

नित्यं वा संस्कारविशिष्टम् ॥ ३४ ॥

यदेवास्य गृहे नित्यमन्नं तदेवोपदेशेन बहुलेन विशिष्टं
साधारणात् ॥

मध्यतोऽन्नदानमवैद्ये साधुवृत्ते ॥ ३५ ॥

यस्त्वश्रोत्रियो ब्राह्मणः साधुवृत्तो भवति वृत्तवान्भवति
तस्मिन्नुपस्थिते मध्यमेन संस्कारेणान्वितं देयमन्नम् । अन्नग्र-
हण नियमार्थं अन्नमेव देयं न पाद्यादीनि । अश्रोत्रियत्वादेव
संस्कार*वियोगो मा भूदित्येवमर्थं दानग्रहणम् ॥

विपरीते तु तृणोदकभूमि ॥ ३६ ॥

तुशब्दात् उभयविपरीते । ततश्च यदि विद्वान् असाधु-
वृत्तो भवति तस्यापि ‘नित्यं वा संस्कारविशिष्टः’ इत्येवं
द्रष्टव्यम् । न तृणोदकभूमिमात्रमेव देयम् ॥

स्वागतमन्ततः ॥ ३७ ॥

स्वागतं सूनुतां वाचमित्यर्थः । अन्ततः आपदि तृणोद-
कादीनामसम्भवे सति सूनुतां वाचमुच्चारयेदित्यर्थः ॥

पूजाऽनत्याशश्च ॥ ३८ ॥

सूनुतवचनादुत्तरकालं पूजा कर्तव्या । अनवज्ञाकरणमेव पूजा । ततश्चावज्ञा न कर्तव्येत्यर्थः । अनत्याशश्च ग्रासमात्र-
मप्यभोजयित्वा स्वयं अन्ततः आपदि न भोक्तव्यमित्यर्थः ॥

शय्यासनावसथानुव्रज्योपासनानि सदृक्छ्रेय-
सोः समानि ॥ ३९ ॥

आत्मना तुल्यस्य चाधिकस्य चातिथे. शय्यादीन्यात्मतु-
ल्यानि कर्तव्यानि । शय्या खट्वादि, आसनं फलकादि, आ-
वसथं अपवरकादि, अनुव्रज्या अनुगमनं, उपासनं नमस्का-
रादि । अनुव्रज्योपासनयोरात्मतुल्यत्वासम्भवादात्मनस्तुल्यस्य
चाधिकस्य चानुव्रज्योपासनं च कर्तव्यमित्येवमर्थ उपदेशः ।
शय्यासनादि त्वात्मन साम्येन कर्तव्यम् । आत्मन एव साम्यं
न परस्परयोः, उत्तमस्य सम्भावनीयत्वात् । तथाच वक्ष्यति—
'समासमाभ्यां विषमसमे पूजात' । अनर्चितं च' इति । ततश्च
सदृक्छ्रेयसोरात्मापेक्षया तुल्यानि परस्परापेक्षया अतुल्यानीति
द्रष्टव्यम् ॥

अल्पशोऽपि हीने ॥ ४० ॥

ईषद्धीनेऽपि समानि कर्तव्यानि ॥

अतिथिलक्षणमाह—

असमानग्रामोऽतिथिरैकरात्रिकोऽधिवृक्षसूर्यो-
पस्थायी ॥ ४१ ॥

अन्यग्रामजः एकरात्रवसनशील मध्याह्नादूर्ध्वमुपस्थितोऽ-
तिथिरवगन्तव्यः । एवरूपाय नियमेन दातव्यम् । अदाने च

प्रत्यवायः । विसमासादेकलक्षणहीनोऽपि न भवति । अधिवृ-
क्षसूर्यगब्देन सायंकाल उच्यते । तथाच वसिष्ठः—‘सायमा-
गतंमतिथिं नापराध्यात्’ इति ॥

किं पुनरतिथिर्वक्तव्य इत्यत आह—

कुशलानामयारोग्याणामनुप्रश्नोऽन्त्यं शूद्रस्य ॥

आनुपूर्वेणातिथिः प्रष्टव्यः । कुशलं ब्राह्मणस्य, अनामयं
क्षत्रियस्य, आरोग्यं शूद्रस्यैव । ततः वैश्यस्य स्मृत्यन्तरोक्तं
द्रष्टव्यम् । तथाऽऽह मनु.—

ब्राह्मण कुशलं पृच्छेत्क्षत्रवन्धुमनामयम् ।

वैश्य क्षेम समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ इति ॥

ब्राह्मणस्यानतिथिरब्राह्मणोऽयज्ञे संवृतश्चेत् ॥

ब्राह्मणस्य क्षत्रियादिरुक्तलक्षणयोगे सत्यपि नातिथिः ।
अतश्च नियमतो न देयम् । अयज्ञे यज्ञादन्यत्र । यज्ञे तु भव-
त्येव । स चेद्ब्राह्मणः संवृतः दीरद्रो भवति । यज्ञादन्यत्रा-
पि प्रभूतान्नस्य तु भवत्येव । ब्राह्मणस्येति वचनात् क्षत्रि-
यादेर्भवत्येव । ब्राह्मणस्याब्राह्मणनिषेधाद्ब्राह्मणस्य ब्राह्मणो भव-
त्येव ॥

भोजनं तु क्षत्रियस्योर्ध्वं ब्राह्मणेभ्यः ॥४४॥

तुशब्दः पक्षसूचनार्थः । अतिथिपक्षे भुक्तवत्सु ब्राह्मणेषु
क्षत्रिव भोजयेदिति ॥

अन्यान् भृत्यैस्सहानृशंसार्थमानृशंसार्थम् ॥

अन्यान्वैश्यादीन्भृत्यैर्दासभृत्यकर्मकरादिभिः सह भोजयेत्

सति विभवे । यद्यप्यतिथिर्न भवति, तथाऽप्यानुशंसार्थमनु-
कम्पार्थं प्रत्याख्याने नृशसता लोके स्यादिति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

इदानीमतिथिपूजनाप्रसङ्गेनान्येषामप्यन्यं पूजाप्रकारमाह—

पादोपसङ्ग्रहणं समवायेऽन्वहम् ॥ १ ॥

पादयोरुपश्लेषण उपसर्गद्वयप्रयोगात् स्मृत्यन्तरोपदिष्टेन
विधिना कर्तव्यम् । यथाऽऽह मनु. —“व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुप-
सङ्ग्रहणम्” इत्यादि । समवाये सङ्गमे । अन्वहं प्रतिदिनम् ।
कर्तव्यमिति शेषः । वक्ष्यमाणानां सङ्गमे इति द्रष्टव्यम् ॥

अभिगम्य तु विप्रोष्य ॥ २ ॥

विप्रकृष्टदेशान्तरप्रत्यागतेनाभिमुख्येन तद्गृहं गत्वा कर्त-
व्यम् । तुशब्द आदरोपसङ्ग्रहार्थः । ततश्च न यादृच्छिकद-
र्शनमुदीक्षेत ॥

केषां पुनरिदं कर्तव्यमित्यत आह—

**मातृपितृतद्वन्धूनां पूर्वजानां विद्यागुरूणां तद्गु-
रूणां च ॥ ३ ॥**

मातापितरौ प्रसिद्धौ । तद्वन्धवः मातुलमातामहपितृव्य-
पितामहादयः । पूर्वजाः आत्मनां भ्रातरो ज्येष्ठा । विद्यागु-
रव ये अङ्गाध्यापयितारः, पूर्वं वेदाध्यापयितुरुक्तत्वात् । तद्गु-

रव. तेषां पित्रादीनां ये विद्यागुरवः । चकाराद्गुरुसख्यादीनामपि ।
एषां समवाये अन्वह, अभिगम्य च विप्रोष्य । पूर्वजादीनां
विसमासः. तच्छवशुरादिगुरूपसङ्ग्रहणार्थः ॥

संनिधाने परस्य ॥ ४ ॥

यदैकस्मिन्देशे बहूनां समवायः. तदा य परः प्रधानः
तस्य प्रथमं कर्तव्यम् । स चोक्तः 'आचार्यः श्रेष्ठो गुरुणाम्'
इत्यादिना ॥

स्वनाम प्रोच्याहमयमित्यभिवादो ज्ञसम- वाये ॥ ५ ॥

स्वनाम पित्रादिकृतः, तत्प्रकर्षेणाचार्यं तदनन्तरमहशब्दं
चोक्त्वा अयमिति प्रत्यक्षोपदेशः, तदर्थोऽस्मिन्शब्दः प्रयोक्तव्यः ।
इतिशब्दः प्रकारवाची । अन्ते, गुरोर्नाम्नः प्रकृतत्वात्, भोश-
ब्दश्च । 'देवदत्तनामाऽहमस्मि भो' इति प्रयोज्यः । अस्मि-
न्नुपसङ्ग्रहणकाले एवमभिवादः. आभिमुख्येनोच्चारणं कर्तव्यमि-
त्यर्थः । ज्ञसमवाये प्रत्यभिवादनविधिज्ञसमवाय इत्यर्थः । प्रत्य-
भिवादनविधिश्च स्मृत्यन्तरे द्रष्टव्यः । यथाऽऽह मनुः—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।

अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वोक्षरः. प्लुतः ॥

इति । तथाच वसिष्ठोऽपि—'आमन्त्रिते स्वरोऽन्त्यः प्लवते स-
न्ध्यक्षरमप्रगृह्यम्' 'आयाव्भावं चापद्यते, तथा भोभाविति' ।
आयुष्मान्भव सौम्य विष्णुमित्रा अ आयुष्मान्भव सौम्य दाशर-
थाय, इत्येवमादयः प्रयोगाः. प्रत्यभिवादनविधौ द्रष्टव्याः । अज्ञ-
समवाये तु उपसङ्ग्रहणं न कर्तव्यम् । एवमभिवादनं च । कि

तत्र कर्तव्यमिति चेत् - अभिवादय इत्येतावदंशं वक्तव्यम् । अभिवादनमेव कुर्यात्, यथाऽऽहापस्तम्ब- 'दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादीति, उरस्समं राज्ञ्यो मध्यसमं वैश्यो नोचैश्शूद्रः प्राञ्जलिं प्लावनं च' इत्यादि । एवंच- 'व्यत्यस्तपाणिना' इत्यादिरुपसङ्ग्रहणविधिः आपस्तम्बोक्तोऽभिवादनविधिरित्यवगन्तव्यः ॥

स्त्रीपुंयोगेऽभिवादानेऽनियममेके ॥ ६ ॥

जायापतिविषये जायया भर्तुरभिवादाने कर्तव्यं प्राप्त इत्यर्थः । यद्यपि भर्ता प्रत्यभिवादनज्ञः, तथाऽप्यनियममेके इच्छन्ति अहमयमित्येवमादिनियमो नास्ति, येन केनचित्प्रकारेण कर्तव्यमिति । न तु गौतमः, स तु अहमयमित्येवमादिना नियमेनैव कर्तव्यमिति । वैदग्ध्यापेक्षया विकल्पः ॥

नाविप्रोष्य स्त्रीणाममातृपितृव्यभार्याभगिनीनाम् ॥ ७ ॥

अविप्रोष्य न स्त्रीणां उपसङ्ग्रहणं कर्तव्यम् । माता प्रसिद्धा । पितृव्यभार्या पितुरनुजस्य भार्या । भगिनी सौदरा ज्येष्ठा । एता वर्जयेत्वा । आसामन्वहमुपसङ्ग्रहणं कर्तव्यम् । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

उपसङ्ग्रहणं कुर्यान्मातरं भगिनीं तथा ।

पितृव्यभार्यां च तथा सौऽन्वहं त्वभिगम्य तु ॥

इति । अन्यासां गुरुस्थानीयानां विप्रोष्य प्रत्यागतेनाभिवादनमुपसङ्ग्रहणं वा कर्तव्यम् । तत्रात्यन्तगुरुस्थानीयानां मातुलभार्यादीनां उपसङ्ग्रहणं अन्यासामभिवादनमिति द्रष्टव्यम् ॥

नोपसङ्ग्रहणं भ्रातृभार्याणां श्वश्र्वाश्च ॥ ८ ॥

विप्रांश्च प्रत्यागतेनाप्यत्यन्तगुरुस्थानीयद्वारेण प्राप्तं प्रतिषिध्यते । ततश्चाभिवादनं सिद्धम् । विसमासः सख्युपसङ्ग्रहणार्थः । श्वशुरसखिभार्योपसङ्ग्रहाणार्थश्चशब्दः ॥

ऋत्विक्द्रवशुरपितृव्यमातुलानां तु यवीयसां
प्रत्युत्थानमनभिवाद्याः ॥ ९ ॥

ऋत्विगादीनामात्मनो यवीयसामुपस्थितानां प्रत्युत्थानमात्रेणैव पूजा कर्तव्या । यस्मादनभिवाद्याः अतो नोपसङ्गाह्या अपि । तुशब्दो विशेषवाची, समानवयसश्च नाभिवाद्याः, विशेषतो यवीयांस इति ॥

तथाऽन्यः पूर्वः पौरोऽशीतिकावरः शूद्रोऽप्यप-
त्यसमेन ॥ १० ॥

यथैते नाभिवाद्याः प्रत्युत्थयास्तथाऽयमप्यन्यः ऋत्विगादिभ्यः पूर्वो वयसा, पौरः समानस्थानवासी, अशीतिकावरः दृढमशीतिवर्षस्थ इत्यर्थः । ततश्च तत्प्रभृत्येव द्रष्टव्यश्शूद्रोऽपि । अपिशब्दात् क्षत्रियवैज्यावपि । अपत्यसमेन, ब्राह्मणेन क्षत्रियेण वैश्येन वा अन्य असमानजातीयोऽपि । अन्यशब्दः सत्यपि अपत्यसमशब्दः समानजातीयविषय एवेति कस्याचिदाशङ्का स्यादिति ॥

अवरोऽप्यार्यशूद्रेण ॥ ११ ॥

अवरोऽप्यत्यन्तनिकृष्टवयस्कोऽपि आर्यो द्विजातिः शूद्रेण

प्रत्युत्थेयः । शूद्रग्रहण वैश्यादीनामप्युपलक्षणं, ततश्च शूद्रेण ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः प्रत्युत्थेयाः, वैश्येन ब्राह्मणक्षत्रियौ, - क्षत्रियेण ब्राह्मण इति द्रष्टव्यः । नमस्कारसमुच्चयार्थः अपिशब्दः ॥

नाम चास्य वर्जयेत् ॥ १२ ॥

अस्यग्रहण वीप्सार्थम्, अस्यास्येति । उत्तमस्योत्तमस्य निकृष्टो निकृष्टो न नामोच्चारयेत् । मिरुपपदमिति शेषः । चशब्दात्परिहसन च । ततश्चोत्तम उत्तमो निकृष्टस्य निकृष्टस्य नामकारं गृह्णीयात् ॥

राज्ञश्चाजपः प्रेष्यः ॥ १३ ॥

राज्ञश्च नाम वर्जयेत् प्रेष्यः प्रेषणकरणः ब्राह्मणः । निकृष्टत्वात् प्राप्तस्य प्रतिषेधः । स चेदजपः अश्रोत्रिय इति यावत् । चकाराद्वैश्यापि । शूद्रस्य तु न दोषः ॥

भो भवन्निति वयस्यस्समानेऽहनि जातः ॥

भो भवन्नित्येवमभिधातव्यः । भोभवन्शब्दौ च कार्यापेक्षया प्रयोक्तव्यौ । एतावत्येव पूजा । यो वयस्यः सखा तस्य लक्षणं समानेऽहनि जात इति । अहश्शब्दोत्र सवत्सरपर्यायः, 'अब्दस्संवत्सरमहर्जलम्' इति नैखण्डुके सवत्सरपर्यायश्रवणात् । ततश्च समाने संवत्सरे जातः । लोकेऽपि च तुल्यसंवत्सरजातेषु समानवयस्त्वं प्रसिद्धम् । ततश्चोर्ध्वं संवत्सरादूर्ध्वो भवति ॥

दशवर्षवृद्धः पौरः ॥ १५ ॥

भो भवन्निति वर्तते । भो भवन्निति वयस्यवदभिभाष्य इत्यर्थः । दशवर्षवृद्धोऽपि पौरः समानस्थानवासी ॥

पञ्चभिः कलाभरः ॥ १६ ॥

समनस्थानवास्यपि यः कलाभिर्गान्धर्वचित्रपत्रच्छेदादिभिः
कलाविद्यादिभर्जीवति स पञ्चवर्षैर्वृद्धोऽपि वयस्यवदभिभाष्यः ॥

श्रोत्रियश्चारणस्त्रिभिः ॥ १७ ॥

श्रोत्रियः मन्त्रब्राह्मणाध्यायी । चारणः समानचरणः ।
केचिन्मृत्तगीतादिशीलं वर्णयन्ति । तद्युक्तम्, कलाभरशब्दे-
नैव गतत्वात् ॥

राजन्यवैश्यकर्मा विद्याहीनः ॥ १८ ॥

राजन्यकर्मणा वा वैश्यकर्मणा वा य उपजीवति स उ-
त्कृष्टकर्माऽपि तत्स्थः, तत्कर्मोपरमणात्प्रागत्यन्तवृद्धोऽपि । यश्च
विद्याहीनः, सोऽपि विद्योत्कृष्टस्य ॥

दीक्षितश्च प्राक्क्रयात् ॥ १९ ॥

यो वयस्यत्वयुक्तोऽपि दीक्षितः सः सोमविक्रयात् प्रागेव
वयस्यः । ततः परं मान्य इत्येवमर्थ उपदेशः । चकारादुत्त-
माश्रमस्थोऽपि त्रिवृत्प्राशनात् प्रागेवेति सामर्थ्याद्दृष्टव्यम् ।
तथाऽऽहोशना—'येन त्रिवृत्प्राशितः स सर्वेषां गुरुर्भवति' इति॥

वित्तबन्धुकर्मजातिविद्यावयांसि भान्यानि ॥

वित्तादीनां साक्षान्मान्यत्वासम्भवात्तद्वन्तो भान्या इति
द्रष्टव्यम् । वित्तवान् धनाढ्यः, बन्धुमान् विशिष्टसौन्दर्यादि-
बहुलः, कर्मवान् यथाक्तकारी, जातिमानभिजनयुक्तः, विद्यावा-
नधीतवेदेशास्त्रः, वयोवान्प्रकृष्टवयः ॥

परवलीयांसि ॥ २१ ॥

यद्यत्परं तत्तत्पूर्वस्मात्पूर्वस्माद्गुणतर विज्ञेयम् । ततश्च वित्तवतो बन्धुमान्मान्यः, उभाभ्यामपि कर्मवानित्यादि योज्यम् । मानमभिवादनादि ॥

श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीयः ॥ २२ ॥

श्रुतं वेदार्थपरिज्ञानम् । ननु च पूर्वसूत्र एवैतदन्त उपदेष्टव्यम् । ततश्च परवलीयस्त्वादेवैतत्सिध्यतीत्यतः पृथगुपदेशोऽनर्थः ॥ उच्यते—विशेषार्थोऽयं पृथगागमः । विशिष्टं श्रुतमत्राभिप्रेत, तच्च वेदार्थपरिज्ञानम् । पूर्वं वेदमात्रपाठ एव । तद्विशेषाभिधाय्येव तु गच्छेत् । ततश्चायं सर्वेभ्यो मान्यः । कुतः—

तन्मूलत्वाद्धर्मस्य ॥ २३ ॥

यच्छ्रुतवानाचरति तदपि धर्मस्य मूलत्वेन पूर्वमेव प्रतिपादितं 'तद्विदां च स्मृतिशीले' इति । तथाच मनुः—

वेदोऽखिलो धर्ममूल स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

इति । अथवा वेदार्थपरिज्ञानपूर्वकत्वात् स्मृतं । यथाऽऽह मनुः—

श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु तथा स्मृतिम् ॥ इति ॥

श्रुतेश्च ॥ २४ ॥

श्रुतेरपि स एव गरीयान् । श्रुतेरपि मनुनोक्तं शैशवब्राह्मणं द्रष्टव्यम्—

अध्यापयामास पितृन् गिशुराङ्गिरसः कविः ।

• पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥
इत्यादि । श्रुत्युदाहरणोपादानं श्रुतस्याध्ययनप्रकर्षे सति बली-
यस्त्वज्ञापनार्थम् ॥

चक्रिदशमीस्थानुग्राह्यवधूस्नातकराजभ्यः पथो,

• दानम् ॥ २५ ॥

चक्रयादीनामतद्रूपैरन्यैः पथो दानेनोपकर्तव्यम् । चक्रं
शकटं ततः चक्री । दशमीस्थो दशम्यां दशायां वर्तमानः अ-
त्यन्तवृद्ध इत्यर्थः । अनुग्राह्यां रोगार्तं । वधूर्गर्भिणीत्येवमादिः ।
स्नातको विद्याव्रतस्नातकः । राजा अभिषिक्तः ॥

राजब्राह्मणयोः समागमे—

राज्ञा तु श्रोत्रियाय श्रोत्रियाय ॥ २६ ॥

तुशब्दां विशेषणार्थः । यदि राजाऽल्पतरः स्यात् श्रोत्रि-
यस्त्वधिकसम्पन्नः प्रकृत एव स्नातकः, ततस्तस्मै राज्ञा प-
न्था देयः । एव चान्यै राज्ञ एव देयः । पूर्वेषामपि यथाऽ-
नुग्राह्य परस्परसन्निधाने द्रष्टव्यम् ॥

इति गौतमभाष्ये मरकरीये षष्ठोऽध्यायः समाप्तः

‘श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीयः’ इति विद्याप्राधान्यमुक्तम् ।
तदधिगमश्च ब्राह्मणान् कर्तव्यः, तस्यैव प्रवचनाधिकारात् ।
यदा तु प्रवचनसमर्थब्राह्मणाभावः तदा कथमित्यत आह—

आपत्कल्पो ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः ॥

आपत्कल्प इत्याऽध्यायपरिसमाप्तेराधिकारः क्रियते । आपत् प्रवचनसमर्थब्राह्मणाभावः, तत्र यः कल्पः विधिः सः आपत्कल्पः । आपद्यपि क्षत्रियवैश्ययोर्ब्राह्मणादेव विद्याधिगमप्राप्त्यर्थं ब्राह्मणग्रहणम् । अब्राह्मणा क्षत्रियवैश्याः, इतरेषामध्ययनाधिकाराभावात् । तत्रापि प्रथमं क्षत्रियात्ततो वैश्यादिति द्रष्टव्यम्, 'तदलाभे वैश्यवृत्तिः' इति दर्शनात् । विद्याश्चतुर्दश । तथा स्मृत्यन्तरम्--

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।

पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्यास्त्वेताश्चतुर्दश ॥

इति । उपयोगः स्वीकरणम्, युजेः सम्बन्धवचनत्वात् । अनयैवान्यथाऽनुपपत्त्या क्षत्रियवैश्ययोर्ध्यापनमनुमीयते । तदप्यदृष्टार्थमेव--

पण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।

याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥

इति । ब्राह्मणस्यैव दृष्टार्थं नेतरयोरिति मनुना प्रतिषिद्धत्वात् । अब्राह्मणादध्ययनमिति वक्तव्ये विद्योपयोग इत्यारम्भः आपदि अब्राह्मणादध्ययनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थः । ततश्च ब्रह्महत्यादौ सर्वस्वदानचोदनायां प्रतिग्रहसमर्थब्राह्मणाभावेऽपि क्षत्रियादेर्न दातव्यम् ॥

इदानीमध्ययनद्वारेण समस्तशुश्रूषाप्राप्तावाह--

अनुगमनं शुश्रूषा ॥ २ ॥

गच्छतः पृष्ठतोऽनुगमनमात्रमेव शुश्रूषा । नान्यदभिवाद-

नादि कर्तव्यम् । अध्ययनकालादन्यदैतदुच्यते, तत्रार्थप्राप्तत्वात् ॥

संमाप्ते ब्राह्मणो गुरुः ॥ ३ ॥

संमाप्ते अध्ययनेऽनुगमनमात्रमपि न कर्तव्यम् । ब्राह्मण-
स्यैव तेनाध्यापकेन कर्तव्यम् ‘अनुगमनं शुश्रूषाऽऽसंमाप्तेः’ इति
वक्तव्ये ब्राह्मणो गुरुरिति वचनात् ॥

• इदानीमन्योऽप्यापत्कल्प उच्यते—

याजनाध्यापनप्रतिग्रहास्सर्वेषाम् ॥ ४ ॥

सर्वग्रहणेनाप्रशस्तास्त्रय एव वर्णा गृह्यन्ते प्रशस्तानामना-
पदि विधानात्, शूद्रस्य ‘वृत्तिश्चेन्नान्तरेण शूद्रात्’ इत्यार-
म्भात् । पञ्चम्यन्तः सर्वशब्दः प्राप्नोतीति चेत्—सकाशादित्य-
ध्याहारान्न दोषः । सर्वेषामिति बहुवचनमनुलोमोपसङ्गहार्थम् ।
ब्राह्मणस्यैतदुच्यते, अधिकारात्, ‘तदलाभे क्षत्रवृत्तिः’ इति च
लिङ्गात् । ततश्चास्यामवस्थायां गर्हितयाजनादिभिर्न दोषः, शा-
स्त्रचोदनासामर्थ्यात् । तथाऽऽह मनु —

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।

दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ।

सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ॥

इत्यादि । तथाच श्रुतिः—‘तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं
प्राप्नुयात्’ इति ॥

पूर्वः पूर्वो गुरुः ॥ ५ ॥

एषां याजनादीनां यो यः पूर्व निर्दिष्टः स स उत्तर-
स्माद्गुरुर्ज्ञेयः । ततश्च उत्तरेणोत्तरेण जीवनासम्भवे पूर्वेण पूर्व-

ण जीवेदिति क्रमप्रतिपादनार्थं पूर्ववचनम् । क्रमलङ्घने प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्, पूर्वं पूर्वं सन्निति वक्तव्ये गुरुग्रहणः ॥

तदलाभे क्षत्रवृत्तिः ॥ ६ ॥

स्यादिति शेषः । पूर्वप्रकारायाः ब्राह्मणवृत्तेरलाभे क्षत्रवृत्तिः सवादिना उपजीवन रक्षणादिना वा । तद्ग्रहणमत्यन्त-निर्गुणाऽपि ब्राह्मणवृत्तिरेव वरमिति ज्ञापनार्थम् । तथाच मनुः—

* श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥

इति । ‘तथा वा क्षत्रवृत्तिः’ इत्युक्ते अभावे वैकल्पिकेन वा-शब्देनैव ब्राह्मणवृत्त्यभावे क्षत्रवृत्तिरिति लक्ष्यमाने अलाभग्रहणं क्षत्रवृत्त्या जीवतोपि यदा ब्राह्मणवृत्तिरेव जीवनायालं भवति तदा क्षत्रवृत्तिमुत्सृज्य ब्राह्मणवृत्तिरेवाश्रयितव्येति । तथाच नारदः—

आपदं ब्राह्मणस्तीर्त्वा क्षत्रवृत्त्या भूते जने ।

उत्सृजेत् क्षत्रवृत्तिं तां कृत्वा पावनमात्मनः ॥

तदलाभे वैश्यवृत्तिः ॥ ७ ॥

अलाभग्रहणं वृत्तिसङ्करो मा भूदिति । एवञ्च सङ्करेऽपि प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । तद्ग्रहणमुक्तव्याख्यानम् । अत्र तु विधानाभावादेव उत्तमवृत्त्याश्रयणप्रसङ्ग एव नास्ति । यथाऽऽह वसिष्ठः—‘न तु कदाचिज्ज्यायसीम्’ इति ॥

* ‘वरं स्वधर्मो विगुणं न पापक्यं स्वनुष्ठितम् ।’ इति मन्स्मृतिकोशोप-लब्धं पाठं “श्रेयानित्यादिस्तु” भगवद्गीतास्थं पाठं, समानार्थं ।

तस्यापण्यम् ॥ ८ ॥

तद्ग्रहणं ब्राह्मणस्यैव, न क्षत्रियस्य वैश्यवृत्तिस्थितस्येति । एवंच वैश्यस्यार्थसिद्धं विक्रेयत्व प्रतिपिद्ध त्यक्त्वा दत्त्वा प्रतिपिद्धस्याप्रतिपिद्धस्य चादानम् । तदभावे अपण्यमपि विक्रेयम् ॥

• किं तदपण्यमित्यत आह—

गन्धरसकृतान्नतिलशाणक्षौमाजिनानि ॥ ९ ॥

गन्धमनुलेपन, रसस्तैलादि, कृतान्न मोदकादि, तिलाः प्रसिद्धा, शाण शणविकार, क्षौमं क्षुमा अतसी तद्विकारः । विकारप्रतिषेधात् प्रकृतेरप्रतिषेधः । अजिनं चर्म ॥

रक्तनिर्णिक्ते वाससी ॥ १० ॥

रक्तं लाक्षादिविकृत, निर्णिक्तं प्रक्षालितम् ॥

क्षीरं सविकारम् ॥ ११ ॥

क्षीरं पयः विकारैः सह दध्यादिभिः । इह विकारग्रणात् तिलविकाराणामप्रतिषेधो विज्ञायते । अथवा यत्र केवलस्य क्षीरस्यैव निर्देशः तत्र सविकारस्यापि ग्रहणमित्येवमर्थं विकारग्रहणम् । यः पूर्व पक्षः तस्मिन् शाणक्षौमयोर्विकारनिर्देशः प्रकृतिप्रतिषेधार्थ इति वक्तव्यम् ॥

मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणोदकापथ्यानि ॥

मूलं हरिद्रादि, फल क्रमुकफलादि, पुष्पं दमनकादि, औषधं मसूरादि, मधु माक्षिकादि । रसग्रहणेनैव मधुनः प्रति-

षेत्रे सिद्धे 'सर्वथा तु वृत्तिरशक्तौ' इत्यत्रापि पक्षे प्रतिषेधार्थं पुनर्वचनम् । मांसोदके प्रसिद्धे । तृणं प्रसिद्धं, अपथ्यं विषम् ॥

पशवश्च हिंसासंयोगे ॥ १३ ॥

पशवो गवादय हिंसासंयोगे न विक्रेयाः । योग इति सिद्धे उपसर्गारम्भाद्यजमानहस्तेऽपि न विक्रेया । तत्र हिंसायां दोषाभावात् हिंसासंयोगो नास्तीति चेत्, सत्यम्, स तु यजमानस्यैव, नेतरस्येति । चशब्दान्मयूरादीनि च ॥

पुरुषवशाकुमारीवेहतश्च नित्यम् ॥ १४ ॥

पुरुषो मनुष्यः, तद्ग्रहणं स्त्रिया अपि, जातिवचनत्वात् । तथाच श्रुतिः—'पुरुषशीर्षमुपदधाति न स्त्रिया.' इति । वशा. वन्ध्या गौः । कुमारी गौरेव । मनुष्यकुमार्याः स्त्रीत्वान् पुरुषग्रहणेनैव सिद्धत्वात् । वेहत् गर्भघातिनी, साऽपि गौरेव, पूर्वोक्तेनैव न्यायेन । चशब्दः काकवन्ध्याद्युपसङ्ग्रहणार्थः । नित्यं, हिंसासंयोगादन्यत्रापीति केचित् । तदयुक्तम्, हिंसासंयोगे पशुत्वादेव सिद्धे पुनरारम्भसामर्थ्यादेवान्यत्र लब्धुं शक्यत इति । नित्यशब्देन द्रव्यं विशेषयन्ति नित्यमेवरूपा इति । तदप्ययुक्तम्, पुरुषादयः कदाचिदप्यनेवरूपा न भवेयुरिति । ततश्च नित्यशब्दोऽन्येषां तिलादीनामनित्यत्वसूचनार्थः । ततः स्वयं कृष्योत्पादितानां तिलादीनां विक्रेयत्वं, अन्यथोत्पादेतानामविक्रेयत्वमिति द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह वसिष्ठः—'कामं वा स्वयं कृष्योत्पाद्य तिलान्विक्रीणीरन्' इति । तिलानपि विक्रीणीरन् किं पुनरन्यानिति तत्रार्थः ॥

भूमिब्रीहियवाजाव्यश्वर्षभधेन्वनडुहश्चैके ॥ १५ ॥

भूमि. गृह 'क्षयो वेश्म गृह भूमिर्निकेतनम्' इत्यादिनै-
घण्टुके गृहपर्यायश्रवणात् । ब्रीहि. प्रसिद्ध, यवश्च, तद्ग्रहण
धान्योपलक्षणम् । अज. छाग. । अवि प्रसिद्ध । अश्वो हयः ।
ऋषभ. पुङ्गव. । धेनुर्दोग्ध्री । अनङ्गान् शकटवहनसमर्थो बलीवर्दः ।
एते न विक्रेया हिंसासंयोगादन्यत्रापीत्येके आचार्याः, न तु
गौतमः । उष्ट्रोपसङ्ग्रहणार्थश्चकारः । यथाऽऽहोशना—'उष्ट्रर्षभह-
या न विक्रेया' इति । नित्यत्वानुकर्षणार्थश्च इत्येके ॥

निमयस्तु ॥ १६ ॥

कर्तव्य इति शेषः । निमय. द्रव्याभ्यां प्रतिषिद्धाभ्यां
परिवृत्ति । नुशब्दो विशेषवाची, समतो हीनतो वाऽपि नि-
मय. कर्तव्य । तथाच वसिष्ठ.—'समतो हीनतो वाऽपि नि-
मातव्य' इति ॥

रसानां रसैः ॥ १७ ॥

निमये कर्तव्ये रसानां तैलादीनां रसैर्गुडादिभिरेव निम-
य. कर्तव्य इति नियमार्थस्सूत्रारम्भ ॥

पशूनां च ॥ १८ ॥

तृतीयान्तपशुशब्दप्रापणार्थश्चकार, पशूनां पशुभिरिति ।
प्रतिषिद्धविक्रयपशुविषय द्रष्टव्यम् । अप्रतिषिद्धानां विक्रेयत्वा-
देव सिद्धत्वात् ॥

न लवणकृतान्नयोः ॥ १९ ॥

लवणं रसान्तरेण न निमातव्यम् । रसानां रसैरिति निय-

मात्प्राप्त प्रतिषिद्धयते । कृतान्न येनकेनचिदपि द्रव्यान्तरेण, प्रा-
प्त्यभावात् ॥

तिलानां च ॥ २० ॥

निमयप्रतिषेधानुकर्णार्थश्चशब्द —येनकेनचिदपि निमयो ना
स्तीत्यर्थः । आपदि धान्येन समेन निमयाभ्यनुज्ञानार्थं पृथग्र-
हणम् । तथाऽऽह मनुः—‘तिला धान्येन तत्समाः’ इति ॥

इदानीं कृतान्नस्य प्रतिप्रसवार्थमाह—

समेनामेन तु पक्वस्य सम्प्रत्यर्थे ॥ २१ ॥

समेन तुल्येनामेन सह पक्वस्य निमयो भवति । सम्प्र-
त्यर्थे यदि तस्मिन्नेव काले कृतान्नमुपभुज्यते । तुशब्द समविशे-
षवाची, ततश्च तण्डुलेनेति द्रष्टव्यम् । केचित्—तेनैव प्रका-
रेण निमयः कर्तव्यः नान्येनेति नियमार्थं तुशब्दमाहुः । तद-
युक्तं, सूत्रारम्भसामर्थ्यादेव नियमसिद्धेः । यदि येनकेनचि-
न्निमयो भवेत्तदानीं ‘निमयस्तु’ इति सामान्यविहितेनैव सि-
द्धत्वादनारम्भः सप्राप्नोति । ततश्च रसादीनि यानि द्रव्याणि
तानि द्रव्यविशेषैरेव निमातव्यानि । शेषाणां त्रयाणां येन के-
नचिदिति द्रष्टव्यम् । तण्डुलैः प्रस्थादिपरिमितैः सह तन्मा-
त्रैरेव पक्वान्नस्य नियमः कर्तव्य इत्यर्थः । एवंच—‘गन्धरस-
कृतान्न’ इत्यत्र कृतान्नशब्दस्तण्डुलेष्वपि वर्तत इति ज्ञापयति ।
अन्यथा विक्रयप्रतिषेधामावान्निमयारम्भो न प्राप्नोति, यस्मा-
त्प्रतिषिद्धानामेव निमयारम्भ इति ॥

सर्वथा तु वृत्तिरशक्तावशौद्रेण ॥ २२ ॥

प्रतिषिद्धविक्रयनिमयजात्यन्तरवृत्तिसमुच्चयैरपि जीवेत् ।

अशक्तौ अत्यन्तापादि, अशौद्रेण तत्रापि शूद्रवृत्तिं उच्छिष्टाश-
नशिल्पवृत्त्यादि वर्जयेत् । आपद्विहितस्य किञ्चित् पापसूचना-
र्थस्तुशब्दः । उदाहृतं च स्मृत्यन्तरम् — ‘कृत्वा पावनमात्मनः’
इति ॥

तदप्येके प्राणसंशये ॥ २३ ॥

• तदपि शूद्रकर्म मरणसन्देहे प्राप्ते एके इच्छन्ति, प्राणाना-
मवश्यरक्षणायत्वात् । तथाच व्यासः—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणास्सस्थितिहेतवः ।

तान्निघ्नता किं न हत रक्षता किं न रक्षितम् ॥

इति । प्राणग्रहणेन च तदधीनवृत्तीनां पुत्रदारादीनामपि ग्रह-
णम्, ‘प्राणा ह्येते बहिश्चराः’ इति दर्शनात् । एकेग्रहणाच्च
तु गौतमः, अस्यामप्यवस्थायां गर्हितत्वादिति । इह प्राणसं-
शयग्रहणात् विज्ञायते अन्याऽप्यापदस्तीति । ततश्च यस्याम-
वस्थायां पूर्वकलोपदेश सा नित्यानां कर्मणामनुष्ठानसामर्थ्य-
लक्षणा विज्ञेया । यथाऽऽह मनुः—

देवताऽतिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ।

न निर्वपति पञ्चानां उच्छवसन्न स जीवति ॥

तद्वर्णसङ्कराभक्ष्यनियमस्तु ॥ २४ ॥

तद्ग्रहणेन शूद्र उच्यते । सङ्कर सहासनादिना । अभक्ष्यं
तदुच्छिष्टादि, तद्योग्य वा लशुनादि, तयोर्नियमो वर्जनम् ।
तुशब्दो विशेषवाची—अस्यामवस्थायां विशेषेण ब्राह्मणस्येति ॥

प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत ॥ २५ ॥

प्राणग्रहणेन पुत्रदारहिरण्यादेरपि ग्रहणम्, 'प्राणा ह्येते बहिश्चराः' इति दर्शनात् । अपिशब्दाद्वैश्यशूद्रावपि । क्षत्रिय-
स्यार्थमिद्वत्त्वात् रक्षणार्थात् प्रवृत्ते । यद्वा क्षत्रियस्यापि ॥

राजन्यो वैश्यकर्म वैश्यकर्म ॥ २६ ॥

क्षत्रियोऽपि स्वकर्मणा जीवितुमशक्तस्सन्वैश्यवृत्तिमातिष्ठेत्
तस्याप्यपण्यप्रतिषेधो नस्तीत्युक्तम् । यथा ब्राह्मणस्य क्षत्रिय-
वृत्तिरेव क्षत्रियस्यापि वैश्यवृत्तिः तथा वैश्यस्यापि शूद्रवृत्तिः,
यथा ब्राह्मणस्य वैश्यवृत्तिरेव क्षत्रियस्यापि शूद्रवृत्तिरित्येव
कल्पना न भवेदिति ज्ञापनार्थः सूत्रारम्भः । कुतः ? यदि ब्रा-
ह्मणवदितरेषामभीष्टं तदा सर्वे अनन्तरैकान्तरां वृत्तिमातिष्ठेयु-
रित्यवश्यत्, तदनुक्त्वा 'राजन्यो वैश्यकर्म' इत्यारम्भात्
क्षत्रियस्यैवापदि विहिता वृत्तिः न वैश्यशूद्रयोः, क्षत्रियस्यापि
न शूद्रवृत्तिरिति ज्ञापयति । ततश्च क्षत्रियोपि वैश्यवृत्तिमा-
तिष्ठेदापदि । तथाच मनु —

जीवेदेतेन राजन्यं सर्वेणाप्यनयं गतः ॥ इति ॥

इति अस्करीये गौतमभाष्ये सप्तमोऽध्यायः

अथ यद्यापद्धिहिते कर्मणि कश्चिदोपापरिज्ञानात् लोभाद्वा
प्रसज्येत ततोऽप्यो केन निवार्य ? राजब्राह्मणाभ्यामुपदेशद-
ण्डाभ्याम् । यतस्तावेव —

द्वौ लोके धृतव्रंतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः ॥

द्राविति प्रकर्षवाची न संख्यानिर्देशः द्विवचननिर्देशादेव
द्वित्वसिद्धेः । अस्ति चातिशयार्थः संख्यानिर्देशः, यथा—'अस्मि-

न्ग्रामे द्वावेव ब्राह्मणौ' इति । तत्र गम्यते—अन्येऽपि ब्राह्म-
णाः सन्ति, द्वावेवानुष्ठानपराविति । अत्रापि राजब्राह्मणयोर-
तिशयेन धृतव्रतत्वार्थं, नान्येषां प्रतिपेक्षार्थम् । लोकग्रहणं वी-
प्सार्थं, लोकसङ्घाते लोके राष्ट्र इत्यर्थः । अन्यथा सर्व-
कर्मणां लोकाधिकारत्वादनर्थकमेवैतत् स्यादिति । एवंच
यथा प्रतिराष्ट्र राज्ञा भवितव्यं तथा बहुश्रुतेनापि भवितव्य-
मिति गम्यते । धृतव्रतौ व्रतानां कर्मणां धारयितारौ । राजा
क्षत्रियः, स चाभिषेकादिगुणयुक्तः, 'स मूर्धाभिषिक्तो राजा
भवति' इति शङ्खवचनात् । ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः । सत्यपि
ब्राह्मणस्य प्राधान्ये राज्ञः पूर्वनिर्देशो बहुश्रुतत्वस्य ब्राह्मणवि-
शेषणार्थम् । राज्ञोऽपि बहुश्रुतत्वानुकर्षणार्थश्चकार । ततश्च
राज्ञोऽपि बहुश्रुतत्वेन भवितव्यम्, ब्राह्मणस्य विशेषणेति द्रष्ट-
व्यम् । बहुश्रुतः वह्नेन श्रुतमिति । राजब्राह्मणौ बहुश्रुताविति
वक्तव्ये विसमासनिर्देशो राज्ञोऽप्यतिशयेन शौर्यादिगुणयोगार्थः ।
ततश्च तौ धृतव्रतौ स्यातामिति शेषः ॥

यतः—

तयोश्चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्थान्तस्संज्ञाना
च चलनपतनसर्पणानामायत्तं जीवनम् ॥

तयोः समुदितयोः समाननिर्देशात् । चतुर्विधस्य मनु-
ष्यजातस्य नातुर्वर्ण्यस्येत्यर्थः । अन्तस्संज्ञाः अनुलोमप्रतिलोमाः
चकारात् देवानां च, 'इतः प्रतिदानाद्धि देवा उपजीवन्ति'
इति श्रुते । चलनाः स्थावरा वृक्षादयः, पतनाः पक्षिणः, स-
र्पणाः कीटादयः, एतेषामायत्तमधीनं जीवनं प्राणधारणम् । कथं?
ब्राह्मणेनानुगृह्यमाणा वर्णाश्रमिण दृष्टादृष्टार्थक्रियानुष्ठानात् वृ-

ष्ट्यादिनिमित्तद्वारेण लोकोपकारे वर्तन्त इति तावद्ब्राह्मणायत्तम् ।
तथाच मनु --

अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिस्सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ॥

इत्यादि । राजा च परिपन्थिनिग्रहद्वारेण हिंसानिग्रहद्वारेण च
साक्षाज्जीवनहेतुरिति ॥

न च जीवनमात्रमेव तयोरायत्तं, किंतु -

प्रसूतीरक्षणमसङ्करो धर्मः ॥ ३ ॥

प्रसूतिरभिवृद्धिः, सा च तदायत्ता, राजब्राह्मणदण्डधारणो-
पदेशाभ्यां यथोक्तकारित्वात् वृष्ट्यादिद्वारेण रोगाद्युपद्रवाभा-
वाच्च वृद्धिर्भवतीति । चोरादिनिग्रहाद्वक्षणं च दण्डधारणप्रा-
यश्चित्तोपदेशात्, सङ्कराभावश्च यमनियमोपदेशात् । विहिता-
करणे प्रतिषिद्धसेवने च दण्डधारणाद्धर्मोऽपि तदायत्त एव ॥

इदानीं कियता पुनः श्रुतं बहुश्रुतो भवतीत्यत आह—

स एष बहुश्रुतो भवति ॥ ४ ॥

स एष इति परोक्षप्रत्यक्षोपदेशः । ‘श्रुतं तु सर्वेभ्यो
गरीयः’ इत्यत्राप्येवंरूपस्यैव ग्रहणमिति । बहुश्रुतो भवति
सपद्यत इत्यर्थः । भवतिग्रहणं च यद्यप्येषां लोकादीनामी-
षद्विज्ञानं भवति किंचिदन्यदपि श्रुतं, तथाऽपि भवत्येवेत्येव-
मर्थः, अन्यथा स एव बहुश्रुत इत्येव सिद्धत्वात् ॥

लोकवेदवेदाङ्गवित् ॥ ५ ॥

लोकशब्देन लोकव्यवहारा ग्राममर्यादादय उच्यन्ते ।
वेदशब्देन उपवेदा आयुर्वेदधनुर्वेदादयः उच्यन्ते । द्वितीयं

वेदशब्देन चत्वारो वेदा उच्यन्ते । अङ्गशब्देन व्याकरणशि-
क्षाछन्दोविचितिकल्पसूत्रज्यौतिषनिरुक्तान्युच्यन्ते । विच्छब्द प्र-
त्येकमभिसम्बध्यते । वेदविदित्यनेनैव वेदपाठोपि द्रष्टव्यः, स्मृ-
त्यन्तरे अनधीतवेदस्यान्यविद्याप्रतिषेधात् । यथाऽऽह मनुः—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेन शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ इति ॥

• वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलः ॥ ६ ॥

वाकोवाक्यमुक्तिप्रत्युक्तिरूपं तर्कशास्त्रमित्यर्थः । तथाच
मनुः—

यस्तर्केणानुसधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

इति । इतिहासो भारतरामायणम् । पुराण, यत्र सृष्टिस्थिति
संहारा उच्यन्ते तत्पुराणं ब्रह्माण्डादि । एतेष्वपि कुशलः
निपुणः अर्थेष्वेव न पूर्वेष्विव ग्रन्थार्थयोः, क्रियापदान्तरारम्भात् ।
एवंच न केवलं वेद एव पठितव्यः, अङ्गं च । तथाच स्मृ-
त्यन्तरम्—‘साङ्गो वेदोऽध्येतव्यः’ इति ॥

तदपेक्षस्तद्वृत्तिः ॥ ७ ॥

तदपेक्षः वेदप्रसिद्धार्थानुवचनशालः, तद्वृत्तिः तदभिहित-
कर्मानुष्ठानपरः ॥

चत्वारिंशता संस्कारैस्संस्कृतः ॥ ८ ॥

ते च वक्ष्यमाणाः गर्भाधानादयः, तैश्चोपेतः । वक्ष्यमा-
णत्वादेव सिद्धे सङ्गचानिर्देशः समुच्चयार्थो मा भूदिति, बहु-
वचनस्य प्रयोगात् त्रिप्रभृतिषु कृतार्थतोति । ‘यस्य तु खलु
संस्काराणामेकदेशोपि’ इत्यत्रापिशब्दात्समुच्चयोपि गम्यत इति

चेत् न, एकदेशशब्दस्य संस्कारावयववाचित्वेनापि कृतार्थत्व-
प्रसङ्गात् । अत इह समुच्चयाभिधानात्तत्र एकदेशग्रहणेन
कतिपयसंस्कारग्रहणसिद्धिः ॥

त्रिषु कर्मस्वभिरतः ॥ ९ ॥

तानि साङ्गाध्ययनदानेज्यालक्षणानि 'द्विजातीनामध्ययनम्
इत्यत्रोक्तानि । तेष्वभिरत सततानुष्ठानशीलः । तद्वृत्तिरित्यनेनै-
वानुष्ठाने सिद्धे विशेषार्थः पुनरारम्भः । विशेषश्चातिशयेन त-
त्सेवनं, अदृष्टार्थत्वज्ञापनं वा ॥

षट्सु वा ॥ १० ॥

याजनाध्यापनप्रतिग्रहे सह षट्पवन्ति एषामप्यदृष्टार्थत्व-
ज्ञापनार्थः पुनरारम्भः ॥

सामयाचारिकेष्वभिविनीतः ॥ ११ ॥

सामयिकाः स्मार्ताः उपनिबद्धाः । आचारिकाः शिष्टाचारि-
ताः पदार्थाः अनुपनिबद्धाः । तेषूभयविधेषु कर्मस्वभिविनीतः
ज्ञात्वाऽनुष्ठानरतः ॥

एवंरूपो ब्राह्मणः—

**षड्भिः परिहार्यो राज्ञा अवध्यश्चावन्ध्यश्चाद-
ण्डयाश्चावहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्य-
श्चेति ॥ १२ ॥**

अबुद्धिपूर्वे सत्यप्यपराधे वधादियोग्ये, बुद्धिपूर्वकस्य प्र-
सङ्गाभावात्तद्वृत्तित्वात्, षड्भिः परिवर्जनीयः । षड्ग्रहणादपरा-

धसमुच्चयेऽपि । पुनः [वधः ?] पुनस्ताडनमिति, तस्याप्रस-
ङ्गात् । बन्धो निगलादियोगः । दण्डो धनापहरणम् । बहि-
ष्करणं ग्रामादिभ्यो निर्वासनम् । परिवादो दोषसंकीर्तनम् ।
परिहारस्त्यागः । अनुमन्ता प्रयोजयिता च न स्यादित्येवमर्थः
चकारः । इतिकरणं प्रकारवाचि । ततश्च संभाषणादि न कर्त-
व्यम् ॥

• चत्वारिंशता संस्कारैरित्युक्तम् । के पुनस्त इति तानाह—

गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामक-
रणान्नप्राशनचौलोपनयनम् ॥ १३ ॥

गर्भाधानादयः प्रतिगृह्यमाज्ञाताः । इहाभिधानं तु संस्का-
रत्वज्ञापनार्थम् । मनुनाऽपि चैषां संस्कारत्वमुक्तम्—‘निषे-
कादिदशमशानान्तः’ इत्यादि । गर्भाधानं ऋतावेव ‘सवेशने हुत्वा’
इत्यादि प्रतिगृह्य द्रष्टव्यम् । पुंसवनं तृतीये मासे चोद्यते प्रथमे
गर्भे नान्यत्र, तत्र तु व्यक्ते गर्भे । प्रतिगर्भे केचिदिच्छन्ति ।
केचिदेकमेव । तथा सीमन्तोन्नयनमपि । तत् चतुर्थे षष्ठे अ-
ष्टमे वा चोद्यते । जातकर्मापि स्तनप्राशनान्नाभिवर्धनाद्वा प्रा-
ग्द्रष्टव्यम् । नामकरणं दशमे द्वादशे वाऽहनि पुण्ये नक्षत्रे वा ।
अन्नप्राशन षष्ठे मासे संवत्सरे वा । यथाऽऽह शङ्खः—‘संव-
त्सरेऽन्नप्राशन षष्ठे वा’ इति । चौल संवत्सरे तृतीये वा ।
उपनयनमुक्तम् । उपनिष्क्रमणं च अन्नप्राशन एवान्तर्भूतत्वान्नो-
क्तम् । तदुक्तं मनुना—‘मासे चतुर्थे कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं
गृहात्’ इति ॥

चत्वारि वेदग्रतानि ॥ १४ ॥

ब्रह्मग्रहणार्थत्वात् पृथगुपदेशः । प्रतिवेदं चत्वारि चत्वारि
गृहीतव्यानीत्येवमर्थं वेदग्रहणम् ॥

किञ्च—

स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः पञ्चानां यज्ञाना-
मनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मणामेतेषां
च ॥ १५ ॥

स्नान समावृत्तिः । सहधर्मचारिणीसंयोगो विवाहः । वि-
समासो नावश्यमनन्तरमेव विवाह इति ज्ञापनार्थः । विवाह
इति वक्तव्ये सहधर्मचारिणीग्रहण दारपरिग्रहस्य कर्मार्थत्व-
ज्ञापनार्थम् । एवं चाकृतदारस्य विधुरस्य च पञ्चयज्ञाद्यभावे
न दोषः । पञ्चानां यज्ञानां देवयज्ञादीनामनुष्ठानं करणम् । अनु-
ष्ठानाभिसम्बन्धार्थः षष्ठ्या निर्देशः । अनुष्ठानग्रहणं च नाग्नि-
ष्टोमादिवत् कदाचिदेव । किंतु अहरहरित्येवमर्थम् । यद्यपि
देवयज्ञादय एव पञ्चं महायज्ञाः, तथाऽपि देवादीनामुपादानं
पञ्च संस्कारा इति ज्ञापनार्थं, अन्यथा पञ्चयज्ञानुष्ठानमेक एव
संस्कार इत्याशङ्का स्यादिति । देवादयो व्याख्याताः । एतेषां
चेत्यात्मगुणसमुच्चयार्थश्चकार । ततश्च पञ्च यज्ञा अप्यात्म-
गुणसहिता एव पुरुषार्थप्रापकाः, न पुथग्भूता इति सिद्धं
भवाति । एतेषामिति वक्ष्यमाणानामुपलक्षणं, नोक्ताः पञ्च यज्ञा
एव । कुतः । यदि पञ्चयज्ञानामेवात्मगुणसहितत्वमिष्यते,
तदानीं सगुणानां पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानमित्यवश्यम् । ततश्च
वक्ष्यमाणा अप्यात्मगुणसहिता एव ब्रह्मसायुज्यप्रापका इति
द्रष्टव्यम् ॥

अष्टका पार्वणः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चै-
' त्रयाश्वयुजीति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः ॥ १६

“ ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्त्रयोऽपरपक्षाः तेषामेकैकस्मिन्नेकैका भवति ” इति या उच्यन्ते ता अष्टका. । पार्वणः (स्थाली-पाकः) पर्वणि भवत्वात् पार्वणः । श्राद्धं मासिश्राद्धमुच्यते श्रावणीशब्देन श्रावणपौर्णमासीयुक्तत्वादुपाकरणमुच्यते । आग्रहायणीशब्देन आग्रहायणमुच्यते । चैत्रीशब्देन शूलगवः । आश्वयुजीति इन्द्रध्वजहोमः । सप्तग्रहणमेकैकस्य गणनार्थम् । पाकग्रहलं स्थालीपाकसंबन्धार्थम् । यज्ञग्रहणमग्निसंबन्धार्थम् । संस्थाः सम्यक्स्थिता. गृह्य एवोक्ता इत्यर्थः ॥

अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपौर्णमासावाग्रयणं चा-
तुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति
सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः ॥ १७ ॥

श्रुतिप्रसिद्धकर्मानुवादः संस्कारत्वार्थः । अत्राग्रयणशब्देनाग्रहायणेष्टिरुच्यते, इतरस्य पूर्वमुक्तत्वात् । अग्न्याधेयमित्याधानयुच्यते । अग्निहोत्रं नाम हविर्यज्ञः श्रुतौ प्रसिद्धः । दर्शपूर्णमासौ तु संस्कारमध्ये एक एव । इतरे प्रसिद्धाः । सप्तग्रहणस्योक्तं प्रयोजनम् । शेषस्याप्युक्तमेव ॥

अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यष्पोडशी वाज-
पेयोऽतिरात्रोऽसोर्याम इति सप्त सोमसं-
स्थाः ॥ १८ ॥

उक्तेनैव न्यायेन सूत्रं व्याख्येयम् । पाकयज्ञादीनां वि-
समासो भिन्नफलत्वज्ञापनार्थः ॥

इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः ॥ १९ ॥

इत्येते इत्युक्तोपसंहारः । चत्वारिंशदिति नियमार्थः, एता-
वन्त एव संस्कारा इति । ततश्च समस्तस्मार्तश्रौतकर्मसंपदु-
पेतो भवति ॥

अथाष्टावात्मगुणाः ॥ २० ॥

वक्ष्यन्त इति शेषः । अथशब्दोऽनन्तरवाची, संस्कारा-
नन्तरमात्मगुणा वक्ष्यन्त इत्यर्थः । सर्व एवैतैर्गर्भाधानादिभिः
समुच्चीयन्ते, न तु यथालाभमित्येवमर्थमष्टौग्रहणमिति केचित् ।
तदयुक्तम्, 'यस्य तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽप्यष्टावात्म-
गुणाः' इत्यत्राष्टौग्रहणस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । ततश्च संज्ञार्थं
वचनं, यत्रयत्राष्टावात्मगुणा उच्यन्ते तत्रतत्र दयादीनामेव
ग्रहणं यथा स्यादिति । समुच्चितानामेव प्रवेशो यथा स्या-
दित्येवमर्थं गुरुसंज्ञाकरणम् ॥

**दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो
मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति ॥ २१ ॥**

दया हितचिन्तनम् । तथा पुराणउक्तम्—

आत्मवत्सर्वभूतेषु यद्विशवाय हिताय च ।

वर्तते सन्ततं हृष्टं कृत्स्ना ह्येषा दया स्मृता ॥

इति । सर्वग्रहणात्स्थावरेष्वपि । क्षान्तिः बाह्याभ्यन्तर-
द्वंद्वसहिष्णुता । यथाऽऽह व्यासः—

आक्रुष्टोऽभिहतो वाऽपि नाक्रोशेन्नापि ताडयेत् ।

, अदुष्टो वाङ्मनःकायैः सा तितिक्षा क्षमा स्मृता ॥

इति । अनसूया गुणवतामुपरि प्रद्वेषाभावः । तथाऽऽह—

यो धर्ममर्थं कामं वा लभते मोक्षमेव वा ।

न द्विष्यात्त सदा प्राज्ञः अनसूयेति सा स्मृता ॥

. इति । शौचं द्रव्यादिशौचम्, यथाऽऽह व्यासः—

द्रव्यशौचं मनश्शौचं वाक्शौचं कायिकं तथा ।

शौचं चतुर्विधं प्रोक्तं ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

इति । अनायासः आत्मपीडानारम्भः । तथाऽऽह व्यासः—

यदात्मने भवेत्पीडा नित्यमत्यन्तमात्मनः ।

तद्वर्जयेद्धर्म्यमपि अनायासस्त उच्यते ॥

इति । मङ्गलं प्रशस्तमेव । यथाऽऽह व्यासः—

प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम् ।

एतादृक् मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

इति । अकार्पण्यं आपन्नप्यदीनता संविभागरुचित्वं च । यथाऽऽह व्यासः—

आपद्यपि च कष्टायां भवेद्दीनो न कस्यचित् ॥

संविभागरुचिश्च स्यादकार्पण्यं तदुच्यते ॥

अस्पृहा विषयसन्तोषः परद्रव्यानभिलाषश्च । यथाऽऽह व्यासः—

विवर्जयेदसन्तोषं विषयेषु सदा नरः ।

परद्रव्याभिलाषं च साऽस्पृहा कथ्यते बुधैः ॥

इति । इतिकरणं समाप्त्यर्थम्, एतावान्पुरुषस्य संस्कारः
कर्तव्य इति । विसमासः फलपृथक्त्वज्ञापनार्थः । यथाऽऽह
व्यासः—

क्षमावान् जयते भूमिं दयावान् सुखमश्नुते ।

अनसूयुर्लभेत्स्वर्गं शौचेनाध्यात्ममेव च ॥

मङ्गलादपि सपूज्य इह लोके परत्र च ।

सुरसाम्यमनायासात् अकार्पण्यात्प्रकृतौ लयम् ॥

अस्पृहो लभते नित्यमनन्तं सुखमेव च ।

सर्वैस्तु ब्रह्मण स्थानं संस्कारैस्तु तथैव च ॥

इति । एवं सर्वालाभे यथालाभपरिग्रहोऽपि कर्तव्यः, पृथग्भू-
तस्यापि फलश्रवणात् ॥

यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगु-
णा न स ब्रह्मणस्सायुज्यं सालोक्यं च
गच्छति ॥ २२ ॥

यस्य तु पुरुषस्य । एते इति संस्कारपरामर्शो गुणानां
गौरवार्थः । चत्वारिंशदिति संहितानामप्यसामर्थ्यज्ञापनार्थम् ।
न चाष्टावात्मगुणाः, चकारान्समस्ता व्यस्ताश्च । एतदपि गु-
णस्तुतिः । न स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति ।
ब्रह्मा नाम देवताविशेषः । सायुज्यमैकात्म्यं, सालोक्यं समा-
नस्थानवासित्वम् । निन्दा च गुणस्तुत्यर्थैव । प्राधान्यात् सायु-
ज्यस्यैव पूर्वमुपदेशः ॥

यस्य तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽप्यष्टावा-

त्मगुणाः अथ स ब्रह्मणस्सायुज्यं सालो-
' क्यं च गच्छति ॥ २३ ॥

तुशब्दो विशेषवाची, एकदेशग्रहणेनोपनयनस्यैव ग्रहण-
मिति । खल्वित्यवधारणे, स एव गच्छतीति । अपिशब्दा-
त्समस्ता अपि । अथशब्दादानन्तर्येणैव गच्छतीति । एकदेश-
योगात् सालोक्यं, समस्तयोगात्सायुज्यमिति द्रष्टव्यम् । इय-
मपि गुणस्तुतिः ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये अष्टमोऽध्यायः

राजब्राह्मणयोरतिशयेन व्रतधारणमुक्तम् । सांप्रतं व्रत-
स्वरूपकथनार्थं तदवधिकालावधारणार्थं चाह—

स विधिपूर्वं स्नात्वा भार्यामधिगम्य यथोक्ता-
न्गृहस्थधर्मान्प्रयुञ्जान इमानि व्रतान्यनु-
कर्षेत् स्नातकः ॥ १ ॥

स इति राजब्राह्मणयोः प्रत्येकं परामर्शार्थम् । विधिपूर्वं
शास्त्रीयेन विधिना, विद्यया व्रतेनोभयेन वा, पूर्वग्रहणात्, अ-
न्यथा—विधिवदित्येव वक्तव्यम् । स्नात्वेति भार्याधिगमवचना-
देवाक्षितमप्युच्यते गृहस्थाश्रमाभ्युपगम एव स्नानं नान्यश्रम-
प्रतिपत्ताविति ज्ञापनार्थम् । भार्यामधिगम्य दारपरिग्रहं कृत्वा ॥

तत्र स्नानानन्तर भार्याधिगमः कर्तव्यः, क्त्वाप्रत्ययनिर्दे-
शात्, अनाश्रमिणश्चावस्थानस्यायुक्तत्वात्, इति केचिद्व्याचक्षते

तदयुक्तम्, आनन्तर्यासिम्भवात् पराधीनत्वात्कन्यालाभस्य, स्मृत्यन्तरे च विवाहकालनियमात् । यथाहोशना — त्रिशद्वर्षो वहेत्कन्यामिति । तत्राप्यानन्तर्ये सति स्नानकालविधानादेव सिद्धत्वान्न वक्तव्यम् समाचाराच्च, न हि कश्चित् आगानन्तरं विवाहमकृत्वा प्रायश्चित्तं कुर्वन्नुपलभ्यते, शेषैर्वा निन्द्यत इति । उदगयना-
पूर्यमाणपक्षपुण्याहप्रतीक्षणोपदेशाच्च । मानवे—‘सान्तातिक यक्ष्यमाणम्’ इत्यकृतविवाहस्यावस्थानोपदेशात् । अत्रापि गुर्वर्थनि-
निवेश’ इत्यत्रोक्तत्वात् । क्त्वाप्रत्ययस्तु पूर्वकालतामात्र एव वैयाकरणैः स्मर्यते । आनन्तर्येण सङ्कीर्तनमप्यकृतस्नानस्य गार्हस्थ्यप्रतिषेधार्थं स्नात्वैव विवाहः कर्तव्य इति ॥

यत्तूक्तमनाश्रमिणोऽवस्थानमयुक्तमिति, तत्रोच्यते—नैवा-
यमनाश्रमी कथं? समाप्तब्रह्मचर्यो गुर्वनुज्ञया स्नातो यावता
कालेन यत्नं कृत्वा भार्यामधिगच्छति तावन्तं कालं स्नातक-
ब्रताधिगतोऽविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थान्तर्भूत एवेति । तदर्थ एव
‘गृहस्थस्सदृशीम्’ इत्यत्राकृतविवाहेऽपि गृहस्थशब्दः प्रयुक्तः ॥

न चानियतकालमेवावस्थानम्, स्मृत्यन्तरे आयुर्विभागे
नाश्रमप्रतिपत्तिविधानात् । यथाऽऽह मनु — ‘चतुर्थमायुषो भा-
गम्’ इत्यादि । यथोदाहृतौशनसवचनाच्च, ‘पूर्णचत्वारिंशद्व-
र्षो गृही भवेत्’ इति व्याघ्रनचनाच्च, ‘स्नातकोऽब्दत्रयं न तिष्ठेत्’
इति कण्ववचनाच्च । तत्र दुर्ज्ञेयत्वादायुर्विभागस्य शतवर्षचतु-
र्भागो गृह्यते । सोऽप्येकवेदाध्यायिनः । यदुक्तं ‘त्रिशद्वर्षः’ इति
तदपि वेदद्वयाध्यायिनः । यदुक्तं ‘चत्वारिंशद्वर्षः’ इति तद्वे-
दत्रयाध्यायिनः, यद्यसौ प्रागेव परिसमाप्तविद्यः । अपरिसमाप्त-
विद्यश्चेद्यावता कालेन परिसमाप्य स्नातो भवेत्, तस्मादूर्ध्वं

वर्षत्रयमकृतदारो न तिष्ठेदित्येव नियतकालमेवावस्थानम् । तस्मादग्रं गृहस्थान्तर्भूत एव । ततश्च 'अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः' इति दक्षवचनस्य विधुरविषयत्वं द्रष्टव्यम् । तत्र दिनमेकमपीति सति सङ्भव इति शेषः, पराधीनत्वात् कन्यालाभस्य । अथवा अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि यत्नमकृत्वेति शेषः । तत्र पूर्वस्मिन्पक्षे सम्भवे सत्यकर्तुर्दोषः अहम्भवे न दोषः । उत्तरस्मिन्पक्षे यत्नमकर्तुर्दोषः ॥

यथोक्तान्गृहस्थधर्मान्प्रयुञ्जानः इमानि व्रतान्यनुकर्षेत् । तत्रैवोक्तत्वादेव सिद्धे इहापदेशो 'गृहस्थस्सहशीम्' इत्युक्तानामपि स्नातकव्रतान्तर्भावार्थः । ततस्तदतिक्रमेऽपि स्मृत्यन्तरोक्तस्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह मनु.— 'स्नातकव्रतलोपे तु प्रायश्चित्तमभोजनम्' इति । अनुक्ता अपि गृहस्थधर्माः सन्तीति कस्यचिदाशङ्का स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं यथोक्तग्रहणम् । तत्रोक्तग्रहणेनैव सिद्धं ये ब्रह्मचारिधर्माः 'उत्तरेषां चैतद्विरोधि' इत्यनेनाधिक्रियन्ते तेषापपि ग्रहणार्थं यथाग्रहणं तदतिक्रमेऽपि स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तं यथा स्यादिति ॥

ननु च भार्यामधिगम्य यथोक्तान् धर्मान्प्रयुञ्जान इति वक्तव्यम्, भार्याऽधिगमनोत्तरकालं गृहस्थधर्मैरेवाधिकृतत्वादिति । उच्यते— गृहस्थस्नातकधर्मयोः पृथक्त्वज्ञापनार्थं गृहस्थग्रहणम् । उक्ता एव गृहस्थधर्माः, वक्ष्यमाणास्तैस्सहिताः स्नातकधर्मा इति पृथक्त्वज्ञापनार्थं, राजब्राह्मणयोरेव नियमेन स्नातकव्रतानुष्ठानं तदतिक्रमे प्रायश्चित्तं च, इतरेषां तदनुष्ठानेऽभ्युदयः, अकरणे प्रत्यवायप्रायश्चित्ताभावश्चैवमर्थं च । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

स्नातकव्रतलोपे तु प्रायश्चित्तं विधीयते ।

राजब्राह्मणयोरेव नेतरेषां कदाचन ॥

इति । अत्रापि 'द्वौ लोके धृतव्रतौ' इति विशेषेण व्रतधारणोक्तेरेतदेव तात्पर्यम् ॥

इमानि वक्ष्यमाणानि व्रतान्यनुकर्षेद्यावज्जीव कुर्यात् । अवश्यकर्तव्यानि न फलार्थानीत्येवमर्थं व्रतग्रहणम् । एवं च स्नातकः शश्वद्ब्रह्मलोकान्न च्यवत इति फलोपदेशो 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र फलोपदेशवद्दृष्टव्यः । वक्ष्यमाणान्येव व्रतानि न व्रतान्तराणीत्येवमाशङ्कानिवृत्त्यर्थं इमानीत्यस्योपादानम् । व्रतत्वेनानुष्ठाने सिद्धेऽनुकर्षेदिति यावज्जीवार्थम् । स्नातक इत्यस्योपादानं संज्ञार्थं—यो वक्ष्यमाणव्रतान्यनुतिष्ठेदसौ गृहस्थः स्नातक इत्युच्यत इति । अन्यथा 'स विधिपूर्वं स्नात्वा' इत्यनेनैव सिद्धत्वान्न वक्तव्यम् ॥

कानि पुनस्तानीत्यत आह—

नित्यं शुचिस्सुगन्धस्नानशीलः ॥ २ ॥

स्यादिति शेषः । नित्यं शुचिराचमनादिना । नित्यग्रहणादातुरावस्थायामपि । सुगन्धैरामलकादिभिः स्नातुं शीलं यस्यासौ सुगन्धस्नानशीलः । 'स्नानदन्तधावने' इति ब्रह्मचारिप्रकरणे प्रतिषिद्धस्य प्रतिप्रसवः । शीलग्रहणादसम्भवे केवलस्नानेनापि न दोषः । विसमासः स्नातकस्य यानि नित्यं धार्याणि तेषामप्युपसङ्गार्थः । यथाऽऽह वसिष्ठः—

स्नातकानां तु नित्यानि अन्तर्वासस्तथोत्तरम् ।

यज्ञोपवीते द्वे यष्टिः सोदकश्च कमण्डलुः ॥

इति । सुगन्धस्नानशालि इति सुशब्दोपादानात् स्नानोत्तरका-
लमप्यालेपनं कर्तव्यम् ॥

सति विभवे न जीर्णमलवद्वासाः स्यात् ॥३॥

सत्यन्यसंभवे जीर्णं मलवच्च वासो न धारयेत् ॥

न रक्तमुल्वणमन्यधृतं वासो विभृयात् ॥४॥

• • रक्तं कुसुम्भादिना, उल्वणमुद्धतार्धमरक्तं, अन्यधृतं, गुरु-
वर्जं तदुच्छिष्टाभ्यनुज्ञानात् । पृथगारम्भसामर्थ्यादापद्यपि न
धारयेत् । प्रत्येकं वर्जनार्थो विसमासः ॥

न स्रगुपानहौ ॥ ५ ॥

पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा स्रग्माला, उपानहौ लाक्षादिरक्ते,
न तु कषायेण । सूत्रद्वयारम्भो यथासङ्ख्यचनिवृत्त्यर्थः ॥

निर्णिक्तमशक्तौ ॥ ६ ॥

अन्यासम्भवे तु वासप्रभृति कृतशौचं धारयेत् । अश-
क्तिरन्यासम्भव इति ॥

न रूढश्मश्रुरकस्मात् ॥ ७ ॥

श्मश्रुग्रहणं नखादीनामप्युपलक्षणम् । रूढग्रहणान्न वपनं,
किंतु समत्वेन कल्पनामात्रम् । तथाच मनुः—‘कृत्तकेशनख-
श्मश्रुः’ इति । तत्र केशकल्पना तु मलापकर्षणं कृत्वा श्लक्ष्ण-
तापादनम् । यथाऽऽहोशना—‘केशादीनि निर्मलानि श्लक्ष्णान्य-
त्यन्तसुगन्धीनि स्नातको धारयेत्’ इति ॥

नाग्निमपश्च युगपद्धारयेत् ॥ ८ ॥

युगपदेककालम् । विसमासोऽपामुत्तरसूत्राभिसम्बन्धार्थः ।
अन्नसमुच्चयार्थश्चकार । यथाऽऽह व्याघ्र —

न धारयेदपश्चाग्निमपश्चान्न तथैव च ।

युगपत्स्नातको नित्य तद्भार्या च तथैव च ॥ इति ॥

नाञ्जलिना पिबेत् ॥ ९ ॥

अप., प्रकृतत्वात् । द्विहस्तसंयोगोऽञ्जलिः । ततश्चैकहस्ते-
न न दोषः । क्षीरादेस्त्वप्रतिषेधः । अविशेषान्न किञ्चित् पि-
बेदिति केचित् । तेषां पूर्वसूत्रविसमासप्रयोजनं मृग्यम् ॥

न तिष्ठन् ॥ १० ॥

तिष्ठश्च न पिबेत् । तिष्ठंश्चेति प्रतिषेधे सिद्धे पुनः प्रति-
षेधः क्षीरादीनामप्युपसङ्गहार्थः ॥

उद्धृतोदकेनाचामेत् ॥ ११ ॥

उद्धृतमुदकं येनेति उद्धृतोदकशब्देन कमण्डलुरुच्यते,
तेनाचामेत् ॥

न शूद्राशुच्येकपाण्यावर्जितेन ॥ १२ ॥

न शूद्रजात्या, अशुचिनाऽप्यशूद्रजात्याऽपि, एकहस्तेन शु-
चिना अशूद्रजात्याऽपि नाचामेत् । अनेनाप्राप्तप्रतिषेधेन पूर्व-
सूत्रस्य नियमाभावः ज्ञापयति । ततश्च विकल्पो द्रष्टव्यः—
कमण्डलुना, अशूद्रेण शुचिनोभयहस्तावर्जितेन वाऽऽचामेदिति ।
एवञ्च कमण्डलुनैवाचमनस्य नियमाभावात्तद्वारणस्याप्यनित्य-
त्वं ज्ञापयति, आचमनार्थत्वात्तद्वारणस्येति ॥

न वाय्वग्निविप्रादित्यापो देवता गाश्च प्रति-
पश्यन्वा मूत्रपुरीषामेध्यानि व्युदस्येत् ॥

न वाय्वाद्याभिमुखः अनभिमुखोऽपि चैतानवलोकयन्मूत्रादि
विसर्जयेत् । देवताशब्देन तत्प्रतिकृतयो लेख्यादेरूपा उच्य-
न्ते । देवताग्रहणेनैव वाय्वादीनामपि सिद्धे तेषामुपादानं ना-
धिकोपसङ्गहार्थम् । ततश्चन्द्रग्रहनक्षत्रादिदर्शने न दोषः । च-
शब्दात् स्मरन्नापि चैतान्न कुर्यात् । मूत्रपुरीषयोरमेध्यत्वात्
अमेध्यस्य पुनर्ग्रहण अमेध्यविशेषार्थम् । ततः शुक्लनिरसना-
द्यापि न कर्तव्यमिति द्रष्टव्यम् ॥

नैता देवताः प्रति पादौ प्रसारयेत् ॥ १४ ॥

पुनर्देवताग्रहण गोब्राह्मणयोर्देवतात्वार्थम् । पादाविति द्वि-
चनं न विवक्षितं, एकमपि न प्रसारयेत् किं पुनः द्वौ ॥

न पर्णलोष्टाश्मभिर्मूत्रपुरीषापकर्षणं कुर्यात् ॥

लोष्टशब्देन मृद्वृहते । ततश्चान्यैरपकर्षणं कुर्यात् ॥

न भस्मकेशतुषकपालामेध्यान्यधितिष्ठेत् ॥ १६ ॥

भस्मादीनि नाक्रामेत् । केशा मनुष्याणाम् । कपालानि
भिन्नभाण्डावयवाः । अमेध्यं मूत्रादि ॥

न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैस्सह सम्भाषेत ॥ १७ ॥

म्लेच्छाः पारसीकादयः । अशुचयः आर्या अपि । अधा-
र्मिकाः पतितादयः । तैस्सह न संमन्त्रयेत् । तृतीयानिर्दे-

शादेव सहभावे सिद्धेऽतिशयार्थं सहशब्दस्योपादानम् । ततश्चानेन सहैककार्यतां गत्वा न सम्भाषेत । मार्गप्रश्नादौ तु न दोषः ॥

सम्भाष्य पुण्यकृतो मनसा ध्यायेत् ॥ १८ ॥

यदि त्वज्ञानात्कार्यवशाद्वा सम्भाषेत ततः पुण्यकृतः सुकृतकारिणः, बहुवचनप्रयोगात् बहून्, मनसा चिन्तयेत् । मनोग्रहणं अवयवनिरूपणेन स्मरणार्थम् ॥

ब्राह्मणेन वा सह सम्भाषेत ॥ १९ ॥

पुण्यकृदेव ब्राह्मणः । सहग्रहणाद्ब्राह्मणो यदि भाषेत । अनन्तरानुष्ठानार्थमप्रकरणे प्रायश्चित्तविधानं, लाघवार्थं वा ॥

अधेनुं धेनुभव्येति ब्रूयात् ॥ २० ॥

अधेनुर्वन्ध्या गौः, तां धेनुभव्येत्येवमभिदध्यात् । इतिकरणः प्रकारावरोधार्थः, मा भूदन्येषामप्येवंरूपाणां संशब्दनमिति । एतदेव प्रयोजनमितिकरणानां वक्ष्यमाणानामपि ॥

अभद्रं भद्रमिति ॥ २१ ॥

अभद्रं अभजनीयं अश्रीकत्वादमङ्गलत्वाद्वा । तद्भद्रमित्येवमभिदध्यात् । यथा दुर्भगं सुभगमिति ॥

कपालं भगालमिति ॥ २२ ॥

कपालं भिन्नभाण्डावयवं भगालमिति ब्रूयात् ॥

मणिधनुरितीन्द्रधनुः ॥ २३ ॥

इन्द्रधनुर्मणिधनुरिति ब्रूयात् । वचनप्रामाण्यादेषामेवाभि-
धानम् ॥

• गां ध्यन्तीं परस्मै नाचक्षीत ॥ २४ ॥

गां पाययन्तीं परस्मै नाचक्षीत । परग्रहणादात्मीयामाच-
क्षीत ॥

न चैनां वारयेत् ॥ २५ ॥

• • एनामिति परकीयामेव । चकारात्परीतादावपि * ॥

न मिथुनीभूत्वा शौचं प्रति विलम्बेत ॥ २६ ॥

मिथुनीभूत्वा स्त्रियमासेव्य शौचं प्रति न विलम्बेत, सद्य
एव शौचं कुर्यादित्यर्थः । वीत्युपसर्गाद्यावता कालेन रतिर्न
निवर्तते तावन्तं कालं विलम्बेतापि । न मैथुनविषय एव शौ-
चविलम्बनम् । किंतु मूत्रपुरीषादिविषयेऽपि न विलम्बनं का-
र्यमित्येवमर्थं प्रतिग्रहणम् । ननु नित्यं शुचिरित्यनेनैवैतत्सिद्धम् ।
अत्रोच्यते—अत्र शौचशब्देन मलापकर्षणमात्रमुच्यते, आचमना-
होदकासम्भवे तल्लेपापकर्षणं येनकेनचित्कर्तव्यमित्येवमर्थः सू-
त्रारम्भ इति । एवंच नित्यं शुचिरित्यस्य सति सम्भवे नित्यं
शुचिः स्यादित्येषोऽर्थो लभ्यते । ततश्चासम्भवादशुचिः सतो
न दोषः ॥

न च तस्मिन् शयने स्वाध्यायमधीयीत ॥ २७ ॥

यस्यिन् शयने मैथुनमाचरितं तस्मिन् शयने नाधीयीत
स्वाध्यायग्रहणाद्वेदम् । चशब्दात्पूज्यांश्च तत्र नोपवेशयेत् ॥

न चापररात्रमधीत्य पुनः प्रतिसंविशेत् ॥ २८ ॥

पश्चिमे रात्रिभागेऽधीत्य पुनर्न स्वप्यात् । पुनर्ग्रहणात् पूर्वमसुप्तस्याप्रतिषेधः । अपररात्रग्रहणात् पूर्वरात्रे न दोषः । यथा च पूर्वं संविष्टः तथा पुनर्न संविशेत् न तु विश्रमार्थमपीति प्रतिग्रहणम् ॥

नाकल्यां नारीमभिरमयेत् ॥ २९ ॥

अस्वस्थशरीरां अनलङ्कृतशरीरां वा अकल्यां नारीं स्त्रियं नाभिरमयेत् । अभीत्युपगमार्थम् । ततः विनोदार्थायाः क्रीडायाः अप्रतिषेधः ॥

न रजस्वलाम् ॥ ३० ॥

उदक्यां च नोपेयात् । ननु च उदक्यागमने त्रिरात्रमिति प्रायश्चित्तविधानादेव प्रतिषेधः सिद्धयति । उच्यते—‘त्रिरात्रं रजस्वलाऽशुचिर्भवति’ इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् त्रिरात्रान्तर्गमने प्रायश्चित्तमुक्तम् । इह तूर्ध्वमनिवृत्ते रजसि प्रतिषेधः । अन्ये त्वकालप्रवृत्ते रजसि रजस्वलामाहुः । तदयुक्तम्, कालप्रवृत्ते एव रक्ते रजश्शब्दप्रवृत्ते, तस्यैवाशुचिकरत्वाच्च । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

अकाले यद्भवेत् स्त्रीणां रक्तमाहुर्मनीषिणः ।

काले तु तद्रजः प्रोक्तं तस्मात्तत्रैव साऽशुचि ॥

इति । तथाच भार्गवीयमपि—

अकाले यद्भवेत् स्त्रीणां शुचिं तत्तु विनिर्दिशेत् ।

अशुद्धं तद्विजानीयान्मासि मासि भवेत्तु यत् ।

इति । तथाच वसिष्ठः—

स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुप्यन्ति कर्हिचित् ।

मासि मासि रजो ह्यासां दुरितान्यपकर्षति ॥

इति । तथाच श्रुते -- 'सैषा भ्रूणहत्या मासिमास्याविर्भवति' इति । तस्मान्निरात्रादूर्ध्वं प्रतिषेधार्थः । एवंच त्रिरात्रादूर्ध्वमप्यनुपरते रजस्येषाऽशुचिरेव । तथाच मनु —

रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥

- ज्ञते । तत्र त्रिरात्रादूर्ध्वमनुपरतेऽपि स्पर्शयोग्यैव, रजस्वला चतुर्थेऽहनि स्नायादिति स्पर्शनार्थत्वात् स्नातचोदनायाः । रजस्वलां चेति सिद्धे उत्तरार्थः पृथगारम्भः ॥

न चैनां श्लिष्येत् ॥ ३१ ॥

एनामिति त्रिरात्राभ्यन्तररजस्वलोपसङ्गार्थम् । 'न रजस्वला' इति पृथगारम्भस्याप्येतदेव प्रयोजनम् । एवं त्रिरात्रादूर्ध्वमनुपरतेऽप्यालिङ्गने न दोषः । ननु च — 'पतितचण्डालसूतिकोदक्याशव' इत्यादिना स्पर्शप्रतिषेधादालिङ्गनस्याप्यर्थतः प्रतिषेधः सिद्धयतीति । अत्रोच्यते — आलिङ्गने कृते स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तप्रवेशार्थं आरम्भ इति । चकार एनां चाकल्यां चेति समुच्चयार्थः ॥

न कन्याम् ॥ ३२ ॥

अकृतविवाहां नालिङ्गयेत्, उदकपूर्वं लब्धामपि । कन्यां चेति सिद्धे पृथग्योगकरणमदुष्टभावेनालिङ्गने न दोष इति ज्ञापनार्थम् । एवंच — दुष्टभावेनालिङ्गनमात्रेण कन्याया दूषणं भवति । तथाच पैशाचे विवाहे सङ्गमनशब्देनालिङ्गनमेवोच्यते इति युक्तम् । अत्र किमयं कन्यादूषणप्रायश्चित्तेनाधिक्रियते, उत स्नातकव्रतलोपप्रा-

याश्चित्तेनेति । अत्रोच्यते - स्नानकवतलोपप्रायश्चित्तेनैवाधिकारः,
न कन्यागमनप्रायश्चित्तेन, स्मृत्यन्तरे 'रेतस्सेकः' इत्यारम्भात् ।
यथाऽऽह मनुः—

रेतस्सेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्यजासु च ॥ इति

अग्निमुखोपधमनविगृह्यवादबहिर्गन्धमाल्यधा-
रणपापीयसाऽवलेखनभार्यासहभोजनाञ्ज-
न्यवेक्षणकुद्वारप्रवेशपादपादधवनासन्दी -
स्थभोजननदीबाहुतरणवृक्षविषमारोहणप्रा-
णव्यायच्छनानि वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

अग्निमुखोपधमनं अग्नेर्मुखेनोपधमानम् । विगृह्य वादो
लौकीको वाक्कलहः, जलपरूपस्य ब्रह्मचारेप्रकरण एव सिद्ध-
त्वात् । बहिर्गन्धमाल्यधारण, निर्गन्धमाल्यधारण, तथाच स्मृत्य-
न्तरम्—'नागन्धां स्रज धारयेदन्यत्र हिरण्यस्रजः' इति पापी-
यसाऽवलेखन अशुचिद्रव्यावयवेन काष्ठादिना शिरःप्रभृतिकण्डू-
यनम् । भार्यासहभोजन तथा सहैकाधारस्थानाभ्यवहारः ।
'अर्थो वा एष अत्मनो यत्पत्नी' इत्यर्थवाददर्शनात् प्राप्तौ
सत्यां प्रतिषेधः, न पुनरन्यथा सहाभ्यनुज्ञानम्, स्मृत्यन्तरे स्त्री-
शूद्रोच्छिष्टसामान्यप्रतिषेधात् । अञ्जन्यवेक्षणं तैलाद्यभ्यङ्गसाध-
नद्रव्यसेवायां भार्यावलोकनम् । कुद्वारप्रवेशनं गृहादेरप्रसिद्ध-
द्वारप्रवेशः । पादपादधावनं पादस्य पादेन प्रक्षालनम् । आस-
न्दीस्थभोजन पीठिकाद्यवस्थिताधारान्नोपयोगः । नदीबाहुतरणं
बाहुभ्यां तत्पारगमनम् । नदीग्रहणं तटाकादीनामप्युपलक्षणम् ।

वृक्षस्यारोहणं, विषमस्य कूपादेरवरोहणमवतरणम् । प्राणव्या-
यच्छन प्राणोपरोधः उल्लङ्घनादिभिः । एतानि वर्जयेत् ॥

न'संदिग्धां नावमधिरोहेत् ॥ ३४ ॥

संदिग्धामतिभारदोषापहतत्वात् पारगमने, तां नाधिरोहेत् ।
अधिशब्दात् नाक्रामदपि, निष्प्रयोजनत्वात् ॥

कतिपयधर्मान् शरीररक्षणहेतूनुक्त्वा अथेदानीं—

सर्वत एवात्मानं गोपायेत् ॥ ३५ ॥

सर्वापायेभ्यः शरीरं रक्षेत्, यथा—‘नैकः प्रपद्येताभ्वानं
नारीसहायः’ इत्यादि । सर्वग्रहणात्प्रतिषिद्धसेवनेनापि । एवश-
ब्दाद्ग्रहणान्त्यादिभिरपि । आत्मशब्देन शरीरमुच्यते, तद्रक्षणमपि
यथा न विनश्यति तथा कर्तव्यमित्यर्थः । यद्यपि काल एव
विनाशकः, तथऽपि दुर्ज्ञेयत्वादायुषः पौरुषहीनो न भवेदित्य-
भिप्रायः । तथा ज्योतिश्शास्त्रं—

आयुर्ज्ञानं वयोज्ञानं गर्भिणीनां च लक्षणम् ।

ऋषयश्चापि मुह्यन्ति किं पुनर्मांसचक्षुषः ॥

इति । केचिदन्यथा व्याचक्षते—सर्वोपायैः परमात्मानं गोपायेद्वि-
जानीयात्, धातूनामनेकार्थत्वात् । तथाच श्रुतिः—‘आत्मा म-
न्तव्यो निदिध्यासितव्यः’ इति । अन्ये तु—आत्मशब्देन परमा-
त्मक्षेत्रज्ञजीवात्मभूतात्मानश्चत्वार उच्यन्ते इत्याहुः । यथाऽऽह
मनुः—

योस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।

यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मा यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।

येन वेदयते सर्वं सुख दुःखं च जन्मसु ॥

प्रशासितार सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।

रुक्माभ स्वप्रधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ इति ॥

न प्रावृत्य शिरोऽहनि पर्यटेत् ॥ ३६ ॥

प्रावृत्य वस्त्रादिना शिरः पिधाय दिवा समन्ताच्चङ्क्रमणं न कुर्यात् । अल्पावकाश गच्छेदपि, परिशब्दप्रयोगात् । ढत्र० शिरोवेदनापरिहारार्थं न दोषः, 'सर्वत एवात्मानं गोपायेत्' इत्युक्तत्वात् ॥

प्रावृत्य तु रात्रौ ॥ ३७ ॥

अर्थलब्धस्यापि नियमार्थं आरम्भः, अल्पावकाशमपि प्रावृत्यैव गच्छेदिति ॥

मूत्रोच्चारे च ॥ ३८ ॥

कुर्यादिति शेषः । चकारात्प्रावृत्यैव ॥

किञ्च—

दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ॥ ३९ ॥

दिवा चेदुदङ्मुखः कुर्यात् । 'न वाय्वग्निविप्रादित्यापो देवता गाश्च प्रतिपश्यन्वा' इत्याभिमुखनिवारणात् अस्य क्वचिदनित्यतां दर्शयति, यद्ययं नियमः तदानीमादित्याभिमुखताप्राप्त्यभावादिति । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

छायायामन्धकारे च प्राणबाधभयेषु च ।

यथासुखमुखः कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥

इति । छायादिष्वप्यादित्याद्यभिमुखता वर्जनीयेत्यभिप्रायेण 'न वाय्वग्नि' इत्यादिसूत्रमारब्धमिति द्रष्टव्यम् ॥

संध्योश्च ॥ ४० ॥

उदङ्मुखत्वानुकर्षणार्थश्चकारः ॥

रात्रौ तु दक्षिणाभिमुखः ॥ ४१ ॥

तुशब्दश्चशब्दस्यार्थे । सोऽपि कुर्यादिति क्रियानुकर्षणार्थः ॥

न भूमावनन्तर्धाय ॥ ४२ ॥

अयज्ञियैः तृणैः । तथाच स्मृत्यन्तरम्—'भूमिमयज्ञाङ्गैस्तृणैराच्छाद्य मूत्रपुरीषे कुर्यात्' इति । भूमिग्रहणादिष्टकादौ न दोषः ॥

न तिष्ठन् ॥ ४३ ॥

तिष्ठंश्च मूत्रपुरीषोत्सर्गं न कुर्यात् ॥

नाराञ्चावसथात् ॥ ४४ ॥

गृहसमीपे न कुर्यात् । चशब्दाद्देवायतनसभादिसमीपे च ॥

न भस्मकरीषकृष्टच्छायापथिकाम्येषु ॥ ४५ ॥

गृहादिविप्रकृष्टेष्वपि भस्मादिषु न कुर्यात् । छाया उपजीव्यच्छाया । करीषं गोमयम् । काम्यं कमनीयप्रदेशः आपणीदि । काम्येष्वाति बहुवचनं स्मृत्यन्तरोपदिष्टोपसङ्गहार्यम् । यथाऽऽह वसिष्ठः—'न नद्यां मेहनं कुर्यान्न पथि न च भस्मनि न गोमये न कृष्टे नोप्ते न शाडूलोपजीव्यच्छायासु' इति ॥

पालाशमासनं पादुके दन्तधावनमिति च
वर्जयेत् ॥ ४६ ॥

पालाशमासनादि न कुर्यात् । इतिकरणादन्यदप्येवरूपं
रथादि, विसमासात् शयनं च । चशब्दाद्व्यादि गृहोपकरण
च । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

आसनं शयनं यान गृहोपकरणानि च ।

वर्जयेत्पादुके चैव पालाश दन्तधावनम् । इति ॥

सोपानत्कश्चाशनासनाभिवादननमस्कारान्व-
र्जयेत् ॥ ४७ ॥

उपानत्पादो भोजनासनाभिवादनदेवताप्रणामान् वर्जयेत् ।
चब्दात्पादुकास्थश्च ॥

न पूर्वाह्णमध्यंदिनापराह्णानफलान्कुर्याद्यथाश-
क्ति धर्मार्थकामेभ्यः ॥ ४८ ॥

पूर्वाह्णद्यहर्विभागान् यथासामर्थ्यं धर्मादिभिः यथासख्यं
नावरुन्ध्यात् । कुर्याच्छक्येति वक्तव्ये यथाग्रहणं समुच्चये-
नाप्यासेवनप्राप्तार्थम् । चतुर्थीनेर्देशाच्च धर्मादिभिरिति द्रष्ट-
व्यम् । तत्र पूर्वाह्णे यथासम्भव जपादि कुर्यात्, मध्याह्ने अर्था-
हरणोपायम्, अपराह्णे गन्धमाल्यादिसेवनमिति ॥

तेषु तु धर्मोत्तरः स्यात् ॥ ४९ ॥

तेषु धर्मार्थकामेषु धर्मप्रधानः स्यात् । इतरयोरासेवना-
सम्भवेऽपि नियमेन धर्मः कर्तव्य इत्यभिप्रायः । त्रीनापि धर्मा-
नुबन्धिनः कुर्यादिति तुशब्दः ॥

*न शिश्रोदरपाणिपादवाक्चक्षुश्चापलानि कुर्यात् ॥ ५० ॥

चापलशब्द प्रत्येकमभिसंबध्यते । शिश्रुचापलमकाले मैथुनेच्छा । उदरचापलमनेकरसाभिलाष । पाणिचापलं शिल्पकर्मशिक्षाऽभिलाष । पादचापल वृथाऽटनम् । वाक्चापल अपृष्टेनान्यायेन पृष्टेन वा धर्मादिकथनम् । तथाऽऽह मनु—

ना पृष्ट. कस्यचिद्भूयान्न चान्यायेन पृच्छत. ॥

इति । चक्षुश्चापलमनवधिर्दर्शनेच्छा । ननु च 'वाग्बाहूदरसयत' इत्यनेन किञ्चित्पुनरुक्तमिति । नैतदेवं, तत्र वाक्सयतत्वेनानिवन्धप्रलापित्व, बाहुसयतत्वेन लोष्टमर्दनादि, उदरसयतत्वेन अमितापथ्यभुक्त्वमिति ॥

छेदनभेदनविलिखनविमर्दनावस्फोटनानि नाकस्मात्कुर्यात् ॥ ५१ ॥

छेदन तृणादीनां, भेदनं घटादेः, विलिखनं नखादिभिः कुड्यभूम्यादीनां, विमर्दनं लोष्टादीनां सङ्घर्षण, अवस्फोटनं अङ्गुल्यादीनां सन्धिसशब्दरं— एतानि विशिष्टेन निमित्तेन विना न कुर्यात् । ब्रह्मचारिप्रकरणे बाहुसयतत्वेन सिद्धे छेदनादीनां कारणे सत्यभ्युत्थानार्थम् ॥

† अत्र हरदत्तव्याख्यानुरोधेनपठनीयमिदमधिकं सूत्रद्वय— 'न नम्रा परयोषितामिक्षत । न पदाऽऽसनमाकर्षेत् ।

† 'अशुचिदर्शनेच्छा' इति पाठान्तरम्.

नोपरि वत्सतन्तीं गच्छेत् ॥ ५२ ॥

यया रज्ज्वा वत्सो बध्यते सा वत्सतन्ती । तामुपर्युल्लङ्घ्य .
न गच्छेत् । वत्सशब्दो गोजात्युपलक्षणम् ॥

न कुलंकुलः स्यात् ॥ ५३ ॥

गृहाद्गृहं न गच्छेदित्यर्थः । अथवा विना कारणेन गृहात्
गृहं न गच्छेत् । कुलमेव वा कुलं यस्य सः कुलकुलः ।
सत्यपि धर्माधिकारे पितृकुल एव न तिष्ठेदित्यर्थः ॥

न यज्ञमवृतो गच्छेत् ॥ ५४ ॥

अनुषामन्त्रितां यज्ञं नेयात् ॥

दर्शनाय तु कामम् ॥ ५५ ॥

काममिति नावश्यम्, एवमपि गच्छतो लाघवमवश्यम्भावी-
ति । तुशब्दो नियमार्थः, दर्शनार्थमेव न तु भोजनार्थमपीति ॥

न भक्षानुत्सङ्गे भक्षयेत् ॥ ५६ ॥

भक्षाः पृथुकादयः । येषामुत्सङ्गे भक्षणं प्रसक्तं तानुत्स-
ङ्गोपरि कृत्वा न भक्षयेत् ॥

न रात्रौ प्रेष्याहृतम् ॥ ५७ ॥

रात्रौ प्रेष्येण शूद्रादिना आहृतं यत्किञ्चिन्न भक्षयेत् । कुत
एतत् ? भक्षानिति प्रकृते एकवचननिर्देशात् । दिवाऽऽनीतस्या-
प्रतिषेधः ॥

उद्धृतस्नेहविलयनपिण्याकमथितप्रभृतीनि चा- त्तवीर्याणि नाश्नीयात् ॥ ५८ ॥

उद्धृतस्नेह आत्ताग्रमण्ड दध्यादि । विलयन घृतादिनिष्प-
न्नम् । पिण्याक आत्तरसम्, इतरस्य दोषाभावात् । तथा चार्थ-
वादश्रुति.—‘वैशाख्यां पौर्णमास्यामनात्तसारं पिण्याक दद्युः’
• इति । मथितं तक्रं, तदप्युद्धृतनवनीतं, इतरस्य दोषाभावात्
तथान्न गृह्यस्मृति.—‘दधि निर्मथ्यानात्तनवनीतमश्नीयात्’ इति ।
प्रभृतिग्रहणात् कीलाटकुञ्जकादीनि । राज्यनुकर्षणार्थश्चकारः ।
एतानि रात्रौ नाश्नीयादिति । अथवा—उद्धृतस्नेह इति प्रत्येकम-
भिसंबध्यते । उद्धृतस्नेहं यद्विलयनम्, यच्च पिण्याकं, यानि च
मथितप्रभृतीनि । प्रभृतिग्रहणेन दधिक्षीरे उच्येते । तयोरुद्धृ-
तस्नेहत्वमात्ताग्रमण्डत्वम् । उद्धृतस्नेहानि नाश्नीयादिति सिद्धे
विलयनादीनामुपादानं अन्येषामाम्रफलगुडादीनामुद्धृतस्नेहानाभ-
व्यनुज्ञानार्थम् । एतानि रात्रौ नाश्नीयात्, दिवा न दोषः । आत्तवी-
र्याणीति वीर्यशब्देन सारभूतमुच्यते । तदात्त यस्मिन् तदात्त-
वीर्यमुच्यते कदलीफलत्वगादि । पृथगारम्भादिवाऽपि । ननु
चाभक्ष्यभक्षणप्रकरण एवेदं वक्तव्यमिति । अत्राच्यते—एवं व्यति-
क्रमे स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तं स्यात्, नाभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्त-
मित्यत्रोपादानमिति । अप्रेष्याहृतान्यपि नाश्नीयाद्रात्राविति विल-
यनादीनां पृथगारम्भ ॥

सायं प्रातस्त्वन्नमभिपूजितमनिन्दन् भुञ्जी-
त ॥ ५९ ॥

अन्तरा भोजनप्रतिषेधार्थोऽयमारम्भ , अर्थप्राप्तत्वात् । तथा-
च मनु —

सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम् ।

नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥

इति । तुशब्दो विशेषवाची, अन्नविशेषस्य विप्रतिषेधो
न मोदकादीनामपीति । अभिपूजितं नमस्कार । अभिशब्दप्रयो-
गात् समन्त्रकं दर्शयति । तथाऽऽह वसिष्ठ. --‘रोचत इति
सायं प्रातरशनान्यभिपूजयेत्’ इति । अनिन्दन् कदन्नत्वादिदोषे-
णाकुत्सयन् भुञ्जीत ॥

न कदाचिद्रात्रौ नम्रः स्वपेत् ॥ ६० ॥

कदाचित् निमित्तेष्वपि । रात्रावेवेति नियमार्थं रात्रिग्रहणं,
यदि दिवाऽपीष्यते तदानीं न कदाचिन्नम्रः स्वपेदित्युक्ते सर्वं
सिद्ध्यतीति । ततश्च दिवा न दोषः । किञ्च—अनेनैतदपि ज्ञाप-
यति—दिवा स्वप्नप्रतिषेधोऽस्य नास्तीति । अन्यथा तदानीमपि
न कदाचिन्नम्रः स्वपेदित्युक्ते दिवा स्वप्नप्रतिषेधादेवार्थतो दिवा
लभ्यमानत्वात् पारिशेष्याद्रात्रावेव भवतीति रात्रिग्रहणमनर्थकं
स्यादिति ॥

स्नायाद्वा ॥ ६१ ॥

पृथगारम्भाद्दिवाऽपि । वाशब्दाज्जलावतरणमपि । तथाच
स्मृत्यन्तर—‘नम्रो जलं नावतरेत्’ इति ॥

इदानीमानभ्यादाचारस्याशेषतो वक्तुमशक्यत्वात् संक्षि-
प्याह—

यच्चात्मवन्तो वृद्धाः सम्यग्विनीता दम्भलो-
भमोहवियुक्ता वेदविद आचक्षते तत्समा-
चरेत् ॥ ६२ ॥

चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे, सोपि विशेषवाची, अदृष्टमुद्दिश्ये-
ति । आत्मवन्त ज्ञानकर्मरामुच्चयनिष्ठा इत्यर्थः । वृद्धाः वेदाव-
स्थिततत्त्वज्ञानाः । सम्यग्विनीताः गुरुभिः सुशिक्षिताचाराः । दम्भो
लोकरञ्जनार्थं धर्मसेवनम्, लोभः अन्यायेन परद्रव्यादित्सा,
मोहो लोकविरुद्धज्ञानं, एतैः वियुक्ता अव्याप्ताः । वेदविदः
अधीतसकलवेदाः । यददृष्टार्थमुद्दिश्याचक्षते, त्वं मम गोभ्यो
यवस देहि इत्यादि । दृष्टार्थत्वं मम गोभ्यो यवस दत्त्वा
आढकं गृहाणेत्यादि । तत्सकलं, असायया, यत्तदोर्नित्यसंबन्ध
इति यच्छब्दोपादानादेव सिद्धे पुनस्तच्छब्देन परामर्शात् । तदाच-
रेत् कुर्यात्प्रसन्नो भूत्वा, समुपसर्गप्रयोगात् । सर्वगुणयोगाभावे
द्विगुणत्रिगुणादियोगे कर्तव्यमित्येवमर्थो विसमासः । एकस्य
नियोगकरणादेव कृतार्थो न स्यात्, किंतु बहूनां निगोगकरणा-
देवेति बहुवचनप्रयोगः । एवंविधो यदि स्वयमेव नियुङ्क्ते
तदेव कर्तव्यं न पुरुषान्तरनियोगः, वदन्तीति वक्तव्ये आच-
क्षते इति गुरुसूत्रकरणात् । आमरणात् पुनः पुनः कर्तव्यम्, कर्त-
व्यमिति वक्तव्ये आचरेदित्यारम्भात् । सम्भूय वा पृथग्वा एक-
विषये नानाविषये वा यो नियोगः कर्तव्यः कृत्स्नोऽसौ कर्तव्य-
एव, आत्मवन्ता वृद्धानां सम्यग्विनीतानां दम्भलोभमोहवियुक्तानां
वेदविदां वचनं कर्तव्यमिति वक्तव्ये एवमभिधानात् ॥

योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत् ॥ ६३ ॥

अलब्धलाभो योगः, लब्धस्य रक्षणं क्षेमः, अर्थशब्द प्रयोजनावाची, योगक्षेमप्रयोजनमिति । ईश्वरशब्देन राजोच्यते तं गच्छेन्न कार्पण्येन, आदिशब्दप्रयोगात् ॥

नान्यमन्यत्र देवगुरुधार्मिकेभ्यः ॥ ६४ ॥

अन्यः उभयकरणासमर्थः । अप्राप्तिपूर्वकप्रतिषेधारम्भाद्राज्ञः अन्योपि य उभयकरणसमर्थः सोऽधिगन्तव्य इति ज्ञापयति । अन्यत्र वर्जयित्वा, देवता प्रतिमा, गुरुः पित्रादिः, धार्मिकः ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानशीलः, तेषामभिगमनस्यादृष्टार्थत्वात् ॥

**प्रभूतैधोदकयवसकुशमाल्योपनिष्क्रमणमार्य-
जनभूयिष्ठमनलससमृद्धं धार्मिकाधिष्ठितं
निकेतनमावसितुं यतेत ॥ ६५ ॥**

बहुकाष्ठोदकतृणदर्भपुष्परम्यनिर्गमनभूमिं, ब्राह्मणादिवर्णत्रय-बहुलं, अनुष्ठानशीलजनसङ्कीर्णं, न्यायवृत्तराजपरिगृहीतं च स्थानमाश्रयितुं प्रकर्षेण यत्नं कुर्यात् । समुच्चयाभावे यथालाभ-गुणयोगेऽपि निवसेदित्यसमासः । एवंविधमेव धर्माय रतये च पर्याप्तं भविष्यतीति ॥

**प्रशस्तमङ्गल्यदेवायतनचतुष्पथादीन् प्रदक्षि-
णमावर्तेत ॥ ६६ ॥**

प्रशस्तं गोब्राह्मणप्रज्ञातवनस्पत्यादि । मङ्गल्यं दधिघृतपूर्णकुम्भादि । देवायतनं देवतास्थानम् । चतुष्पथः प्रसिद्धः । एतेषां प्रदक्षिणं यायात्, नापसव्यं, यथैतानि गच्छतः प्रद-

क्षिणेनातिक्रामन्ति, न पुनरेकैकस्य भ्रमणं, कुर्यादिति वक्तव्ये आवर्तेतेत्यारम्भात् ॥

**मनसा वा तत्समग्रमाचारमनुपालयेदाप-
त्कल्पः ॥ ६७ ॥**

यदि त्वरितत्वात्प्रदाक्षिण न करोति, ततो मनोध्यानमा-
त्रेणैव संपादयेदित्येके वर्णयन्ति । तदयुक्तम्, मनसा वाऽनुपाल-
येदित्येतावतैव लभ्यमानत्वात् । तस्मान्मनसा वा—तच्छब्दोपा-
दानाद्यच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः—यत् ‘नित्यं शुचिः’ इत्याद्याचारजा-
तमुक्तं, तत्समग्रं,—समग्रशब्दस्योपादानमनन्तरस्यैव मा भू-
दिति, अचारग्रहणं गृहस्थधर्मस्यापि ग्रहणं मा भूदिति—अनु-
पालयेच्चिन्तयेदित्यर्थः । आपत्कल्पः आपद्विधिः । आपत् त्वरि-
तत्वात् तत्कार्यासम्भवः । अभाववैकल्पिकार्थेनैव वाशब्देनाय-
मर्थो लभ्यत इत्यापत्कल्पग्रहणमनर्थकामति चेत्—न, आपद्वि-
हितकर्मानुष्ठानादकरणदोषाभावमात्रं भवति नाभ्युदयोपलब्धे-
मर्थमापत्कल्पग्रहणमिति । अध्यायान्ते वक्तव्ये अत्रोपादानं ‘सत्य-
धर्मार्यवृत्तः’ इत्यादिवक्ष्यमाणवर्जनार्थम् ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तः ॥ ६८ ॥

सत्यधर्मश्चासावार्यवृत्तश्चेति सत्यधर्मार्यवृत्तः । सत्यधर्मा
सत्यसंघः यद्वदति संकल्पयति वा तदेव करोतीत्यर्थः । येन
वृत्तेनार्याणां साधूनां प्रियो भवति प्रियभाषणादिना तदस्य
वृत्तमित्यार्यवृत्तः ॥

शिष्टाध्यापकः शौचशिष्टः श्रुतिनिरतः स्यात् ॥

शिष्टाध्यापकः सतामध्यापयिता न त्वयोग्यानाम् । जला-
दिभिः शौचशिष्टः तत्परः । ‘नित्यं शुचिः, न मिथुनीभूत्वा

शौचं प्रति विलम्बेत' इति च सिद्धे 'मनसा वा' इत्याप-
त्कल्पानुप्रवेशो मा भूदिति शौचस्य पुनरुपदेशः । श्रुतिनि-
रतो वेदाभ्यासपर । श्रुतिग्रहणं मन्वादिनिवृत्त्यर्थम् ॥

नित्यमहिंस्रो मृदुर्दृढकारी दमदानशीलः॥७०॥

नित्यग्रहणात् निमित्तेऽपि सति अहिंस्रः प्राणिपीडावर्जन-
शीलः । मृदुः अपराधेष्वपि प्रत्यापत्तिशीलः । दृढकारी आर-
ब्धस्य समापयिता । दमशीलः इन्द्रियाणां स्वविषयातिप्रस-
र्केर्निवारयिता । दानशीलः अल्पधनाऽपि सविभागरुचिः । स-
र्वासम्भवे यथासम्भवानुष्ठानाऽपि कृतार्थताज्ञापनार्थो विसमासः ॥

**एवमाचारो मातापितरौ पूर्वापरान्सम्बन्धान्दु-
रितेभ्यो मोक्षयिष्यन्स्नातकः शश्वद्ब्रूहलो-
कान्न ज्यवते न ज्यवते ॥७१॥**

एवमाचार एवकर्मा स्नातक इति व्यवहितेन सम्बन्धे ।
प्रकृतस्यापि पुनर्वचनं स्नातकव्रतानामेतत्फलमिति ज्ञापनार्थम् ।
मातापितरौ, 'पिता मात्रा' इत्यकशेषः प्राप्नोतीति चेन्न, द्वा-
वस्य पितरौ, तयोर्गृह्यमाणत्वात्—आचार्य उत्पादकश्चेति । पूर्वस-
म्बन्धाः पितामहादयः । अपरसम्बन्धा मातामहादयः । एता-
न्प्रापेभ्यो मोक्षयितुमिच्छन् मोक्षयति चैतान्, स्वयं च ब्रह्म-
लोकान्नापैति । आचारग्रहणमशेषस्नातकधर्मफलार्थं, मा भून्नित्यं
शुचिरित्यादेरेवेति । शश्वद्ब्रूहणं आपेक्षिकनित्यत्वनिवृत्त्यर्थम् ।
द्विस्त्किरध्यायपरिसमाप्तिज्ञापनार्था ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये नवमोऽध्यायः

द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम् ॥ १ ॥

अध्ययनं वेदस्य ग्रहणधारणाभ्यासजपादिरूपम् । इज्या यागः देवपितृपूजा । दानं यथाशक्त्यर्थिजनस्य द्रव्यसंविभागः । असमासः समुच्चयार्थः, द्विजातीनां यथासर्थं मा भूदिति । अधिकग्रहणादेवैतल्लभ्यत इति चेत् एकैकस्य एकैकधर्मप्राधान्यज्ञापनार्थं इत्यदोषः । तद्यथा—ब्राह्मणस्याध्ययनं प्रधानम्, यथाऽऽह मनुः—

जप्येनैव तु संसिध्येत् ब्राह्मणो नात्र संशयः ॥

इत्यादि । क्षत्रियरयेज्या, तथा चाह—‘यजेत राजा क्रतुभिः’ इति । वैश्यस्य दानं, तथा चाह—

दद्याच्च सर्वभूतेभ्योऽप्यन्नमेव प्रयत्नतः ॥

इति । पूर्वस्य पूर्वस्य वा बलोर्यस्त्वज्ञापनार्थोऽपि विसमासः । यथाऽऽहोशना—

दानाच्छतगुणो यागो यागाच्छतगुणो जपः ॥

इति । तथा मनुनाऽपि यागाज्जपस्य प्राधान्यं दर्शितम्—

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

इति । अत्र द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानमित्युपनयनोत्तरकालमेव दानस्य विधानात् अनुपनीतेन यत्कृतं दानं तस्यासिद्धत्वं द्रष्टव्यम् ॥

ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनायाजनप्रतिग्रहाः ॥ २ ॥

ब्राह्मणग्रहणं द्विजातेरधिकारादाधिक्यं पूर्वेषु सत्सु भवतीति । ‘ननु वैश्यस्याधिकं, राज्ञोऽधिकम्’ इति च वक्ष्यति, ततश्च

ब्राह्मणस्यैवैतद्भवतीति ब्राह्मणग्रहणं न कर्तव्यमिति । उच्यते—
पूर्ववन्नैते आश्रमधर्मा, किंतु वर्णधर्मा इति ज्ञापनार्थम् । त-
तश्चानुपनीतस्यापि प्रतिग्रहाधिकारोऽस्ति । याजनाध्याप्ते त्व-
संभवान्न स्तः । ब्राह्मणस्य प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाश्चेति वक्तव्ये
अधिकग्रहणमेते वृत्त्यर्था अपि भवन्तीति ज्ञापनार्थम् । पूर्व-
सूत्रवदसमासो न कृतः समुच्चयेनाप्यनुष्ठानार्थं एकार्थत्वाद्विकल्पो
मा भूदिति । प्रवचनमनुवचनम् । शेष निगदव्याख्यानम् ॥

पूर्वेषु नियमस्तु ॥ ३ ॥

प्रथमेष्वध्ययनादिष्ववश्यकर्तव्यता ततश्चाक्रियायां दोषः
क्रियायां चाभ्युदयः । प्रवचनादिष्वनियमः, ततश्च क्रियायाम-
भ्युदयः अक्रियायां प्रत्यवायाभावश्च । तुशब्दो विशेषवाची-
क्षत्रियवैश्ययोरप्येतेषु नियमः, ब्राह्मणस्य विशेषत इति । अत-
एवैवं सूत्रं न कृतम्—द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानं नियमत
इति, उत्तरेष्वपि नियमाधिकारः प्रसज्येतेति ॥

आचार्यज्ञातिप्रियगुरुधनविद्यानियमेषु ब्रह्मणः संप्रदानमन्यत्र यथोक्तात् ॥ ४ ॥

आचार्य उक्तलक्षणः । ज्ञाति मातृपितृसंबन्धः । प्रियः सखा ।
गुरुः पिता ज्येष्ठः ऋत्विक् इत्यादिः । धननियमो धनपरिवर्त-
नम् । विद्यानियमो विद्यान्तरेण परिवर्तनम् । ब्रह्मग्रहणं वे-
दार्थम् । ततश्चाज्ञादावनियमः । संप्रदानमध्यापनं, कर्तव्यमिति
शेषः । अन्यत्र यथोक्तात् 'अनुज्ञात उपविशेत्' इत्यादिकायाः शु-
श्रूषायाः । अन्यत्रोक्तादिति वक्तव्ये यथाग्रहणं येन विधिना

अध्ययनमुक्तं तस्यैवायमपवादो न 'पुन शिष्टाध्यापकः' इत्य-
स्यापि । ततश्च धनविद्यानियमेनाप्ययोग्याय न देयम् ॥

कृषिवाणिज्ये चास्वयंकृते ॥ ५ ॥

कृषिवाणिज्ये प्रसिद्धे, ते अन्येन कारिते ब्राह्मणस्याधिके ।
चशब्दात्पशुपालनं चास्वयंकृतमेव ॥

कुसीदं च ॥ ६ ॥

कुसीदमुपचयार्थं धनप्रयोग, तदस्वकृतमेव, चशब्दप्र-
योगात् । पृथग्ग्रहणं चास्य स्वयंकृतस्याप्यनुज्ञानार्थम् । तथाच
'कुसीदवृद्धिर्धर्म्या' इति वक्ष्यति ॥

राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् ॥ ७ ॥

राज्ञः क्षत्रियस्याभिषेकवतो रक्षणं पालनं सर्वभूतानां स-
र्वप्राणिनाम् । सर्वशब्दप्रयोगात् स्थावराणां च तद्वारेण वृत्ति-
र्भवतीत्याधिकग्रहणम् ॥

तत्पुन कथं कर्तव्यमित्यत आह--

न्याय्यदण्डत्वम् ॥ ८ ॥

लोकाविरुद्धदण्डधारित्व, न पुनरैश्वर्याभिमानात् स्वेच्छया
दण्डपातनम् । वक्ष्यति च--'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्
दमयेत्' इति । अदान्तनिग्रहेण इतरेषां रक्षणं सिद्धयतीति ॥

किञ्चान्यत्--

विभूयाद्ब्राह्मणान् श्रोत्रियान् ॥ ९ ॥

ब्राह्मणान् ब्रह्मगुणसपन्नान् श्रोत्रियान् श्रुतिमतः, साम-
र्थ्यात् स्वविषयवासिनः । भरणमन्नादिदानेन ॥

निरुत्साहांश्चाब्राह्मणान् ॥ १० ॥

निरुत्साहत्वं उपजीवनार्थकर्मानुष्ठानासमर्थत्वम् । अब्राह्मणाः क्षत्रियादयः । इह चाब्राह्मणग्रहणात् पूर्वसूत्रे लब्धमपि ब्राह्मणग्रहणं क्रियते, कथं नामाश्रोत्रियाणामपि ब्राह्मणानां जीवनासमर्थानां भरणं स्यादिति । चशब्दात् दीनानां च ॥

अकरांश्चोपकुर्वाणांश्च ॥ ११ ॥

अकरा. प्रव्रजिता. अब्राह्मणा एव, तेषामेवाधिकारात् । ब्राह्मणप्रव्रजितानां तु प्रतिग्रहानधिकारादेव नोक्तम् । तांश्च साधनादिदानेन विभृयात् । चशब्दाद्व्याधिभयाद्युपहतांश्च । उपकुर्वाणा लोकोपकारिणो वैद्यादयः । आत्मीयपरिचारका इति केचित्, तदयुक्तं अर्थसिद्धत्वात्तेषाम् । चकारात् कालज्ञांश्च ॥

योगश्च विजये ॥ १२ ॥

विजये कर्तव्ये योग. कर्तव्यः । अलब्धलाभो योग । बालभ्यादिना यैराटविकादिभिः करो न दत्तं तान् यत्नतो गृह्णीयादित्यर्थः । चकारालुब्धपरिरक्षणं च । चोरादयो यथा न हरन्ति तथा कर्तव्यमित्यर्थः । एवञ्च पूर्वं योगं क्षेमं च कृत्वा पश्चादविजये यत्नः कर्तव्य इति द्रष्टव्यम् ॥

भये विशेषेण ॥ १३ ॥

भयमन्याभिभवः तस्मिन्विशेषेणात्यन्तं यत्नतो योगक्षेमौ कर्तव्यौ ॥

चर्या च रथधनुर्भ्याम् ॥ १४ ॥

चर्या राष्ट्रस्य सर्वतोऽटनम् । रथग्रहण हस्त्यश्वादिवाहनो-
गलक्षणम् । धनुर्ग्रहण खट्वादीनाम् । चकारादेकस्मिन्नवस्थानं
च । धर्यावस्थानयोर्व्यवस्था कार्यवशाद्दृष्टव्या ॥

सङ्ग्रामे संस्थानमनिवृत्तिश्च ॥ १५ ॥

सङ्ग्रामे युद्धे संस्थानं निर्भयस्यावस्थान, अनिवृत्तिश्च त-
त्रैव प्राणपरित्यागः । चकाराद्युद्ध च । विसमासाद्गुप्तश्चयत्व च ॥

इदानीं नित्यमहिम्न इत्यस्यापवादमाह—

न दोषो हिंसायामाहवे ॥ १६ ॥

आहवो युद्धम् । प्रकृतस्यापि पुनर्वचन विशेषार्थम्—यस्मि
न्नन्योऽन्यमाहूय पुरुषाः प्रवर्तन्त तत्रैव न दोषो नान्यावस्था-
यामिति ॥

**अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेश-
पराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मण-
वादिभ्यः ॥ १७ ॥**

एवंविधान् हिंसतो दोषः । विशब्दः त्रिभिः संबध्यते—
व्यश्वः, विसारथिः, व्यायुध इति । कृताञ्जलिः बद्धाञ्जलिः । प्र-
कीर्णकेशो विमुक्तकेशः । पराङ्मुखः अन्यमुखः । उपविष्टः आसीनः ।
स्थलारूढः पर्वतारूढः । वृक्षारूढः प्रसिद्धः । दूतोऽहं ब्राह्मणोऽ-
हमिति च यो वदति, यश्च गोवच्छब्दं करोति, एभ्योऽन्यत्र
न दोषः ॥

क्षत्रियस्याभिषेकगुणयुक्तरथ धर्म उक्तः इदानीमितरस्याह—

क्षत्रियश्चेदन्यस्तमुपजीवेत्तद्वृत्त्या ॥ १८ ॥

अन्यो जातिमात्रसंबन्धं तं राजानमुपजीवेत् तद्वृत्त्या 'चर्यां च रथधनुर्भ्याम्' इत्यादिना ॥

जेता लभेत साङ्गामिकं वित्तम् ॥ १९ ॥

यदि राज्ञा नियुक्तः पर निर्जित्य धनमासादयति स त्साङ्गामिकं धनं लभेत ॥

अस्यापवादमाह—

वाहनं तु राज्ञः ॥ २० ॥

वाहनं हस्त्यादि, तुशब्दो विशेषवाची । महार्घं यद्रत्नादि तदपि राज्ञ एव, विशेषतो वाहनमिति, ततश्च वाहनावेष्ये स्वल्पमपि द्रष्टव्यम् ॥

उद्धारश्चापृथग्जये ॥ २१ ॥

अपृथग्जयः सराजको जयः तत्रोद्धारो राज्ञः सारद्रव्यम् । वाहनसमुच्चयार्थश्चकार ॥

अन्यत्तु यथार्हं भाजयेद्राजा ॥ २२ ॥

शौर्याद्यपेक्षया योद्धेभ्यो दद्यात् राजग्रहणमेव कुर्वन्ननुरागाद्राजा सपद्यत इति । स्वयमेव विभजनार्थं वा, न परैरेति ॥

अधुना रक्षणनिमित्तामस्य वृत्तिमाह —

राज्ञे बलिदानं कर्षकैर्दशममष्टमं षष्ठं वा ॥ २३ ॥

नियुक्ताय देयमिति राजग्रहणम् । प्रतिसंवत्सरं देयमिति बलिग्रहणम् । दानं कर्तव्यमिति शेषः । कर्षकै यावन्तः कृषि-
न तु वैश्यनैव दशम वाऽष्टम वा, पष्ठ वा, अध-
ममध्यमोत्तमभूभागक्रमेण व्यवस्थितविकल्पो द्रष्टव्यः ॥

पशुहिरण्ययोरप्येके पञ्चाशद्भागः ॥ २४ ॥

पशुपालनेनोपजीवतः सकाशात्पशूनां पञ्चाशद्भागं गृह्णी-
यात् । हिरण्यं वार्षुषिकसकाशात् ।

समार्धं धनमुद्धृत्य महार्धं यः प्रयच्छति ।

स वै वार्षुषिको नाम ब्रह्मवादिषु गर्हितः ॥

इति वार्षुषिकस्य प्रतिषेधादेवास्याभावः । प्राप्नोतीति चेत्—
नैष दोषः, 'काम परिलुप्तकृत्याय पापयिसे दद्याताम्' इति व-
सिष्ठेन प्रकारान्तरेणाभ्यनुज्ञानात् । एकेग्रहणान्न तु गौतमः, तत्र
येषामप्रतिप्रसवः तेषु न गृह्णीयात् । येषां प्रतिषेधाभावादेव वा-
र्षुषिकत्वं स्यात्, तेषु गृह्णीयादित्येव द्रष्टव्यम् ॥

विंशतिभागश्शुल्कः पण्ये ॥ २५ ॥

पण्यं पणनीयं यद्वणिगिभिरिक्कीयते हिंवादि तेषु विंश-
तिभागं गृह्णीयात् । शुल्कग्रहणं सन्नार्थं, ततश्च 'प्रातिभाव्यव-
णिकशुल्क' इत्यादौ व्यवहारसिद्धिः ॥

मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणेन्धनानां षाष्ठ्यः

॥ २६ ॥

मूलं हरिद्रादि, फलं मरीचादि, पुष्पं कुसुम्भादि, औषधं
अभयादि, तृणं यर्तिकचित्कटादि । शेषाः प्रसिद्धाः ॥

कस्मात्पुनरेतद्वाङ्मो देयमित्यन आह—

तद्रक्षणधर्मित्वान् ॥ २७ ॥

तेषां करदायिनां रक्षण तद्रक्षण, स एव धर्मः यस्यासौ तद्रक्षणधर्मी, तस्य भावस्तद्रक्षणधर्मित्व, तस्मात्तद्रक्षणधर्मित्वात् तच्छीलत्वादित्यर्थः । वचनगम्येऽर्थे हेतुवचन देशकालापेक्षया उक्तपरिमाणादप्यल्पतरभागग्रहणार्थम्, इतरथा सर्वमेव राजा रक्षतीति साधारणोऽयं हेतुस्स्यादिति । तथा चाहोशना 'देशकाललाभानुरूपतः करान्प्रकल्पयेत्' इति ॥

तेषु तु नित्ययुक्तः स्यात् ॥ २८ ॥

तेषु तु बल्यादानेषु सर्वदा सत्यपि कार्यव्यग्रत्वे तत्परो भवेत् । तुशब्दो विशेषवाची अन्येष्वपि द्रव्यार्जनोपायेषु धर्मा दनपेतेषु तत्परो भवेत्, अत्र विशेषत इति ॥

अधिके न वृत्तिः ॥ २९ ॥

स्यादिति शेषः । कुटुम्बपोषणादधिकं यत्कोशरूपेणानुप्रविष्टं तस्मिन्कोशे वृत्तिर्न स्यात्, कुटुम्बपोषणार्थं, अन्यत्रापदः, तस्मिन् न गृह्णीयादित्यर्थः । तथाच व्याघ्रः—

कुटुम्बपोषणं कुर्यान्नित्यं कोशं च वर्धयेत् ॥

अन्यत्रापत्तितः कोशं न गृह्णीयात्कदाचन ॥

इति । केचिद्व्याचक्षते—अधिकेन रक्षणद्वारागतेन जीवनेन स्यादिति । तत्र 'राज्ञोऽधिक' इत्यनेन पुनरुक्तप्रसङ्गोऽस्ति उत नास्तीति निरूपणीयम् ॥

शिल्पिनो मासि मास्येकैकं कर्म कुर्युः ॥ ३० ॥

शिल्पिनो लोहकारादय मासि मास्येकैकमह्रात्मानुरूपं
राज्ञः कर्म कुर्यु, तदेव तेषां शुल्क नान्यत्किञ्चिदिति ॥

एतेनात्मोपजीविनो व्याख्याताः ॥ ३१ ॥

आत्मोपजीविनो नटनर्तकादयः, तेऽप्येकमहो राज्ञः कर्म
कुर्युरिति शिल्प्यात्मोपजीविन इति वक्तव्ये पृथग्रहण आत्मो-
पजीविनामलपोपकारित्वादनित्यत्वार्थम् । आत्मोपजीविनश्चेत्येवम-
पि न कृतम्, स्मृत्यन्तरेऽपि शिल्पिनो यद्यदुक्त तस्य सर्व-
स्याप्यनुप्रवेशार्थम्, यथाऽऽहोशना—‘ शिल्पिनो मासिमासि क-
र्मैकं प्रोक्तम्, तदभावे कार्षापण वा दद्यात् ’ इति ॥

नौचक्रीवन्तश्च ॥ ३२ ॥

चक्रं शकटं, नौचक्राभ्यां य उपजीवन्ति । बहुवचनात् व-
र्धकिनापितादय । चकारात् वन्यमृगघातकादयः । पूर्ववदनि-
त्यता मा भूदिति पृथग्रहणम् ॥

भक्तं तेभ्यो दद्यात् ॥ ३३ ॥

तेभ्य शिल्पिप्रभृतिभ्यः भक्त भोजन शुल्कं दद्यात् । त-
द्ग्रहणमनन्तराणामेव मा भूदिति ॥

पण्यं वणिग्भिरर्घापचयेन देयम् ॥ ३४ ॥

मासि मास्येकैकमित्यनुवर्तते शुल्कादधिकमिदम् । अर्घाप-
चयः अर्घावरमूल्यम् । तथाच बृहस्पतिः—

शुल्कं दद्यात्ततो मासमेकैकं पण्यमेव च ।

अर्घावरमूल्येन वणिजस्ते पृथक्पृथक् ॥ इति

प्रनष्टमस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रब्रूयुः ॥ ३५ ॥

प्रनष्टं स्वामिसकाशादपगतं अस्वामिकं अविज्ञायमानं ~~स्वामिक~~—ज्ञायमानस्वामिकं तु स्वामिन एव कथयेत् । आधे-
गम्य लब्ध्वा राज्ञे नामात्यादिभ्यः प्रब्रूयुः, प्रशब्दादमायया क-
थयेयुः, इदमस्मिन्देशे एव चासादित, अन्विष्यतां कस्यैतदिति ।
बहुवचनप्रयोगात् सामन्तादिभिरपि वक्तव्यमेवेति ॥

एवं कथितं --

विख्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम् ॥ ३६ ॥

विख्याप्य पटहकेनावद्युष्य अमुकजातीयं वस्त्वासादितं,
यस्यैतत् स स्वयमुपतिष्ठतामिति । संवत्सरं निरुपद्रव रक्ष्यं पा-
लनीयम् । प्राक् संवत्सराद्यदि स्वाभ्यागच्छति तस्मै देयम्,
रक्षणस्य तदायत्तत्वात् अधिकाराच्च लब्धस्यापि राजशब्दस्यो-
पन्यासः तद्रक्षणे अत्याप्ता नियोक्तव्या इति तथावाहोशना —
'विद्याभिजनयुक्तान्पूर्वदृष्टप्रमाणान्वृद्धान्निधिपालने नियुञ्ज्यात्'
इति ॥

ऊर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थं राज्ञश्शेषः ॥ ३७ ॥

संवत्सरात्परतो येनाख्यातं तस्मै चतुर्थं, राज्ञः शेषम् ।
आख्यातुश्चतुर्थं दत्त्वा शेषं स्वयं गृह्णीयात् उत नियुक्ताय दे-
यमिति सन्देहः स्यादिति तन्निराकरणार्थं शेषं राज्ञ इत्युक्तम् ॥

अथ योऽर्वाक् संवत्सरान्ममेदमिति प्रब्रूयात् स स्वामीति
कथमवगम्यते इत्यत आह—

स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ॥

३८ ॥

एतेषु कारणेषु प्रतिपादितेषु ज्ञायमानेषु स स्वामी भवे-
दिति । रिक्थं पितु सकाशात्प्राप्तं, क्रयो मूल्येन विक्रीतं, स-
विभाग उत्सन्नं यद्वायादि स्वरूपेण प्राप्तं, परिग्रहः स्त्रीधनम् ।
अनन्यपूर्वस्य स्वीकरणं, यथा नद्यादिषु पृक्षादिरित्येके तत्रा-
धिगमेन पुनरुक्तमस्ति उत नास्तीति विचारणीयम् । अधिगमः
आकरादिभ्यो लब्धं रत्नादि ॥

एतानि तावत्सर्ववर्णानां साधारणानि ॥

ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम् ॥ ३९ ॥

प्रतिग्रहोपात्तं, तद्वर्तत्वात् । एतदुक्तं भवति—याजनाध्याप-
नोपात्तमपि द्रष्टव्यमिति ॥

क्षत्रियस्य विजितम् ॥ ४० ॥

निगृह्य शस्त्रेण निर्जितं यत् तत् क्षत्रियस्याधिकम् ॥

निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः ॥ ४१ ॥

निर्विष्टं कर्मणोपात्तं, वैश्यस्य कृष्यादिना, शूद्रस्य तु शु-
श्रूषादिना, अधिकमिति वर्तते ॥

प्रनष्टाधिगतादधिगन्तुश्चतुर्थमुक्तं तद्विशिनष्टि—

निध्यधिगमो राजधनम् ॥ ४२ ॥

निधे पूर्वनिहितस्याधिगमो लाभः सः राज्ञ एव, न त-
तोऽधिगन्तुश्चतुर्थः एवच निधेरन्यद्रव्यं यत्तस्मादेव चतुर्थांश-
इति द्रष्टव्यम् । ननु च निधेर्यदन्यद्रव्यं राज्ञः कथं तत्प्राप्तिः,
अधिगमस्य साधारणत्वेनोक्तत्वात् येन पूर्वमधिगम्यते तेनैव

तस्य गृह्यमाणत्वादिति अत्रोच्यते — यस्मिन्ननुभूतचिह्नानि दृश्यन्ते तद्राज्ञे कथयेत् इतरत्स्वयं गृहीयादिति एव चानुभूतचिह्नानि मुषित्वा गृह्यतो दोषः यथाऽऽह लोकाक्षि “अनुभूतचिह्नानि मुषित्वा गृह्यतः पूर्वसाहस दण्डः तद्रव्यद्विगुणं च राजा हरेत्” इति अस्ति धनग्रहणे निध्यधिगमो राज्ञ इत्युक्ते अराज्ञ इति प्रतिषेधोप्याशङ्क्येत ॥

न ब्राह्मणस्याभिरूपस्य ॥ ४३ ॥

अभिरूपः षट्कर्मनिरतः तथाच वसिष्ठ ‘ब्राह्मणश्चेदाधिगच्छेत् षट् कर्मसु वर्तमानो न राजा हरेत्’ इति तस्य कर्मसाधनत्वात् ॥

अब्राह्मणोप्याख्याता षष्ठं लभेतेत्येके ॥ ४४ ॥

अब्राह्मण क्षत्रियादि, आख्याता पूर्वं ज्ञापयिता, षष्ठमंशं लभेतेत्येके मन्यन्ते, चारित्रकृशफलं हि तदिति एक इति वचनान्न तु गौतमः, अपरिमितसारत्वान्निधीनाम् । अतो यत्किञ्चिदस्य देयमिति न तु षष्ठ एवांश इति । अपिशब्दाद्ब्राह्मणोप्यनभिरूप इति ॥

रक्ष्यं बालधनमा व्यवहारप्रापणात् समावृत्तेर्वा ॥ ४५ ॥

बालः अप्राप्तषोडशवर्षं तद्रहणमन्येषामपि रक्षणासमर्थानामुपलक्षणम् । तद्धनं बन्धुभ्यो रक्षेत् । अन्येभ्यस्तु रक्षणस्य ‘रक्षणं सर्वभूतानां’ इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । आ व्यवहारप्रापणात् रक्षणसामर्थ्योपजननात्, आ समावृत्तेर्वा सत्यपि सामर्थ्यलक्षणे । विकल्पस्तु अध्ययनाद्यभियोगापेक्षया वर्णनीयः ॥

चोरहृतमपजित्य यथास्थानं गमयेत् ॥ ४६ ॥

चोराद्यपहतं तत आच्छिद्य स्वामिन एव प्रत्यर्पयेत् । न तु 'जेता लभेत साङ्गामिकम्' इत्यनेन कण्टकमर्दनव्याजेन वा किञ्चिदुपजीवेत् । आच्छिद्येति वक्तव्ये अपजित्येति वचनं यो-
प्यन्य आच्छिनन्ति असावप्यमुष्मै दापनीय इति । स्वामिने द-
द्यादिति वक्तव्ये 'यथास्थानं गमयेत्' इत्यारम्भः स्वाम्यभावेऽ-
पि तद्भृत्येभ्यो यथार्हतोऽर्पयेदिति । चोरग्रहणं बलात्करणादेरप्यु-
पलक्षणम् ॥

कोशाद्वा दद्यात् ॥ ४७ ॥

अनपजये, दुर्गदेशादिषु गतत्वात्, यावन्मात्रमपहतं त-
त्स्वधनादद्यात् । कोशाद्वेति नोक्तम्, यथास्थानं गमयेत् का-
शाद्वा गमयेदिति मा भूदाशङ्केति ॥

वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यकुसीदम् ॥

४८ ॥

कृष्यादि प्रसिद्धम् । कृषिश्च वणिकेति द्वद्वैकवद्भावः ।
वाणिगीति वाणिज्यं कर्मोच्यते ॥

शूद्रश्चतुर्थो वर्णः ॥ ४९ ॥

शूद्र इति संज्ञा श्रुतितां द्रवतीति । वर्ण इति त्रयाणां
ब्राह्मणादीनां वर्णसंज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम् । अतश्चतुर्णामेव वर्णसंज्ञा,
नान्तरजानाम् । तथाच वसिष्ठः—'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रि-
यवैश्यशूद्राः' इति ॥

एकजातिः ॥ ५० ॥

नास्य द्वितीया जातिर्विद्यते 'उपनयनमिति द्वितीय जन्म' इति तस्यापि जातिसंज्ञात्वात् । एवं चास्योपनयनप्रतिषेधः । ततश्च तस्यैव प्रतिषेधात् तस्मात्प्राक्तनानाममन्त्रकाणां यथाकालमुप-
ग्राह्यं द्रष्टव्यम् । तथाच गृह्यकारवचन—'शूद्रस्यापि निषेक-
पुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणोपनिष्क्रमणान्नप्राशनचौला-
न्यमन्त्रकाणि यथाकालमुपदिष्टानि' इति । उपरितनानां तूपनय-
नमूलत्वादेव प्रतिषेधसिद्धिः ॥

तस्यापि सत्यमक्रोधश्शौचम् ॥ ५१ ॥

तस्य शूद्रस्य । अपिशब्दात् उत्कृष्टा अवान्तरजाश्च गृह्यन्ते ।
द्विजातीनां ब्रह्मचारिप्रकरणे स्नातकधर्मे चोक्तानामपि वर्णधर्म
प्रापणार्थः इहानुवादः अनुपनीतानामपि प्रवेशो यथा स्यादिति ।
सत्यं यथाभूतार्थवादित्वम् । अक्रोधः परानभिद्रोहबुद्धिः । शौच
मृदादिभिः । अस्तेयेन्द्रियसयमादीनामुपसङ्गहार्थो विसमासः । त
थाच मनुः—

अहिंसा सत्यमक्रोधः शौचमिन्द्रियसयम ।

एतान् सामासिकं धर्मं ॥ इति ॥

तथाच वसिष्ठोपि—'सर्वेषां सत्यमक्रोधो दानमहिंसा प्रज-
ननं च' इति ॥

आचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमेवैके ॥ ५२ ॥

आचमनार्थे स्नानार्थे पाणिपादप्रक्षालनमात्रमेक इच्छन्ति,
अमन्त्रकं स्नानं कर्तव्यमेवेति गौतमः । विकल्पश्च सच्छूद्रापेक्षया
वर्णनार्थः । तथाऽऽहोशना—'सच्छूद्र स्नायात्, असच्छूद्रः

पाणिपादौ प्रक्षालयेत्' इति । नित्यस्नानस्याय, नैमित्तिकस्य तु पक्षान्तराभावात् स्ना नमेव कर्तव्यम् । अथवा आचमनमेवाच्यते तदर्थं पाणिपादप्रक्षालनमेवैक इच्छन्ति, न तु गौतमः । पाणिपादप्रक्षालनं कृत्वा सकृत्पानं च कर्तव्यमिति तस्याभिप्रायः । तथा च मनु.— 'स्त्रिशूद्रौ तु सकृत्सकृत्' इति । विकल्पस्तु पूर्ववद्वर्णनीयः ॥

श्राद्धकर्म ॥ ५३ ॥

'अथ श्राद्धम्' इत्यादि वक्ष्यति । कर्मग्रहणं समस्तश्राद्धोपसङ्गहार्थम् । यथाऽऽह कण्व —

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धमथापरम् ।

पार्वणं चान्ते विज्ञेयं श्राद्धं पञ्चविधं स्मृतम् ॥

इति । श्राद्धग्रहणेनैव लभ्यमानत्वात् कर्मग्रहणं समस्तविध्युपसङ्गहार्थमित्येके, मा भून्मन्त्रप्रतिषेधात्तत्साध्यविधिप्रतिषेधोपीति ॥

भृत्यभरणम् ॥ ५४ ॥

भृत्यदारादिपोषणम् । अर्थप्राप्तमप्येतदुच्यते मा भूदुच्छिष्टाशनाविधानादभृत्यत्वमिति ॥

स्वदारवृत्तिः ॥ ५५ ॥

उपनयनमूलत्वादुपरितनानां सर्वेषां प्रतिषेधे प्राप्ते दारपरिग्रहमात्रस्य प्रतिप्रसवः क्रियते । समानजातीयैवास्य भार्या न तु प्रतिलोमेति स्वशब्दस्यापादानम् । ततश्च ब्राह्मणादीनां विजातीयपरिग्रहः सिद्धो भवति । तथाऽऽह मनु.—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।

ते च स्वा चैव राजस्स्युस्ताश्च स्वा चाग्रचजन्मनः ॥

इति । स्वदार इति सिद्धे वृत्तिशब्दस्योपादानं देवरादिनियोगप्रतिषेधार्थम्, स्वदार एव वृत्तिः न परदार इति । असमासो 'गुर्वर्थादिदानापसङ्गहार्थ' । गार्हस्थ्यमेवाश्रमोऽस्य नेतराणीति पृथग्योगकरणम् ॥

परिचर्या चोत्तरेषाम् ॥ ५६ ॥

परिचर्या परिचरणं शुश्रूषा उत्तरेषां त्रयाणां वर्णानाम् । चशब्दात्कृष्यादि च । सच्छूद्रस्य शुश्रूषा इतरस्थ कृष्यादिरिति केचित् । गौतमस्य तावदयमभिप्रायः - यः सच्छूद्रस्तेनोभयमप्यविरोधेन कर्तव्यम्, इतरेण कृष्याद्येवात । इतरेषामिति सिद्धे उत्तरग्रहणं यो य उत्तरस्तत्रतत्र फलभूयस्त्वज्ञापनार्थम् । तथाच आपस्तम्बः—'पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् वर्णं निश्श्रेयसं भूयः' इति ॥

इदानीं यस्य शुश्रूषा स कथं वर्तते इत्यत आह—

तेभ्यो वृत्तिं लिप्सेत ॥ ५७ ॥

यान्परिचरेत्तेभ्य एव जीवनं लब्धुमिच्छेत् । एवं च वृत्त्यर्थिन एव परिचर्या नावश्यं सर्वस्येति सिद्धम् । किं पुनरेभ्यः प्रार्थयेत् ? तैर्वाऽस्मै किं दैयम् ? इत्याह—

जीर्णान्युपानच्छत्रवासःकूर्चादीनि ॥ ५८ ॥

जीर्णान्युपभुक्तानि । आदिशब्दाच्चान्यानि चाल्पसाराणि । यथाऽऽह मनुः—

* एतद्व्याख्यानसारेण 'स्वदारे वृत्ति' इति सूत्रं पठनीयमित्यवगम्यते.

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।

पुलाकाश्चैव भ्रान्त्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदा ॥

इति । छत्रग्रहणं शिखिपत्रकृतानामप्युपलक्षणम् । अन्य-
त्प्रसिद्धम् ॥

उच्छिष्टाशनं शिल्पवृत्तिश्च ॥ ५९ ॥

पानीयस्यानियमः, अशनशब्दस्योपादानात् । उच्छिष्टं
भुक्तशिष्टम् । तदप्यकृतदारस्यैव, इतरस्य तु पाकयज्ञाधिकारा-
दप्रवृत्तेः । कुत एतत्^१ असमासनिर्देशात् । स्मृत्यन्तराच्च ।
यथाऽऽह व्याघ्र —

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं शूद्रायागृहमेधिने ।

गृहस्थाय तु दातव्यं अनुच्छिष्टं दिनेदिने ॥

इति । शिल्पवृत्तिः तक्षायस्कारादिकर्मोपजीवनम् । चशब्दा-
त्कारुक्कर्माणि । विममासः आपत्कल्पप्रदर्शनार्थः । तथाच
मनुः—

अशक्तवस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।

पुत्रदारात्यय प्राप्तो जीवेत्कारुक्कर्मभिः ॥

इति । शुश्रूषां कर्तुमशक्तवन् शिल्पवृत्त्योपजीवेत् । तथाऽपि
जीवनासम्भवे कारुवृत्तिरिति द्रष्टव्यम् । शिल्पकारुक्कर्मणोश्च भेदो
लोकादवगन्तव्यः । कारुक्कर्माणि नापितरजकचित्रकारादीनि, प्रति-
लोमकर्मत्वादनुलोमकर्मभ्यो निन्दितानि । शिल्पानि तु तक्षा-
यस्कारादीनि अनुलोमकर्मत्वात्कारुक्कर्मभ्यो विशिष्टानीति ॥

यं चार्यमाश्रयीत भर्तव्यस्तेन क्षीणोऽपि ॥ ६० ॥

यः ब्राह्मणादिमाश्रयेत् परिचरेत् तेनासौ पोषणीयः । च-

शब्दादनार्यं स्वजातीयमपि कर्मान्तरेणार्याणामेव परिचरणोप-
देशात् । य चाश्रयेतेति वक्तव्ये आर्यग्रहण समानजातीयेऽपि
साधूनां विशेषज्ञापनार्थम् । तेनेति तस्यावश्यकर्तव्यतासूचना-
र्थम् । क्षीणोऽपि व्याधिजराद्युपहतोऽपीत्यर्थः ॥

तेन चोत्तरः ॥ ६१ ॥

तेन च शूद्रेणोत्तरो यमाश्रयेत । एवञ्च वृत्तिक्षीणस्य
शूद्राश्रयणमप्यस्तीति ज्ञापयति । आश्रयणमप्यात्मसन्दर्शनमात्रम् ।
यथाऽऽह जातूकर्णिः—

यो नीचमाश्रयेदार्य आत्मानं दर्शयेत्सदा ।

आत्मानं दासवन्मत्वा चरेन्नोचोपि त प्रति ॥

चशब्दादनाश्रितोऽप्यवसन्न । तथाच जातूकर्णिः—

दरिद्रो ब्राह्मणो दान्तो वेदानां चैव पारगः ।

शूद्रणापि सदा ह्येष भर्तव्योऽनाश्रितोपि सन् ॥ इति ॥

तेन चेतरे इति वक्तव्ये उत्तरग्रहण ब्राह्मण एव नियमतो भ-
र्तव्यः, इतराऽनयमत इति ज्ञापनार्थम् । तथाच जातूकर्णिः—

विभृयाद्ब्राह्मण नित्यं सर्वयत्नेन बुद्धिमान् ।

अन्य चाप्यानृशस्यार्थं शूद्रोपि द्रव्यवान् सदा ॥ इति ॥

तदर्थोऽस्य निचयस्स्यात् ॥ ६२ ॥

तदर्थः. उत्तरपोषणार्थः. अस्य शूद्रस्य निचयः सचयः.
स्याद्भवति । यस्मादित्यध्याहर्तव्यम् । एव चास्य अन्यार्थो
द्रव्यपरिग्रहः प्रतिषिद्धो भवति । हेतुवचनमपि पूर्ववदसारद्र-
व्येण भरणं न भवति, किंतु स्वकुटुम्बाविरोधेन सर्वस्वदा-
नेनेति ॥

अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः ॥ ६३ ॥

अनुज्ञातः श्रुतौ शिष्टैर्वाऽस्य सच्छूद्रस्य न त्वसतः । नम-
स्कारो नाम मन्त्र । सोऽयम्—

देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च ।

नमस्स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव भवत्युत ॥

इति । अस्य पितृकार्ये विनियोगः । यथाऽऽह गृह्यकारः—‘ब्रा-
ह्मणानुपवेश्य देवतादिक मन्त्रं जपेत्’ इति । मन्त्रग्रहणं नम-
स्कार एवास्यानुज्ञात इति मा भूदाशङ्केति ॥

पाकयज्ञैस्स्वयं यजेतेत्येके ॥ ६४ ॥

पाकयज्ञाः पाकसाध्याः अष्टकादयः तैः स्वयं यजेत न
परं नियुञ्ज्यात् । एव चान्यस्य परनियोगसिद्धिः । एकेग्रहणात्
न तु गौतमः । सोऽयं विकल्पः सच्छूद्रासच्छूद्रविषयो व्याख्येयः ॥

न केवलं शूद्र एवैवं कुर्यात्, किं तर्हि ?

सर्वे चोत्तरोत्तरं परिचरेयुः ॥ ६५ ॥

सर्वे निकृष्टाः अधिकं वर्णं शुश्रूषेयुः । ननु च शूद्रस्योक्त-
त्वात् ब्राह्मणस्य चोत्तराभावात् क्षत्रियवैश्याथ आरम्भः अतो
बहुवचनानुपपत्तिः परिचरेयुः सर्वे इति । उच्यते—समान-
जातीयमप्यधिकगुणं हीनः परिचरोदिति बहुवचनम् । सर्वश-
ब्दादनुलोमाश्चापि, अन्यथा वर्णाधिकारान्न भवति इति । शू-
द्रस्यापि स्वजातौ गुणाधिकपरिचरणार्थश्चकारः ॥

आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे कर्मणस्साम्यं साम्यम् ।

आर्यस्य उत्कृष्टजातेरनार्यस्य निकृष्टजातेः व्यनिक्षेपे व्य-
तिकरे परस्परव्यत्यासे कर्मण आचारस्य साम्यं समत्वं त-
योरवगन्तव्यम् । आर्योपि ब्राह्मणादिः अनार्यकर्मा न शूद्रेण
परिचरणीयः । अनार्योपि शूद्रो य उक्तकारी स आश्रयणीयः ।
तथाच मनुः शूद्रानधिकृत्याह—

धर्मेऽसवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तिमनुष्ठिता ।

मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥

इति । एवंचानेन न जातिसाम्यमुक्तम्, कितु जातिबलमा-
श्रित्य कुत्सितं न कर्तव्यम् । इतरोपि हीनोऽहमिति कृत्वाऽना-
दरो न कर्तव्य इति । व्यत्यये सति विहिताकरणे प्रतिषि-
द्धसेवने च यद्वक्ष्यति प्रायश्चित्तं तद्रष्टव्यम् ॥

इति मस्करीये गौतमसूत्रभाष्ये दशमोऽध्यायः

आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे राजा निवारयितेत्युक्तम् । अधुना
तद्धर्मानाह—

राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम् ॥ १ ॥

राजा पूर्वमुक्तः, सर्वस्य विषयवासिनो जनस्य, निग्रहा-
नुग्रहाचारभोगनियोगेषु प्रभुः, निग्रहे अपराधिनां, अनुग्रहेऽनु-
ग्राह्याणां, आचारे मर्यादावस्थाने भोगे करग्रहणे, नियोगे पुरु-
षाणां शिष्टकरणे । अस्यापवादः—ब्राह्मणवर्जं ब्राह्मणान्मुक्त्वे-
त्यर्थः । अपचारेऽपि सतः सान्त्वपूर्वमेनान् स्वधर्मे स्थापयेत्,
न त्वितरवर्णवन्निग्रहेणोति द्रष्टव्यम् । आरम्भप्रयोजनं सर्वक्रि-
यासु स्वतन्त्रताख्यापनार्थम् । तथा च नारदः—

अस्वतन्त्रा प्रजास्सर्वाः स्वतन्त्राः पृथिवीपतिः ॥ इति ॥

ईशत्वेऽपि सति—

साधुकारी स्यात्साधुवादी ॥ २ ॥

साधुकारी शास्त्राभिहिताविरुद्धाचरणशील । साधुवादी व्यवहारदर्शनकाले पक्षानाश्रित्यादी । यद्यप्यस्य सर्वेशत्वमुक्तम्, तथाऽपि शास्त्रोक्तमर्यादां च न लङ्घयेत्, परस्वापहरणपर-द्यूतादौ न प्रवर्तयेदित्यर्थ । ततः शास्त्राविरोधिपदार्थविषय एवास्य स्वतन्त्रता नाविशेषेणेति ॥

किंच—

त्रयामान्वीक्षिकां चाभिविनीतः ॥ ३ ॥

त्रयी ऋग्यजुस्सामलक्षणा । आन्वीक्षिकी न्यायविद्या आत्म-विद्या वा । अनयोरभिविनीतः कुशलः । वसमासादण्डनीत्या च चशब्दाद्वार्तायां च । तथा च मनु.—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्या दण्डनीति च तद्विदः ।

आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भ च लोकतः ॥ इति ॥

शुचिर्जितेन्द्रियो गुणवत्सहायोपायसम्पन्नः ॥ ४ ॥

शुचिरलुब्धः । जितेन्द्रियः मृगयादिव्यसनरहितः । गुणवत्स-हायः । गुणवद्विर्विद्याचारित्रादिभिर्गुणैर्युक्तः सहायैर्मन्त्रिसामन्त-दूतादिभिरुपेतः । उपायैः देशकालावस्थाद्यपेक्षया प्रयुक्तैः सामा-दिभिश्च युक्तः । गुणवत्सहायोपायवानिति वक्तव्ये सपन्नग्रह-णमनिसावमन्त्रत्वोपसङ्गहार्थम् ॥

समः प्रजासु स्यात् ॥ ५ ॥

समो व्यवहारे द्वेष्यप्रिययोस्तुल्यभावस्स्यात् ॥

हितं चासां कुर्वीत ॥ ६ ॥

हितं चासां तटाकखननसेतुबन्धनारामादीन् प्रतिग्रामं कुर्या-
दित्यर्थः । चशब्दात् ब्रूतमद्यादीन्यहितानि निवर्तयेत् ॥

तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन्नन्ये ब्राह्मणेभ्यः ॥

७ ॥

तमेवंगुणसपन्नं राजानमुपरि स्थितं नीचैः समीपतः से-
वेरन् क्षत्रियादयः । अब्राह्मणा इति वक्तव्ये अन्ये ब्राह्मणेभ्य इति
गुणवद्ब्राह्मणोपसङ्गहणार्थः, न तु जातिमात्रस्येति । तमधस्ता-
दासीरन्निति सिद्धे उपरिग्रहणमुत्सवादिष्वप्युपरिभावार्थम् ॥

तेऽप्येनं मन्येरन् ॥ ८ ॥

तेऽपि गुणवन्तो ब्राह्मणा अपि एनमधस्तात्स्थितं मन्ये-
रन् पूजयेयुराशीर्वादादिभिः लोकपालांश इति मत्वा । यथाच
मनु—

यरमादेष सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।

इत्यादि । अपिशब्दान्नीचैः स्थिता अगुणवन्तो ब्राह्मणाश्च ॥

वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत् ॥ ९ ॥

वर्णा अनुपनीता ब्राह्मणादयः । उत्तरकालमाश्रमाः । न्यायतः
लोकशास्त्राविरुद्धं मार्गेण यथैषां शास्त्रविहितकर्मानुष्ठानोपद्रवो
लोकव्यवस्थाभङ्गश्च न भवति तथा रक्षेदित्यर्थः । अभिग्रहण-
माभिमुख्यार्थम्, ततश्च स्वयमेव विचार्य रक्षेत् । येषां वर्ण-
त्वमाश्रमत्वं च नास्ति प्रतिलोमानां, तेषामपि रक्षणार्थो विस-
मासः । येषां वर्णत्वं नास्ति आश्रमत्वमेवानुलोमानां तेषामप्यु-

पसङ्गहार्थमाश्रमग्रहणम् । तेषां तु 'शूद्रश्चतुर्थो वर्णः' इत्यत्र वर्णत्वनिराकरणात् । 'प्रतिलोमात्तु धर्महीनः' इत्यत्रोपनयनविधानादाश्रमत्वमेवेति । इतरथा वर्णानामेवाश्रमविधानादाश्रमत्वे सत्यपि वर्णन्वानपगमाच्च वर्णग्रहणेनैव लभ्यमानत्वादिति । चकारादेवताप्रतिमाश्च । तथाच व्याघ्रः—

ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्यान् शूद्रानन्तरजांस्तथा ।

देवताप्रतिमाश्चापि रक्षेद्भूपः प्रयत्नतः ॥

इति । 'रक्षणं सर्वभूतानाम्' इति चोरादिभ्यो रक्षणस्योक्तत्वात् । अन्योन्यासंकरार्थं इहोपदेशः ॥

चलतश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत् ॥ १० ॥

एतान् पूर्वोक्तान् यद्यालस्यादिना ये चलन्ति न कुर्वन्ति तान्निगृह्य स्वधर्ममेव कारयेदित्यर्थः । चकारात् प्रतिषिद्धसेवने च ॥

कस्मादेवं करोतीत्याह—

धर्मस्य ह्यंशभागभवतीति विज्ञायते ॥ ११ ॥

हिंशब्दो हेत्वर्थः । यस्माद्रक्षणतः धर्मस्यांशो भवतीति अरक्षणतोऽप्यधर्मस्येत्यर्थसिद्धम् । अश षष्ठो भागः । तथाच मनुः—

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षणात् ।

अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥

इति । अमूर्तस्य धर्मस्य विभागासम्भवात् यावान्वर्णाश्रमाणां धर्म उत्पद्यते ततः षष्ठांशपरिमाणो राज्ञोऽपि विहितकर्मानुष्ठानादुत्पद्यत इति द्रष्टव्यम् । इतिकरणश्चोपसंहारप्रदर्शनार्थः, यतः एतदेवमतो रक्षेत् स्थापयेच्चेति । विज्ञायत इति श्रुतिसू

चनार्थम् । तदपि सर्वधर्माणां श्रुतिमूलत्वाद्रक्षणे गौरवोत्पादनार्थम् ॥

ब्राह्मणं च पुरो दधीत ॥ १२ ॥

ब्राह्मणं पुर. अग्रे सर्वकार्येषु कुर्यात् । चशब्दात्सेनापति च कुर्यात् ॥

विद्याभिजनवाग्रूपवयश्शीलसम्पन्नम् ॥ १३ ॥

विद्याशब्देनाथर्ववेद उच्यते, स एव शान्त्यादिकर्मसमर्थ इति । अभिजन चारित्र, तद्वान् कार्यं प्रवर्तत इति । वाक्सम्पन्न सस्कृतवक्त्रत्वेन सर्वं रक्षयतीति । रूपसम्पन्नः प्रियदर्शनत्वाच्छ्रेयवाक्यो भवतीति । वयस्सम्पन्न नातियुवा नातिस्थाविर, असावेव महत्कर्मयोग्यो भवतीति । शीलसम्पन्नः क्षमायुक्तः तस्यासाध्य नास्तीति ॥

किंचान्यत्—

न्यायवृत्तं तपस्विनम् ॥ १४ ॥

न्यायवृत्तः अविरोद्धलोकाचारोपेतः, स कृच्छ्रेऽपि राजानं न परित्यजतीति । तपस्वी ऋतावेव गमनशील इत्यर्थः, सोऽभ्यन्तरप्रवेशादिषु योग्यो भवतीति । अन्येऽपि सहाया एव-रूपा एव कर्तव्या इति योगविभागः । विरामासो धर्मशास्त्र-कुशलोपसङ्ग्रहार्थः—

तत्प्रसूतः कर्माणि कुर्वीत ॥ १५ ॥

तच्छब्दः सर्वसहायोपसङ्ग्रहार्थः । प्रसूत अभ्यनुज्ञातः । तैर्विचार्येत्यर्थः । कर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि कुर्वीत—

किंच—

ब्रह्मप्रसूतं हि क्षत्रमृध्यते न व्यथत इति च
विज्ञायते ॥ १६ ॥

हिंशब्दो यस्मादर्थे, यस्माद्ब्रह्मणानुज्ञया क्षत्रकर्मप्रवर्तमानमृध्यते अवश्यं तत्फलेन युज्यत इत्यर्थः । विधिनैव कृतत्वात् पात्रदोषाद्यभावान्न व्यथते अन्यथा न भवतीत्यर्थः । इतिचशब्दौ श्रुतिद्वयसूचनार्थौ । विज्ञायत इति श्रुतिसूचनार्थम् । विचार्यैव कर्तव्यानीत्येवमर्थः श्रुत्युपन्यासः ॥

किंच—

यानि च दैवोत्पातचिन्तकाः प्रब्रूयुस्तान्याद्रि-
येत ॥ १७ ॥

दैवचिन्तकाः ज्योतिःशास्त्रविदः । उत्पातचिन्तकाः शकु-
ननिमित्तज्ञाः । प्रब्रूयुः निश्चयेन ब्रूयुः । चशब्दाद्गुरवश्च ।
तान्याद्रियेत श्रद्धाधीत, तदनु रूपं कुर्यादित्यर्थः ॥

कस्मात्^१ यतः—

तदधीनमपि ह्येके योगक्षेमं प्रतिजानते ॥ १८ ॥

दैवाधीना पुरुषकाराधीना वा कर्मफलप्राप्तिः । दैवशब्देन
पूर्वजन्मोपात्त कर्मोच्यते, पुरुषकारशब्देनैतज्जन्मकृतं कर्म ।
तथाच कण्वः—

पूर्वजन्मकृतं कर्म दैवमित्यभिधीयते ॥

एतज्जन्मकृतं यत्तु पुरुषकारमिहोच्यते ॥

इति । तत्र पुरुषकारहीनानामपि पङ्गादीनां निधानादि-
 लाभदर्शनात्, प्रकृष्टकर्मकृतामपि फलादर्शनाद्देवाधीनमेव फलं
 न पुरुषकाराधीनमिति मन्यमानाः तदधीनमिति प्रतिजानते ।
 तच्छब्देन दैवोत्पातकचिन्तकवचनम्, तेनैवादृष्टफलविज्ञानात् ।
 तदायत्तं योगक्षेमम् । अलब्धलाभो योगः, लब्धस्य रक्षणं
 क्षेमः । योगस्तावत्तदधीनः निमित्तेन तल्लाभालाभविज्ञाने सति
 तदनुरूपयत्नस्य करणाकरणात् । क्षेमश्चापि निमित्तेन उपद्रव-
 ज्ञाने सति शान्त्यादिना तदपनेतुं शक्यत्वात् । प्रतिजानते प्रतिज्ञां
 कुर्वन्ति । अन्याभिप्रायसूचनार्थोऽपिशब्दः । अन्येऽप्येव ब्रुवते—पु-
 रुषकारमन्तरेणान्नादिसम्बन्धस्यानुपपद्यमानत्वात्, पुरुषकार एव
 प्रवृत्तानां कदाचिदेव निष्फलत्वदर्शनात्, सर्वदा व्यभिचाराभावाच्च
 पुरुषकाराधीनमेवेति मन्यमानाः दैवोत्पातकवचनस्य कदाचिद-
 व्यभिचारदर्शनान्न तदधीनमिति । एकेग्रहणादुभयस्मादिति
 गौतमः । नैकान्तेन दैवस्य प्राधान्यं, न च पुरुषकारस्य । किं तर्हि
 कदाचिद्देवं पुरुषकारमपेक्षते, तथा पुरुषकारोपि दैवमिति । यथा
 दैरुषकारो दैवमपेक्षते कृष्यादौ, न दैवं वर्षादिकमन्तरेण
 कृष्यादीनां पुरुषकारेणैव फलसिद्धिरिति । तथा अन्नादिलाभे
 दैव पुरुषकारमपेक्षते, तमन्तरेण तत्सम्बन्धानुपपत्तेः । गौतम-
 स्यायमाभिप्रायः—दैवे दैवोत्पातचिन्तकवचनमाद्रियेत, पुरुष-
 कारे त्वाप्तवचनमिति ॥

शान्तिपुण्याहस्वस्त्ययनायुष्यमङ्गलसंयुक्ता-
 न्याभ्युदयिकानि विद्वेषणसंवननाभिचार-
 द्विषद्वयद्वियुक्तानि च शालाग्रौ कुर्यात् ॥

संयुक्तशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । शान्तिसंयुक्तं दैवोत्पा-
तसूचितापायनिवृत्त्यर्थं यात्क्रियते ग्रहशान्त्यादि । पुण्याहसंयुक्तं
भूदिनदोषनाशनार्थं विवाहादौ यत्क्रियते, तद्दोषनाशनात् तत्कर्म
शुभमेव भवतीति । स्वस्त्ययनसंयुक्तं यात्रादौ यत्क्रियते । त-
थाऽऽह व्यास —

यात्रायां वामन देवं नारसिंहं तथा युधि ।

भये ध्यायेद्वासुदेवं त्रयं स्वस्त्ययनं स्मृतम् ॥

इति । आयुष्यसंयुक्तं जन्मनक्षत्रे आयुष्यवृद्ध्यर्थं यत्क्रियते ।
मङ्गलसंयुक्तं अर्थाद्यर्थं यत्क्रियते श्रीहोमादि एतान्येवाभ्युदयि-
कान्यभ्युदयहेतुत्वात् । स्वयमेवाभ्युदयहेतुत्वादेव न वक्तव्यमिति
चेत्, तत्कर्तुर्दोषाभावसूचनार्थत्वाददोषः । एवं चोपरितनानां कर्तुः
किञ्चित्प्रायश्चित्तमस्तीति ज्ञापयति । तथा च पैठीनसिः --

राज्ञोऽभ्युदयिकं कर्म यस्तु कुर्याद्विजोत्तमः ।

परपीडाकरं मुक्त्वा न स पापेन लिप्यते ॥

परपीडाकरं कृत्वा विप्रोक्ताद्वाऽथ निष्क्रयात् ।

राजन्यानुमताद्वाऽपि शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥

इति । परपीडाकरत्वादुपरितनानां पृथगुपन्यासः । विद्वेषणयुक्तं
येनास्य परं प्रकृतीनां विद्विष्टो भवति । सवननयुक्तं येनास्य
शत्रुं प्रणिपतति । आभिचारयुक्तं येनास्य शत्रुर्घ्नियते । विगता
ऋद्धिः व्यृद्धिः क्षिप्तो व्यृद्धिः द्विरद्वयृद्धिः तथा युक्तं येनास्य
परं विगतैश्वर्यं भवति उच्चाटनादि । उपरि ऋत्विग्ग्रहणादेतानि
पुरोहितः कुर्यात् शालाग्रौ । चशब्दात् लौकिके च । तत्र पूर्वो-
क्तानि लौकिके, इतराणि शालाग्राविति द्रष्टव्यम् ॥

यथोक्तमृत्विजोऽन्यानि ॥ २० ॥

पुत्रकामेष्ट्यादीन्यन्यानि यथोक्तमृत्विजः कुर्युः । राजा दक्षिणां प्रति लुब्धो मा भूदिति यथोक्तग्रहणम् ॥

तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युप-
वेदाः पुराणम् ॥ २१ ॥

व्यवह्रियते अनेनेति व्यवहारः । तस्य प्रजापालनाधिकृतस्य राज्ञो व्यवस्थासाधनान्येतानि । वेदादीनि प्रसिद्धानि । वेदे 'गता रुगिव सनये धनानां' इत्यादिव्यवहारदर्शनात्, धर्मशास्त्रे वर्णाश्रमादिप्रतिपादनात्, अङ्गे शब्दादिव्यवस्थाप्रतिपादनात्, उपवेदे अस्त्रादिव्यवहारप्रतिपादनात्, पुराणे जगत्स्थितिविज्ञानात् । विसमासः पूर्वस्य पूर्वस्य वलीयस्त्वज्ञापनार्थः । ततश्च पूर्वोत्तरविरोधे पूर्वोक्तमेवाचरेत् । व्यवहारतत्त्वदर्शनं वेदादीन्यङ्गानि भवन्तीति व्यवहारशब्दनोच्यन्ते । एतान्यालोच्य व्यवहारान् स्थापयेदित्यर्थः ॥

किंच—

देशजातिकुलधर्माश्चास्त्रायैरविरुद्धाः प्रमाणम् ॥

देशधर्मः कौतुकमङ्गलादिः । जातिधर्म आभीरादीनां दन्तरागाभावादिः । कुलधर्मो दक्षिणतश्चूडा वसिष्ठानामित्यादि । आस्त्रायैर्वेदधर्मशास्त्रादिभिः पूर्वोक्तैः, बहुवचनप्रयोगात्, अविरुद्धा अबाधिताः प्रमाणम् । वक्ष्यमाणानां कर्षकादीनामप्यास्त्रायाविरुद्धत्वज्ञापनार्थश्चकार । देशधर्मादीनापि सम्यक् ज्ञात्वा आस्त्रायाविरोधेन गृह्णीयात् । विरोधः त्यक्तव्यः इत्येवमर्थमुपदेशः ॥

कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे ॥

प्रमाणमिति वर्तते । राजानि प्रष्टुमशक्ये स्ववर्ग एव प्रष्टव्य इत्येवमर्थ उपदेश । कर्षका कृषिजीविनः । वणिजः प्रसिद्धा । पशुपाला गोपालाः । कुसीदिनो वार्धुषिका । कारवोऽयस्कारादयः । स्ववर्ग इति वक्तव्ये वीप्सावचनं न केवलं कर्षकादय एव स्ववर्गे प्रमाण, किन्तु ब्राह्मणादयोपीति । तत्रापि स्मृत्यन्तरसामर्थ्यान्नयवरा एव प्रष्टव्या, 'स्ववर्गे नयवरा धर्मान्प्रब्रूयुः' इति प्रजापतिवचनात् । 'आम्नायैरविरुद्धा प्रमाणम्' इत्युक्तत्वात् । यदि ते तद्विरुद्धं ब्रूयुः तदा सर्वैर्ब्राह्मणसकाशं गन्तव्यं, तेषामेव तदविरोधेन वक्तुं सामर्थ्यामिति । 'तस्य व्यवहारः' इत्युक्तत्वात् । तत्राप्यपरितोषे राजसकाशं गन्तव्यमिति द्रष्टव्यम् । तत्र तेनाप्याम्नायाविरोधेन वक्तव्यत्वात् एकस्यैव तदविरोधज्ञापनसामर्थ्याभावात्, तज्ज्ञैः ब्राह्मणैः सह ब्रूयादित्यर्थसिद्धम् । तथा च मनुः—

व्यवहारं दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैस्सह पार्थिवः ।

इत्यादि ॥

इदानीं यदि कर्षकादयो राजानमेव गच्छेयुः तदा कथं राजा परिच्छिनत्तीत्याह—

तेभ्यो यथाऽधिकारमर्थान्प्रत्यवहृत्य धर्मव्यवस्था ॥ २४ ॥

तेभ्यः कर्षकादिभ्यः, यथाऽधिकारं यो यत्राधिकृतः प्रतिवर्गं स्थित इत्यर्थः, अर्थानाचारान्प्रत्यवहृत्य स्वयमेव सम्यक् पृथक् पृथग्विचार्येत्यर्थः । कुत एतत्? अवहृत्येति वक्तव्ये प्रत्यवहृत्येत्यारम्भात् । ततो धर्मव्यवस्थां कर्तव्येति शेषः ।

तत्त्वपरिच्छेदं कर्तव्य इत्यभिप्रायः । ब्रूयादिति वक्तव्ये व्यव-
स्थाग्रहणं राज्ञा परिच्छिन्नस्य पुनर्निवृत्तिर्मा भूदिति । एवं चा-
परितोषेऽन्यत्र सिद्धस्यापि पुनःपुनः करणमस्तीति ज्ञापयति ।
धर्मबुद्धैश्च व्यवस्थापयेत् नार्थाशयेति धर्मग्रहणम् ॥

न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायः ॥ २५ ॥

न्याययुक्तस्याधिगमे अवधारणे तर्कः अनुमानमभ्युपायः
प्रथमोपाय इत्यर्थः । तथाऽऽह नारद —

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।

तथाऽनुमानेन नयेद्धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ इति ॥

तेनाभ्यूह्य यथास्थानं गमयेत् ॥ २६ ॥

तेनानुमानेनाभ्यूह्य । यथाऽऽह मनुः—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।

नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥

इति । यथास्थानं यथातत्त्व गमयेत्प्रापयेत् ॥

**विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां
गमयेत् ॥ २७ ॥**

विप्रतिपत्तिः एकस्यैव तर्केणावधारणासामर्थ्यं, अतिसौ-
क्ष्म्यात्कार्यस्य उभयथा लिङ्गदर्शनाच्च, तस्याम्, त्रैविद्यवृद्धा स-
कलवेदत्रयपारगा, तेभ्यः प्रत्यवहृत्य अवगम्य अस्येदं लिङ्गं
अस्य परिच्छेदकं, पूर्वमस्येदं लिङ्गमिदानीं लिङ्गान्तरमिदं किं-
परिच्छिन्नत्तीत्येवमादि विचार्य तत्त्व ज्ञात्वेत्यर्थः । आम्नायाद्यावि-

रोधपरिज्ञापनार्थं ये सहाया उक्तास्त एवानूद्यन्ते त्रैविद्यलक्षणप्रापणार्थम् । यथाऽऽह मनुः—

मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम् ॥

इति । तत्रैव वक्तव्यमिति चेन्नैष दोषः, आम्नायाविरुद्धविचारणायामेव न केवलं तैर्विचारः क्रियते कितु लिङ्गसन्देहेऽपि चेत्येवमर्थः इहोपदेश इति । असति लिङ्गसन्देहे विरोधे चासति राज्ञ एव परिच्छेदकत्वं द्रष्टव्यं सभायास्तदुभयार्थत्वा*—दिति । लिङ्गसन्देहे त्रैविद्यवृद्धैरेव प्रापयेत् न स्वयम्, यथास्थानं गमयेदित्यधिकारादेव सिद्धे निष्ठां गमयेदिति पुनरारम्भात् ॥

किमेवं कुर्वतो भवतीत्याह—

तथा हास्य निश्श्रेयसं भवतीति ॥ २८ ॥

तस्य निर्णयः कुर्वतः निश्श्रेयसमुभयलोकविजयित्वं अमुत्र धर्मप्राप्त्या, इहापि जनानुरागादिति । इतिशब्दो हेत्वर्थः, यस्मादेवमिति ॥

एवं राज्ञो भवति, त्रैविद्यवृद्धानां तु सहायरूपेण स्थितानां किं भवतीति तदनुरूपं श्रुतिमुदाहरति—

ब्रह्म क्षेत्रेण पृक्तं देवपितृमनुष्यान् धारयतीति विज्ञायते ॥ २९ ॥

ब्रह्म त्रैविद्यलक्षणं क्षेत्रेण राज्ञा पृक्तं सहितं, राज्ञा सह धर्मविवेचनं कुर्वदित्यर्थः । निरुपद्रवकर्मानुष्ठानद्वारेण 'इतः

प्रदानं देवा उपजीवन्ति' इत्येवं देवपितृन् धारयति आहुत्या-
दिद्वारेण, अन्ननिष्पत्त्या मनुष्यान् । अतो राजसु प्रश्नविवेचनं
धर्मायेति वक्तव्यम् ॥

अथ त्वेवमपि व्यवस्थां कुर्वतः ते दौशशील्यान्नावतिष्ठन्ते,
ततः—

दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत् ॥ ३०

दमयत्यदान्तान् दम्यन्ते वाऽस्मिन्निति दण्डः । यतश्च दम-
नयोगाद्दण्ड इत्येवं मन्वादय आहुः । यथाऽऽह मनुः—

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतंगोरगाः ।

तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥

इति । अतो यो यथा दम्यते वाचा धनादिना वा । यथाऽऽह
मनुः—

धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम् ।

तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डं त्वतः परम् ॥

इति । एव कुर्यादौशशील्यादिना विकर्मस्थान् ॥

एवं कृताः प्रजाः कथं प्रवर्तन्त इत्याह—

**वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफल-
मनुभूय ततश्शेषेण विशिष्टदेशजातिकु-
लरूपायुश्श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्र-
तिपद्यन्ते ॥ ३१ ॥**

वर्णा ब्राह्मणादयः अनुपनीताः, आश्रमाः ब्रह्मचार्यादयः,
स्वकर्मनिष्ठाः स्वकर्मानुष्ठानपराः, प्रेत्य परलोके, कर्मफलमनु-
भूय उपभुज्य तत्फलोपभोगस्यावशेषेणेह विशिष्टदेशादिसम्बन्धं

जन्म प्रतिपद्यन्ते । विशिष्टशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते—विशिष्ट-
देश आर्यावर्तादिः, विशिष्टजातिर्ब्राह्मणादिः, विशिष्टं कुलमध्य-
धेनादिसम्पन्न, विशिष्ट रूपं प्रियदर्शनत्व, विशिष्टमायुः सम-
प्रशतवर्षादि, विशिष्टं श्रुत वेदार्थविज्ञानसहित, विशिष्टं वृत्त
विशिष्ट चारित्र्यं, विशिष्टं वित्त गवाश्वादिलक्षण, विशिष्ट सु-
ख अभिलषितपदार्थस्याविघ्नेनानुभवसिद्धिः, मेघशब्देनारोग्य-
मुच्यते, विशिष्टारोग्यमभिलषितमक्षणेऽप्यरोगोत्पत्ति । एवंच
ब्रुवता नित्यकर्मणां च कर्ता तत्फलस्य चोपभोक्ता शरीरव्य-
तिरिक्त आत्मा प्रतिपादितो भवति । तथाच श्रुतिः—‘स एष
महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः कर्ता भोक्ता स उ क्षेत्र-
ज्ञोऽमृतमयः प्राणे प्रतिष्ठितः’ इति । तथाच मनुः—

यो ह्यात्मन कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।

यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥

इत्यादि । तस्य च नित्यस्य सतः कर्मक्षयात्तदारब्धस्य शरी-
रस्य पतने तत्कुले कर्मफलं स्वर्गादि तत्कर्मणैवारब्धेन तत्फ-
लोपभोगयोग्येन शरीरेणाहकारेन्द्रियशक्तिमन प्राणसहितेनानुभू-
यौषधादिद्वारेण अन्नमयो भूत्वा रेतोरूपेण परिणम्य तत्स्थेन
वायुना पूर्वं मातुरुदरं प्रविष्टेनाकृष्टस्सन् तच्छोणितसहित-
पूर्वानुभुक्तशिष्टकर्मानुगृहीतस्य शरीरस्योपादानं जन्मेत्याचक्षते ॥

एवं व्यवस्थिते सूत्रार्थे चोद्यते आश्रमग्रहणमनर्थकं वर्णा-
नामेवाश्रमविधानात् आश्रमत्वेऽपि वर्णत्वानपगमाच्च । आश्रमग्रहणे
कर्तव्येऽपि विसमासचकारावनर्थकौ तद्वाच्यस्याभावात् । स्वग्र-
हण चानर्थकं, अनुष्ठानादेव स्वत्वसिद्धेः । कर्मग्रहणमप्यन-
र्थकं, कर्मफलमनुभूयेत्यत्र कर्मग्रहणेनैवार्थसिद्धत्वात् । निष्ठाग्र

हणमप्यनर्थकम्, बुद्धिपूर्वत्वेन विना तत्करणासम्भवात् । प्रेत्येत्यपि न कर्तव्यम्, जन्म प्रतिपद्यन्त इत्यनेनैवार्थसिद्धत्वात् । फलमनुभूयेति वक्तव्ये कर्मग्रहणमतिरिच्यते, फलस्य कर्मसंध्यत्वात् । तत इत्येतदप्यनर्थकं, अधिकारादेव कर्मणः परामर्शसिद्धेः । शेषानुपपत्तिश्च, कृत्स्नस्य कर्मणः फलोपभोगेनोपक्षीणत्वात् । न हि फलदानाभिमुखीभूतस्य कर्मण एकदेशेनावस्थानमुपपद्यते । न हि क्षीराद्येकदेशेन दध्यादिकार्यारम्भणमिति । न च घृतघटादिवद्वासनाशेषः शेषशब्दवाच्यः । अमूर्तत्वात्कर्मणो वासनाशेषानुपपत्तेः । न चामुत्रानुष्ठितं कर्मैह शेषशब्देनोच्यते, तत्राधिकाराभावात्, उपयुक्तेतरार्थत्वासम्भवाच्च । न हि फलोपभोगविच्छेदस्यैव शेषत्वमध्यवसितुं युक्तं, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्, कर्मणो हि फलं श्रुतं न फलविच्छेदस्य । न च अक्षीणे कर्मण्युपभोगविच्छेदः सम्भवति, तस्य कर्माश्रितत्वात् । यथा प्रदीपस्तैलाश्रितः तैलक्षयादेव क्षीयते । अपिच तस्योपहंतार शलभादयो विद्यन्ते न तु कर्मफलस्य । तस्मान्न फलविच्छेदस्य शेषशब्दवाच्यता । न च कर्मफलस्यैव विभागः कर्तुं शक्नोति—अनेनामुत्रसुखमनुभोक्ष्ये अनेन विशिष्टदेशादेसम्बन्धं लप्स्ये इति । निष्पन्नत्वात् । अनिष्पन्नस्य हि विभागः श्रूयते—इदं व्रीहीणां क्षेत्रमिदं यवानामिति, न तु निष्पन्ना व्रीहयो यवाः क्रियन्त इति । यदि च स्वकर्मनिष्ठा अप्यमुत्र फलोपभोगशेषेणेह जन्म प्रतिपद्यन्ते एवं मोक्षाभावप्रसङ्गे श्रुतेर्विरोधो भवति—‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’ ‘तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति’ इत्यादिकाया । यदि कर्मशेषेण विशिष्टदेशादिप्राप्तिलक्षणं जन्म भवति, ततो जगद्वैचित्र्यानुपपत्ति-

प्रसङ्गः, दृश्यते हि तदिति । प्राप्तस्य च कर्मणः फलाभ्युप-
पगमे पुरुषकारोषि निष्फल एवेति । तस्माच्छेषशब्दवाच्या-
भावात् सूत्रेण समस्तेनापि प्रक्रान्तस्यार्थस्यानुपपद्यमानत्वात् अ-
समञ्जसमिदं सूत्रमिति ?

तत्र समाधिः—उभयग्रहणं तावत्कर्तव्यम्, वर्णानामाश्र-
माणां च धर्मेभेदात् । प्रागुपनयनाद्वर्णाः ऊर्ध्वमाश्रमा इति ।
अस्ति चानुपनीतानामपि कैश्चिद्वर्णधर्मैराधिकार इति । असमा-
सो द्वंद्वपरिग्रहार्थं, मा भूत् समानाधिकरणाशङ्केति, द्वंद्वपक्षे
तूभयपदप्रधानत्वादुभयोरुपादानं सिद्धं भवति इति । सृष्ट्य-
न्तरजोपसङ्गहार्थश्चशब्दः, तेषामपि स्वकर्मानुष्ठानादुत्कर्षो लभ्यत
इति । यथाऽऽह मनुः—

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।

स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥

इति । स्वग्रहणमपि प्राथमिककल्पोपसंग्रहार्थम् । आपद्विहि-
तस्य प्रायश्चित्तविधानादेवैतत्सिद्धमिति चेन्न, वर्णान्तरकर्मानु-
ष्ठान एव प्रायश्चित्तविधानं, न स्वकर्मण एव विगुणस्येति ।
तथाचोक्तं नारदवाक्यं—

आपदं ब्राह्मणस्तीर्त्वा क्षत्रवृत्त्या भृते जने ।

उत्सृजेत् क्षत्रवृत्तिं तां कृत्वा पावनमात्मनः ॥

इत्यादि । तस्माद्विगुणस्य कर्मणः फलप्रतिषेधार्थं स्वग्रहणम् ।
एवंच विगुणं यत्कर्म न तत्फलसाधनं, प्रायश्चित्तविधानाभा-
वात् नापि दोषसाधनं चति द्रष्टव्यम् । निष्ठाग्रहणं सातत्या-
र्थम्, यो ह्याशरीरनिपातनात् कर्म करोति स एवानेन फलेन

सम्बध्यत इति । प्रेत्यग्रहणमवश्यभावि फलमिति ज्ञापनार्थम्
यथा दृष्टफलैरिह सिद्धिस्तथा अवश्य तत्राप्यदृष्टफलैरिति ।
न तु कृत कर्म निष्फलं भवतीति । कर्मग्रहणं तु केवलं कर्म
कृत एवानेन फलेन सम्बन्धः, न ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिण इति ।
असौ मुक्त एव भवतीति । अनेनैव मोक्षाभावप्रसङ्गचोद्यमपि
परिहृतं द्रष्टव्यम् । तत इत्येतदपि कर्मनानात्वप्रतिपादनार्थम् ।
तस्य तस्य कर्मणः शेषेणातिरेकेण । अतश्च कर्मणां तारत-
म्यात् फलवैचित्र्ये सति जगद्वैचित्र्यमुपपद्यत इति । तार-
तम्यं च कर्मणां देशकालशौचद्रव्यश्रद्धापात्राभ्यासविशेषादिति-
शेषशब्दश्च कर्मसमुदायापेक्षया द्रष्टव्यः । कथं? यत्कर्म स्व-
र्गफलं तत्रैव फलं ददाति, यत्त्वैहिकफलं तेन विशिष्टदेशादि-
सम्बन्धं जन्म भवति, स च तस्य समुदायस्य शेष इति ।
प्रधानकर्मणोऽग्निहोत्रादेरङ्गभूतं यत्कर्म तच्छेषशब्दो नोच्यते ।
यथा—‘गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्, खादिर वीर्यकामस्य
यूपं कुर्यात्’ इत्यादि । तत्र प्रधानकर्मफलममुत्रोपभुज्यते,
अङ्गफलं इहेति । वृक्षवद्वैतद्रष्टव्यम् । वृक्षो हि बहुभिः मूलै-
र्जायते । स यदा छिन्नप्रधानभूयिष्ठमूलो भवति तदाऽल्पनि-
स्सारमूलत्वात् भारमसहमानः पतति एवं कर्मण्यपि प्रधानरूपे
उपभोगादुपक्षीणे शिष्टरूपं कर्तारं तत्र स्थापयितुमशक्नुवद्वि-
शिष्टदेशादिसम्बन्धं फलं ददातीति । घृतघटवद्वा द्रष्टव्यम् ।
यथा—घृतघटे उपयुक्तेऽपि स्नेहवासनाशेषादग्निना संयुक्तो ज्वलति
एवं कर्मकृदपि वासनाशेषादेव विशिष्टदेशाद्यनुभविष्यतीति ।
सावयवत्वाच्च कर्मणो वासनोपपद्यत एवेति । सावयवत्वमपि
कार्यत्वादिति ॥

यत्तूक्त पुरुषकारोऽनर्थक इति, तत्रोच्यते—पुरुषकारयु-
क्तस्यैव फलसम्बन्धः, तद्विहीनस्यान्नादिसम्बन्धोपि नास्तीति ।
तस्मात्फलदानकारण पूर्वाशष्ट सम्बन्धकारण पुरुषकार इति
नानर्थकः पुरुषकार इति सर्व सूत्रमुपपद्यत एवेति ॥

विष्वश्चो विपरीता नश्यन्ति ॥ ३२ ॥

ये पुनः न स्वयं कर्म कुर्वन्ति राज्ञा च न स्थाप्यन्ते
ते विष्वश्चः तिर्यग्गतयो नश्यन्ति, विशिष्टदेशादिसम्बन्धाभा-
वात् । विपरीताः स्वकर्मनिष्ठेतराः । एवञ्च ब्रुवता ये स्वक-
र्मनिष्ठास्तेषामुत्तमगतित्वम्, ये राज्ञा स्वधर्मे स्थाप्यन्ते तेषां
मध्यमगतित्वम्, ये स्वकर्मनिष्ठा न भवान्त न राज्ञा च स्था-
प्यन्ते तेषामधमगतित्वं च दर्शितं भवति । तथा चोक्त पुराणे—

शुभैर्भवति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्य मातृपम् ।

अशुभैश्चाप्यधोजन्म कर्मभिर्लभते नरः ॥ इति ॥

तानाचार्योपदेशो दण्डश्च पालयते ॥ ३३ ॥

तान् अज्ञान् अविहितानुष्ठानेन प्रतिषद्धसेवनया च नश्य-
तो वर्णाश्रमिणः आचार्योपदेशो रक्षति, इतरांस्तु दण्ड इति॥

तस्माद्राजाचार्यावनिन्द्यावनिन्द्यौ ॥ ३४ ॥

ततश्च रक्षणहेतुत्वात् कारणे सति पारुष्याद्यपि वक्तव्यम् ।
अतः परुषमप्युपदिशन्नाचार्यः, उग्रमपि दण्डं धारयन् राजा
च, अत्यन्तोपकारित्वाद्कुत्सनीयौ ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये एकादशोऽध्यायः.

‘दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत्’ इति सामान्येनाभिहितम् । तत्र कापराधे कियान् दण्ड इति तद्वक्तव्यमित्याह—

शूद्रो द्विजातीनतिसंधायाभिहत्य च वाग्दण्ड-
पारुष्याभ्यामङ्गं मोच्यो येनोपहन्यात् ॥१॥

शूद्र उक्तः । स द्विजातीनुपनीतान् ब्राह्मणादीनतिसंधाय बुद्धिपूर्वमतिक्रम्य न तु परिहासादिना । अभिहत्य च अभिशब्दो बुद्धिपूर्वज्ञापनार्थः । अभिहत्य ताडयित्वा । क्रमेण वाग्दण्डपारुष्याभ्याम् । तत्र वाक्पारुष्येणातिसंधाय दण्डपारुष्येणाभिहत्येति क्रमो द्रष्टव्यः । वाक्पारुष्येणातिक्रमणमतिक्रम्य परुषादिवचनम् । परुषशब्द उग्रपर्यायः । उग्रया वाचा अतिक्रम्य उग्रेण च दण्डेनाभिहत्य चेत्यर्थः । ततश्च उपलादिना न दोषः । अङ्गं शरीरावयव मोच्यः छेद्यः येन हस्तादिना उपहन्यात् पीडयेत् । एवं च विनाऽपि दण्डेन दण्डपारुष्यं भवतीति ज्ञापयति । वाक्पारुष्ये वाक्छेदनम् । हस्तादिना दण्डपारुष्ये तदङ्गच्छेदनमिति द्रष्टव्यम् । चशब्दादुभयापराधे उभयं मोच्यः ॥

आर्यस्त्यूभिगमने लिङ्गोद्धारः स्वहरणं च ॥२॥

आर्याणां ब्राह्मणादीनां आर्यवृत्ता चेत् स्त्री । कुत एतत् स्त्यूभिगमन इति वक्तव्ये आर्यस्त्र्यभिगमन इत्यारम्भात् एवं च वेद्यारूपेण स्थितायामदण्ड्यः । स्त्रियामेवाभिगमनप्रसिद्धे-
रार्यागमन इत्येव सिद्धे स्त्रीग्रहणमार्यपरिगृहीतायां शूद्रायाम-

पीत्येवमर्थम् । अभिगमने कृते अभिशब्दो बुद्धिपूर्वार्थः । ततश्च स्वप्नादावबुद्धस्य तथैव कृतस्य लघुतरो दण्डो द्रष्टव्यः । लिङ्ग-
स्योद्धारः उत्पादनं सर्वस्वहरणं च कर्तव्यं, तल्लिङ्गोद्धारो ध-
नस्य चेति वक्तव्ये स्वहरणं चेत्यभिधानात् । चकार. समु-
च्चयार्थः, विकल्पो मा भूदित्यसमासः, क्षत्रियवैश्यस्त्रीगमने
यथासंख्येनैकैकं, ब्राह्मणस्य तूभयमिति ॥

गोप्ता चेद्वधोऽधिकः ॥ ३ ॥

यदि तासां रक्षिता भवति ततस्तदभिगमने पूर्वोक्तमुभ-
यं कृत्वा अधिकग्रहणात्, प्रमापणं कर्तव्यम् ॥

अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्र-
तिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे श-
रीरभेदः ॥ ४ ॥

पञ्चवर्षादूर्ध्वमयः, अथशब्दोपादानात् । तथाच स्पृश्यन्त-
रम्—

वद श्रुत्वा तु पञ्चाब्दः शूद्रश्चेदण्डमागमवेत् ।

अप्राप्तपञ्चवर्षो न दण्डमर्हति कुत्रचित् ॥ इति ॥

हशब्दो बुद्धिपूर्वसूचनार्थः । न गोप्तावेत्येवमर्थमस्यशब्दस्योपा-
दानम् । वेदं साङ्गम् । कुतः ? 'साङ्गो वेदः स्त्रीशूद्रसकाशे
नाध्येतव्यः' इति गृह्यस्मृतिदर्शनात् । उपशब्देन समीपवाचिना
अक्षरश्रवण एव दोष इति दर्शयति । ततश्च । ध्वनिमात्रश्र-
वणे न दोषः । हशब्देन बुद्धिपूर्वं एव दण्डविधानात् प्रमा-
दात् कदाचिदक्षरश्रवणेऽपि दोषाभावं द्रष्टव्यं । त्रपुजतुभ्यां

त्रपुणा जतुना चेति द्रष्टव्यम् । तप्ताभ्यामिति च द्रष्टव्यम्, पूरणोपदेशसामर्थ्यात् । श्रोत्रद्वयपरिग्रहार्थः प्रतिशब्दः उदाहरणे द्विजातिभिस्सह जिह्वाच्छेदः कर्तव्यः । धारणे स्वयमेवोदाहरण इत्यर्थः । परशुना शरीरभेदः कर्तव्यः ॥

आसनशयनवाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दण्ड्यः ॥५॥

आसनादिष्वार्यैस्तुल्यत्व स्वेच्छया कामयमानः । आसनादिषूच्छितादिगुणेषु समत्व, वाक्साम्यं समकालोच्चारणं, पथि साम्यं पृष्ठतो मुक्त्वा सह गमनम् । दण्ड स्थानाद्यपेक्षया शताद्वर्गद्रष्टव्यः ॥

शतं क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे ॥ ६ ॥

कृत इति शषः । आक्रोशे वाक्पारुष्ये । दण्डपारुष्ये तु द्विगुण कल्प्यं, स्मृत्यन्तरसामर्थ्यात् । तथाच बृहस्पतिः—

वाक्पारुष्ये कृते यस्य यथा दण्डो विधीयते ।

तस्यैव द्विगुण दण्डं कारयेन्मरणादृते ॥

इति । तथा चाहोशना—‘अवगूरणे वाक्पारुष्यतुल्यं ताडने तद्विगुण शोणितोत्पादने त्रिगुणम्’ इत्यादि । शतं कार्षापणानां क्षत्रियो दण्ड्यः ब्राह्मणाक्रोशे ॥

अध्यर्धं वैश्यः ॥ ७ ॥

ब्राह्मणाक्रोश इति वर्तते । अर्धेनाधिकं यच्छतं तदध्यर्ध-तदण्ड्यो वैश्यः ॥

ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पञ्चाशत् ॥ ८ ॥

आकुष्टे इति वर्तते । ब्राह्मणेन क्षत्रिये आकुष्टे ब्राह्मण अश्रो-
त्रियश्चेत् कुत ? तुशब्दोपादानात्, पञ्चाशदण्ड्यः । समव-
र्णेषु द्वादश वा कल्प्य अवचनीयेषु द्विगुण कल्प्यम् ॥

तदर्थं वैश्ये ॥ ९ ॥

वैश्ये आकुष्टे ब्राह्मणः पञ्चविंशतिर्दण्ड्यः ॥

शूद्रे न किञ्चित् ॥ १० ॥

आकुष्टे न किञ्चिद्ब्राह्मणो दण्ड्यः । अवचनादेव सिद्धमिति
चेत् न, क्षत्रियवैश्ययोर्दण्डप्रापणार्थत्वात् । एवञ्च तद्विषये दण्डः
कल्प्यः, क्षत्रिये चतुर्विंशतिपण, षट्त्रिंशतं वैश्य इति । तथाऽऽ-
होशना—‘शूद्रमाकुश्य क्षत्रियश्चतुर्विंशतिदण्डभागवैश्यः षट्त्रिं-
शत्’ इत्यादि ॥

ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्रियवैश्यौ ॥ ११ ॥

यत् ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्रोश उक्तं तत् क्षत्रि-
यवैश्ययोरपि द्रष्टव्यम् । क्षत्रिये शतं वैश्ये पञ्चाशदिति ।
एवमन्तरजानामपि द्रष्टव्यम् । तथाऽऽह जमदग्निः—‘मातृतु-
ल्यमनुलोमानां पितृतुल्य प्रतिलोमानाम्’ इति ॥

साहसदण्डमुक्त्वा स्तेय इदानीमाह—

अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य ॥ १२ ॥

स्तेयेन यदुपात्तमधर्मकारणात् तद्द्वयं किल्बिषशब्देनोच्यते
स्तेयकिल्बिषं स्तेयधनमित्यर्थः । तदष्टगुणं दण्डः, ‘समप्रेप्सु-
र्दण्ड्य’ इत्यत्र दण्ड्यशब्दस्य नदीस्रोतोऽन्यायेनाधिकृतस्यात्र ष-

ष्ठ्यनुरूपार्थं दण्ड इत्येवं भवतीति । किल्विषशब्देन वा दण्ड उच्यते । स्तेयकिल्विषं स्तेयदण्ड इत्यर्थः । स गृहीतः स्यादष्टगुण इति । तत्र ब्राह्मणसुवर्णवर्जं द्रष्टव्यम्, तस्य महापार्तकमध्ये उपदेशादण्डगौरवं भवतीति ॥

द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णम् ॥ १३ ॥

इतरेषां वैश्यक्षत्रियब्राह्मणानां, प्रातिलोभ्येन प्रतिवर्णमित्यारम्भात्, द्विगुणोत्तराणि दण्डः उत्तरमुत्तर द्विगुणमिति । वैश्यस्य षोडशगुण, क्षत्रियस्य द्वात्रिंशद्गुण, ब्राह्मणस्य चतुष्षष्टिगुणमिति । सर्वत्र धनिने धनार्पणं द्रष्टव्यम्, 'चोरहृतमपजित्य यथास्थानं गमयेत्' इत्युक्तत्वात् ॥

विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम् ॥ १४ ॥

जात्युत्कर्षवद्विज्ञानोत्कर्षादपि दण्डभूयस्त्वं द्रष्टव्यम्, 'तत्स्वजातिविहितादध्यर्थं विदुषो ज्ञेयम्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । उपपन्नं चैतत्, यतोऽसौ ज्ञात्वाऽतिक्रामतीति । विदुषो दण्डभूयस्त्वमिति सिद्धे अतिक्रमग्रहणं नियमार्थं, चौर्यविषय एवेदं, न साहसविषये । प्रायश्चित्तविषयेऽपीति । एवञ्च ब्रुवता दण्डविधानात् प्रायश्चित्तस्यापि गुरुलघुभावकल्पनाऽस्तीति प्रदर्शितं भवति । साहसप्रकरणे च यदुक्तं 'श्रोत्रियस्यार्धदण्डः' इति तच्चोपपन्नम् ॥

अस्यापवादमाह -

फलहरितधान्यशाकादाने पञ्चकृष्णलमले ॥

फलानामाम्रादीनां, हरितधान्यस्य व्रीह्यादेः अपक्वस्येत्यर्थः,

शाकस्य च मूलकादेरपहरणे माषमात्रदण्डः । कुतः 'पञ्चकृ-
ष्णलको माष' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । अल्पे उदरपूरण-
मात्रे । अधिके अन्यद्रव्ये वा अष्टापाद्यमित्येतदेव द्रष्टव्यम् ॥

पशुपीडिते स्वामिदोषः ॥ १६ ॥

पशुभिरुपहते सस्यादौ यस्य पशवस्तस्य दण्डो वक्ष्य-
माणः ॥

पालसंयुक्ते तु तस्मिन् ॥ १७ ॥

पालान्विते पाल एव दण्डभागित्यर्थः । तुशब्दः पाले-
न कारिते दण्डभूयस्त्वज्ञापनार्थः । भूयस्त्वमपि द्विगुणः, 'पा-
लकारिते द्विगुणो दण्डः' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् ॥

पथि क्षेत्रेऽनावृते पालक्षेत्रिकयोः ॥ १८ ॥

पालस्यायत्नकरणादितरस्यापि वृत्तेरकरणात् तावर्धमर्धं
दद्यातामित्यर्थः ॥

इदानींपशुविशेषापेक्षया दण्डविशेषमाह—

पञ्च माषा गवि ॥ १९ ॥

माषः कार्षापणस्य विशतिभागः । तथाऽऽहोशना—

माषो विशतिभागस्तु ज्ञेयः कार्षापणस्य तु ।

काकणी तु चतुर्भागो माषस्यैव प्रकीर्तितः ॥

इति । ते पञ्च गव्यपराधे दण्डयः ॥

षडुष्ट्रखरे ॥ २० ॥

उष्ट्रापराधे खरापराधे च प्रत्येकं षण्माषा दण्डः ॥

अश्वमहिष्योर्दशः ॥ २१ ॥

अत्रापि प्रत्येकं दश माषा दण्डः ॥

अजाविषु द्वौ द्वौ ॥ २२ ॥

बहुवचनं वत्सनिवृत्त्यर्थम् । तत्पूर्वत्रापि द्रष्टव्यम् । द्वौ द्वौ माषौ दण्डः । अन्ते वीप्साभिधानं पूर्वेऽभ्यनुपङ्गार्थं, इतरथा सन्देहः स्यादिति ॥

सर्वविनाशे शदः ॥ २३ ॥

सर्वविनाशं प्ररोहणसामर्थ्यं यावद्विनाशितं तावन्निष्पत्तिमवेक्ष्य क्षेत्रस्वामिने शदः फलं देयम् । राज्ञश्चानुरूपो दण्डः ॥

शिष्टाकरणे प्रतिषिद्धसेवायां च नित्यं चेल-
पिण्डादूर्ध्वं स्वहरणम् ॥ २४ ॥

नित्यं शिष्टाकरणे नित्यं विहितस्याननुष्ठाने, न सकृत्, प्रतिषिद्धस्याभक्ष्यभक्षणादेरासेवने, न प्रभादात्, चेलपिण्डाद्भक्ताच्छादनमात्राद्यदन्यत्तस्यापहारं कर्तव्यः । भक्ताच्छादनं तु यावदन्यस्य द्रव्यस्यागमनकालस्तावदस्य मोक्तव्यम् । ततोपि यद्यतिक्रामति पुनरस्य स्वमपहर्तव्यमेवेति । एवंकृते दण्डभयात् स्वकर्मण्येव प्रवर्तत इति । चकारात्प्रायश्चित्तं च कारयितव्यम् ॥

ब्रह्मचारिप्रकरणे उक्तस्यादत्तादानप्रतिषेधस्येदानीमपवादमाह—

गोऽग्नयर्थे तृणमेधान्वीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पा-
णि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानाम्॥

गवार्थं तृणानि । अग्निग्रहणेन श्रौतस्य स्मार्तस्यापि ग्र-
हण न लौकिकस्य, तदर्थमेधान् काष्ठानि । वीरुधां करवीरा-
दीनां पुष्पाणि—वनस्पतिशब्दोऽत्र वृक्षपर्यायः । साक्षाद्वनस्प-
तीनां पुष्पासम्भवात् । यथाऽऽह मनु —

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयस्स्मृताः ॥

इति । पुष्पाणि देवार्चनार्थानि नानुभवार्थानि, गोऽग्निसाहच-
र्यात् । चकारात्पत्राणि ब्राह्मणभोजनार्थानि । वीरुद्वनस्पतिपु-
ष्पाणि चेति वक्तव्ये ओषधार्थं मूलादेरपि ग्रहणार्थमसमासः ।
स्ववत् यथा तेषां पीडा न भवति तथा गृहीतव्यमिति । यथाऽऽह
व्यासः—

पक्कपक्क प्रचिन्वीत मूलच्छेद तु वर्जयेत् ।

मालाकार इवारामे न यथाऽङ्गारकारकः ॥

इति । फलानि चाम्रफलादीनि । आपत्सूचनार्थं पृथगभिधा-
नम् । चकाराच्छाकं च । अपरिवृतानामनारामीकृतानाम् । उभ-
यविशेषणं चेदम् । एवंचारामे तृणादेरपि प्रतिषेधस्सिद्धः ॥

इदानीं न्यायेनापि परद्रव्यादानं स्तेयमेवेति तत्परिहारा-
र्थमिदमारभ्यते—

कुसीदवृद्धिर्धर्म्या विंशतिः पञ्चमाषिकी मा-
सम् ॥ २६ ॥

कुसीद द्रव्यप्रयोगः तत्र वृद्धिरुपचयः धर्म्या धर्मादनपे-
ता यदा विंशतिः कार्षापणानां मासं प्रयुक्ता भवन्ति तदा
तस्याः प्रतिमासं पञ्चमाषपरिमाणा वृद्धिर्भवति, प्रतिमासं
निष्कस्यार्धशुक्रामात्रा वृद्धिरित्यर्थः । माषशब्देन व्रीहिपरिमित
वस्त्वभिधीयत इति । एवंच मनुनोक्तस्याशीतिभागस्यैव ग्रहणं
सपद्यते । तथाऽऽह मनुः—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्विस्तविवर्धिनीम् ।

अशीतिभागं गृह्णीयान्मासं वार्धुषिकदशतेः ॥

इति । वसिष्ठविहितां 'कामं वा परिलुप्तकृत्याय पापीयसे
दद्याताम्' इति । सुवर्णकार्षापणपक्षे चतुष्पष्टिभागो भवति—
'ते सुवर्णं तु षोडश' इति ॥

नाति सांवत्सरीमेके ॥ २७ ॥

मासमतिक्रम्य संवत्सरवृद्धिर्न ग्राह्येत्येके मन्यन्ते । एत-
दुक्तं भवति—मासिमासि यद्गृहीतव्यं तत्सर्वं संभूय संवत्सरे
परिपूर्ण एव गृह्णामीत्येवं मत्वा प्रतिसंवत्सरं न ग्रहीतव्यमि-
ति । प्रतिसंवत्सरप्रतिषेधात् प्रतिमासं प्रतिषाणमासं चाभ्यनु-
ज्ञायते । ततश्च मासिमासि षण्मासे षण्मासे वा ग्रहीतव्यं
न प्रतिसंवत्सरमित्येकेषामभिप्रायः । प्रतिमासवृद्धिग्रहणे चैत-
द्द्रष्टव्यम् । यावद्धनसंव्यवहारस्तावद्ग्राह्येवेति गौतमः । तद्विच्छेदे
तु 'नातिसांवत्सरीम्' इति व्यवस्थितविभागो द्रष्टव्यः ॥

चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य ॥ २८ ॥

चिरस्थाने अग्रहीतायां वृद्धौ तथा वृद्ध्या यावता का-

लेन द्विगुणं भवति ततः परं न वर्धते । प्रयोगग्रहणं प्रयोगान्तरे द्वैगुण्यव्यतिक्रमार्थम् । यथाऽऽह मनुः—

कुसीदवृद्धिः द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहिता ॥

इति । हिरण्यस्यैव द्विगुणानतिक्रमणमिति ज्ञापनार्थं स्थानग्रहणम् । धान्यादयो द्विगुणमप्यतिक्रम्य वर्धन्त एव । तथाच वसिष्ठः—‘द्विगुणं हिरण्यं त्रिगुणं धान्यं धान्येनैव रसा व्याख्याता, पुष्पमूलफलानि च तुलाधृतमष्टगुणम्’ इति । एवञ्च वृवता कुसीदवृद्धिर्धर्म्येति योक्ता वृद्धिस्तस्याः सार्वत्रिकत्वप्रदर्शितं भवति, अन्यथा प्रसङ्गाभावाद्धिरण्यस्यैव सिद्धत्वात् तदर्थं स्थानग्रहणमनर्थकमिति । ततश्च सर्वत्राशीतिभागो द्रष्टव्यः । चिरग्रहणं संवत्सरसहस्रैरपि न वर्धत इति ॥

भुक्ताधिर्न वर्धते ॥ २९ ॥

भोग एव तत्र वृद्धिर्भवतीति ॥

किञ्च—

दित्सतोऽवरुद्धस्य च ॥ ३० ॥

दातुमिच्छतो धनिने स यदा धनी वृद्धिलोभाद्व्याजेन न गृह्णाति ततोपि न वर्धते । यो दातुमिच्छति तेन साक्षिमल्लोचना संस्था कर्तव्या, अनभिज्ञानाद्बुद्धिव्यापारस्य । एवमवरुद्धस्य च निस्स्वो भूत्वा देशान्तरगतस्येत्यर्थः । चकारः पूर्वविशेषणाशङ्का मा भूदिति । तद्विवसादारभ्यते द्रष्टव्यम् । केचिद्राजादिना निगलबन्धनमाहुः तत्र भूमिदेवाः प्रमाणम् ॥

इदानीमापदि स्वयं कृता वृद्धिप्रकारा अभ्यनुज्ञायन्ते—

चक्रकालवृद्धिः ॥ ३१ ॥

वृद्धिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते—चक्रवृद्धिः वृद्धिरपि पुनर्वर्धते यस्मिन् द्रव्यप्रयोगे सा चक्रवृद्धिः । यथाऽऽह नारदः—

वृद्धेरपि पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिरुदाहृता ॥

इति । कालवृद्धिः—अरमात्कालात्प्राक्केवलं वा प्रकृतवृद्ध्या वा मम दातव्यम् । यदि न ददासि ततस्तस्मादूर्ध्वं त्रिगुणं च चतुर्गुणं वा देयमिति समयं कृत्वा यस्मिन्बह्वी वृद्धिर्गृह्यते सा कालवृद्धिः । प्रकृतलब्धमपि वृद्धिग्रहणं क्रियते स्वयंकृताया एवेय कल्पना न पञ्चमाषपरिमिताया इति । सहनिर्देश एकया जीवनासम्भवे द्वाभ्यामपि जीवने न दोष इति ॥

ननु च “कुसीदवृद्धिर्धर्म्या विंशतिः पञ्चमाषिकी मासम्” इत्यत्रैव वक्तव्यम् । तत्रैव पृथगुपदेशादापदर्शित्वं च ज्ञायते । ‘नातिसांवत्सरीम्’ इत्येतदपि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरित्यनेन न्यायेन व्याख्यानत एव पञ्चमाषपरिमितवृद्धिविषयमिति ज्ञातुं शक्यत इति ॥

अत्रोच्यते—कुसीदस्य स्वयंकरणपक्षे आपद्यनापदि च अस्वयंकृतपक्षे चानापदि पञ्चमाषपरिमितामेव गृह्णीयात् नास्वयंकृतपक्ष आपदि चक्रादिवृद्धिमपि, अनेनाभिप्रायेणात्रोपदेश इति । नातिसांवत्सरीमित्यस्यापि विस्पष्टीकरणार्थस्तत्रोपदेश इति ॥

कारिताकायिकाशिखाधिभोगाश्च ॥ ३२ ॥

कारिता शास्त्रानपेक्षया यस्मिन्नात्मनैव क्रियते प्रतिसवत्सरं निष्कस्य तत्पादमर्थं वा देयमित्येवमादिः सा कारिता वृद्धिः ।

कायिका अभ्युपगताया वृद्धेरधिकं दिवसेदिवसे मासिमासि संवत्सरेसंवत्सरे वा यस्मिन् गृह्यते सा कायिका । तथाच नारदः—

काया विरोधिनी शश्वत् पणपादादिकाधिका ॥

इति । शिखा धान्यस्य, यथा चतुर्णां प्रस्थानां पचम इत्यादि । अधिभोगः वृध्यर्थमहरहर्यस्मिन् घृतादि गृह्यते साऽधिभोगवृद्धिः । वृद्धिशब्दानुकर्षणार्थश्चकार । गौरवप्रदर्शनार्थः पृथङ्निर्देशः ॥

कुसीदं पशूपजलोमक्षेत्रशदवाह्येषु नातिपञ्च-
गुणम् ॥ ३३ ॥

अधिकृतमपि कुसीदग्रहणं क्रियते अन्यरूपोऽयं प्रयोग इति ज्ञापनार्थम् । पशूपज घृतादि तत्क्रीत्वा अमुष्मिन् काले मूल्यं दातव्यं, तस्मिन्नदीयमानं वर्धत इति यत् परिभाषितमित्यभिप्रायः । वत्सस्य ग्रहणं मा भूदित्युपशब्दप्रयोगः । लोम ऊर्णादि । प्रकृतिग्रहणेन विकाराणामपि ग्रहणं द्रष्टव्यम् । तस्यापि क्रयमूल्यस्यादीयमानस्यैव । क्षेत्रशदः क्षेत्रं यदा परिमितेन धान्येन प्रयुज्यते तस्मिन्काले अदीयमानं वर्धत इति । वाह्यः प्रापणनिमित्तं यथा बलीवर्दादिभिः कस्यचिद्धान्यं प्रापयति अमुष्मिन्कालेऽस्य शुल्कमदीयमानं वर्धत इति । एतेषु यत्कुसीदमुपरि सवृद्धिकं दातव्यमिति प्रयुक्तमित्यर्थः । तत्पञ्चगुणत्वं नातिवर्तते । पशूपजग्रहणेनैव सिद्धस्य लोमः पुनर्ग्रहणं मयूरपत्रकृतानामपि ग्रहणार्थम् । ‘पक्षाणां पत्ररोमाणामग्रे ब्रूहि मया श्रुतम्’ इति श्रुतिदर्शनात् । ‘चिरस्थाने द्वैगुण्य

प्रयोगस्य' इत्यत्रैव वक्तव्यमिति चेत् नैष दोषः—एषां चक्र-
वृद्धिप्रयोगाभावतापनार्थं इहोपदेश इति । पञ्चगुणमित्यनेन सिद्धे
नातिग्रहणं प्रयोगान्तरे अनिक्रमणसूचनार्थम् ॥

इदानीमन्यो व्यवहार उच्यते—

अजडापोगण्डवनं दशवर्षभुक्तं परैस्संनिधौ
भोक्तुः ॥ ३४ ॥

जड' उन्मुग्धचित्तं सव्यवहारायोग्यं । पोगण्ड अप्रा-
प्तव्यवहार । तौ मुक्त्वा यदन्यस्य धनं परैः असम्बद्धै त-
त्समक्ष स्वामिनोऽग्रामस्थित एवेत्यर्थः । भुज्यते तत् दशवर्ष-
भोक्तुरेव भवति । न हि सति स्वामित्वे इयन्तं कालमुपे-
क्षणमुपपद्यत इत्यभिप्रायः । जडबालधनं तु नाहियते । तद्ग्र-
हणमाध्यादीनामप्युपलक्षणार्थम् । यथाऽऽह नारदः—

आधिस्सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रिय ।

राजस्व श्रोत्रियस्त्वं च नोपभागेन जीर्यति । इति ॥

अत्र अजडधनं न परिगणितमिति चेत् विंशतिवर्षेणापि जीर्णत्वं
मा भूदिति । यथाऽऽह नारदः—

प्रत्यक्षपरिमोगाच्च स्वामिनो द्विद ॥ समाः ।

आध्यादीन्यपि जीर्येयु स्त्रीनरेन्द्रधनादृते ॥

इति । एवञ्च विंशतिवर्षात् बालधनं जीर्यत्येव । संनिधावि-
त्यनेनैव परेषामर्थसिद्धत्वात्परग्रहणं सम्बन्धिभुक्तस्यानतिचार-
ज्ञापनार्थम् । सन्निधिग्रहणादन्यग्रामस्थस्य न दोषः ॥

अस्यापवादं भोक्तृविशेषेणाह—

न श्रोत्रियप्रव्रजितराजन्यपुरुषैः ॥ ३५ ॥

श्रोत्रियादिभिर्भुज्यमानमपि नापहियते, उपेक्षाकारणोप-
पत्तेः श्रोत्रियप्रव्रजितौ धर्मतृष्णयोपेक्ष्येते, राजपुरुषो भयेनेति ।
प्रव्रजितस्य कथमुपपद्यत इति चेदत्रोच्यते - कस्यचिद्रूढस्य
शून्यत्वेन स्थितस्य प्रव्रजितस्य शून्यगृहवासनोपदेशादुपपद्यत
एवेति ॥

अधुना भुज्यमानद्रव्यनिशेषेणापवादमाह—

पशुभूमिस्त्रीणामनतिभोगः ॥ ३६ ॥

पशुशब्देन सर्वे चतुष्पादा यज्ञिया गृह्यन्ते, 'चतुष्पादा
वै पशवो यज्ञियाः' इति श्रुतेदर्शनात् । भूमिः क्षेत्रारामादिः
न गृहं, 'दशवर्षाद्वेदमनो भोक्तुर्न भूमिः' इत्यौशनसवचनात् ।
स्त्रियः परिचारिका । एषामनतिभोगः, दशवर्षानुभवेन न
स्वाम्यं भवतीत्यर्थः । तथाच नारदः—

अनागमं तु यद्भुक्तं वत्सराणां शतैरपि ॥

इति । इदमपि वचनं पशुभूमिस्त्रीविषयत्वेन व्याख्यातमिति ॥

रिक्थभाज ऋणं प्रतिकुर्युः ॥ ३७ ॥

यस्य धनं ये भजन्ति गृह्णन्ति त एव तद्वत् दबुरित्य-
र्थः, न दायादमात्रेण । पुत्रस्त्रीहारिणामपि ग्रहणार्थं बहुवच-
नम् । तथाऽऽह नारदः—

धनस्त्रीहारिपुत्राणां ऋणभाग्यो धनं हरेत् ।

पुत्रोसतो स्त्रीधनिनो स्त्रीहारी धनपुत्रयो ॥

इति । एवञ्च रिक्थभाजत्वे सत्यसति च पुत्रेणावश्यं दातव्यं
स्त्रीहारिणा च । अन्यैस्तु रिक्थभागिभिरपि । पुत्राणां च मध्ये

येषां रिक्थभाक्त्व ऋणभाक्त्व च विद्यते त एव ऋणं दद्युः
न पुत्रमात्रेणेति द्रष्टव्यम् ॥

इदानीं पुत्र प्रत्यपवादमाह—

प्रातिभाव्यवणिकशुल्कमद्यधूतदण्डा न पुत्रान-
ध्याभवेयुः ॥ ३८ ॥

प्रतिभुवस्त्रयः । यथाऽऽह व्याघ्रः

पाददर्शी च विश्वास्यो ह्यर्थदश्चेति कीर्तिता ॥

इति । अत्र दानप्रतिभुवं मुक्त्वा इतरयोर्ग्रहणम् । कुतः ?
'दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत्' इति मनुवचनात् ।
प्रतिभूनिमित्तं यद्वण तत्प्रातिभाव्यम् । वणिग्वाणिज्यनिमित्तं
चेत्यर्थः । यथा मूल्यं ददामीति परिभाष्य कस्यचित्सकाशे
द्रव्यं गृहीत्वा वाणिज्यकरणार्थं देशान्तरं गत्वा म्रियेत, पुत्रेण
तदप्राप्तं च भवति ततस्तद्वण पुत्रस्योपरि न भवतीत्यभि-
प्रायः । शुल्क आसुरादिविवाहे शुल्कं प्रतिश्रुत्य विवाहं कृत्वा
यद्यसौ म्रियेत तच्छुल्कं पुत्रस्योपरि न भवतीति । मद्यं मद्य
निमित्तं ब्राह्मणस्य प्रतिषिद्धत्वात् क्षत्रियादिविषयमेतद्द्रष्टव्यम् ।
द्रव्यं ददामीति मद्यपाने कृते द्रव्यमदत्त्वाऽसौ म्रियेत तदपि
पुत्रस्य न भवतीति । तथा धूतनिमित्तं च ऋणम् । तथा
दण्डनिमित्तं च व्यवहारापजयनिमित्तम् । नैते पुत्रानध्याभ-
वेयुः पुत्राणामुपरि न भवन्तीत्यर्थः । रिक्थभाक्त्वे साति
द्रष्टव्यम् ॥

निध्यन्वाधियाचितावक्रीताधयो नष्टास्सर्वान-
निन्दितानपुरुषापराधेन ॥ ३९ ॥

निधिः निक्षेपः, अन्वाधिरूपनिधिः, याचितमुत्सवादिषु याञ्जया आनीत आभरणादि, अवक्रीत अदत्तमूल्य अर्धदत्त-मूल्य वा, आधिगोप्याधि कांस्यादिरित्यर्थ, एते चोरहरणा-भिदाहादिना नष्टा सन्तो न केवल पुत्रानेव अध्याभवेयु । किं तर्हि? येषां सकाशे निक्षेपादय कृता तानपि, सर्वग्रह-णात् । अनिन्दितान् अप्रमादकारिण इत्यर्थः । अपुरुषापराधेन यदि नश्यन्ति । पुरुषापराध पुरुषप्रमाद अलस्यादिः । एव-च निन्दितैः प्रमादकारिभिः ते दातव्या एव ॥

यदि चैषां पुत्रादीनां पित्र्यमृण न प्रतिकुर्यात् कश्चित्, ततः स्तेनो भवतीति, अस्य 'अष्टापाद्य स्तेयकिल्बिषं' इति दण्डश्च विहित इत्यनेनैव प्रसङ्गेन हिरण्यस्तेनस्यापि दण्ड उच्यते—

**स्तेनः प्रकीर्णकेशो मुसली राजानमीयात्क-
र्माचक्षाणः ॥ ४० ॥**

स्तेनः सुवर्णस्तेनः, अन्यद्रव्यापहारिणस्तु 'अष्टापाद्य' इत्युक्त-त्वात्, स्मृत्यन्तरदर्शनाच्च—

सुवर्णस्तेनकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।

स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयात् मा भवाननुशास्त्विति ॥

दण्डप्रकरणे गमनोपदेशः प्रायश्चित्तार्थः तथा च अनु—

राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

इति । स्तेये कृते स्तेनो भवति । स्तेय परस्वापहारः । बु-द्धिपूर्वविषय एवेदम् । अबुद्धिपूर्वकस्तेयं नोपपद्यत इति । म-

हृत्पहते त्वेतद्द्रष्टव्यम्, विशेषानारम्भात् । प्रकीर्णकेशो मुक्त-
केश मृतसममात्मानं मन्यमान । मुसली स्ववधसाधनमुस-
लहस्तो राजानं च गच्छेत्, कर्म कथयन् स्तेनोऽहमस्मीति ॥

ततः एव मुपस्थितः—

पूतो वधमोक्षाभ्याम् ॥ ४१ ॥

पूतः शुद्धो भवतीति । वधान्मारणाद्वा मोक्षाद्वा । वध-
स्ताडन, तदपि सकृदेव, स्मृत्यन्तरदर्शनात्—

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ॥

इति । तत्र राज्ञा यदि निश्शङ्केन ताडितो न म्रियेत ततोपि
पूत एव भवतीति द्रष्टव्यम् । अब्राह्मणविषयं चेदं ताडन, 'न
शारीरो ब्राह्मणदण्ड' इति वक्ष्यमाणत्वात् । तथा च मनुः—

वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा ॥

इति । अत्रैवकारात् ब्राह्मणस्तपसैवेति भाष्यकृता व्याख्यातम् ।
ततश्च अब्राह्मणस्य ताडनं, ब्राह्मणस्य मोक्ष इति द्रष्टव्यम् ।
तथाऽपि ब्राह्मणस्य स्वयं गमनपक्षे मोक्षः । यस्तु बलादानीयते
तस्य मोक्षः तपश्च द्रष्टव्यम् । एव सर्वत्र स्वयंगमनपक्षे दण्ड
एव बलादानयनपक्षे दण्डश्च प्रायाश्चेत्त चेति द्रष्टव्यम् । तप-
स्त्वश्रोत्रियब्राह्मणस्य सान्तपनं द्रष्टव्यं अश्रोत्रियब्राह्मणस्य सुव-
र्णहरणं चेत् ॥ तथाऽऽह मनुः—

चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं निर्यात्यात्माविशुद्धये ॥

इति । निर्यात्येति सर्वस्तेयशेषत्वेनान्वेतीति द्रष्टव्यम् । श्रोत्रे-
यस्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् । 'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरु-
दारं च गत्वा ब्रह्महत्यामकृत्वा । चतुर्थकाला मितभोजिनस्स्युः' इ-

त्यादि । कथं श्रोत्रियस्य गौरवमिति चेत् 'विदुषोऽतिक्रमे दण्ड-
भूयस्त्व' इत्युक्तत्वात् । श्रोत्रियब्राह्मणसुवर्णहरणे त्वश्रोत्रियस्य
चैतदेव श्रोत्रियस्य षड्वर्षं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽहोशना - 'सुवर्ण-
स्तेयकृत् षड्वर्षं ब्राह्मणो व्रतं चरेत्' इति । क्षत्रियस्यापि यदा
प्रायश्चित्तं समुच्चीयते तदा अश्रोत्रियसुवर्णहरणे श्रोत्रियस्य
भार्गवीय द्रष्टव्यम् -

ब्राह्मणस्व हरेद्यस्तु चरेच्चान्द्रायणादिकम् ॥

इति । अश्रोत्रियस्य पूर्वमुक्तमौशनस द्रष्टव्यम् । श्रोत्रियस्वह-
रणे त्वेतदेव द्विगुणम् 'श्रोत्रियस्वहरणे द्विगुणम्' इति कण्व-
वचनात् । वैश्यस्यापि क्षत्रियवद्द्रष्टव्यम् - 'वैश्यस्य क्षत्रियव-
च्चोरदण्डः' इत्यौशनसवचनात् । श्रोत्रियस्वहरणे -

तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।

चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेत् ब्रह्महणो व्रतम् ॥

इति मनुनोक्तं वा द्रष्टव्यम् । शूद्रस्य प्रायश्चित्तं सर्वत्र
'निष्कालको वा घृताक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमवदा-
हयेत्' इति वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । अपहृतद्रव्यवशादपि प्राय-
श्चित्तस्य गुरुलघुभावः कल्प्यः । कुत ?

'तथा परिमेयानां शतादभ्यधिके वधः' इति लिङ्गात् ।
कार्षापणमूल्यादधिक एव राज्ञा ताडनम् । इतरत्र सर्वत्र तु
मोक्ष एव द्रष्टव्यः । कार्षापणमूल्यादधिक एव समस्तप्राय-
श्चित्तप्रवेशः । 'अर्धे अर्धे पादे पादम्' इति च द्रष्टव्यम् । शू-
द्रस्य च वैश्यवत्कल्प्यम्, 'अन्यूनभावे वैश्यवच्छूद्रस्य कल्प्यम्'
इति शङ्खवचनादिति ॥

अघ्ननेनस्वी राजा ॥ ४२ ॥

दयादियोगादघ्नन् एनस्वी राजा भवति । चोरस्य या-
वत्पाप तावदस्य भवतीत्यर्थः । तथाच स्मृत्यन्तरम्—‘स्तेन-
स्याप्नोति किलिबप’ इति । यथा वधार्हस्यावधे दोष एवं
मोक्षार्हस्यामोक्षे दोषो द्रष्टव्यः । तथाच वसिष्ठः—‘एनो रा-
जानमृच्छत्युत्सृजन्त सकिलिबपम्’ इति ॥

न शारीरो ब्राह्मणदण्डः ॥ ४३ ॥

स्वयमुपस्थितरयापि यः शारीरो दण्डः वधः स ब्राह्म-
णस्य नास्ति । तस्मान्न कर्तव्यः ॥

ननु च कर्मवियोगादिदण्डान्तरविधानादेव शरीरस्य नि-
वृत्तिर्भवत्येवेति । उच्यते—सत्यम् । एवमारम्भस्तु अन्यत्रा-
पराधे ब्राह्मणस्य शरीरदण्डप्रतिषेधार्थः इति ॥

तर्हि कथमसौ शास्य इत्यत आह—

कर्मवियोगविख्यापनविवासनाङ्ककरणानि ॥

यथा पुनस्तत्कर्म न करोति तथा कर्तव्यमित्यर्थः । वि-
ख्यापनं चौर्यचिह्नेन सर्वतः परिभ्रमणकरणम् । विवासनं नि-
र्विषयीकरणम् । अङ्कनं चिह्नकरणम् । यथाऽऽह मनुः—

गुरुतल्पे भग कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।

स्तेये तु श्वपदं कुर्यो ब्रह्मघ्नस्त्वशिरा पुमान् ॥

इति । एषः मभ्यासापेक्षया यथाहो दण्डो द्रष्टव्यः ॥

अवृत्तौ प्रायश्चित्ती सः ॥ ४५ ॥

अचोरे एव कृते स राजा प्रायश्चित्ती भवति । प्रायश्चित्तं तु स्मृत्यन्तरात् द्रष्टव्यम्, यथाऽऽह वसिष्ठ — ‘दण्ड्यो-
त्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्तिरात्र पुरोहित कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने
पुरोहितस्त्रिरात्र राजा च’ इति ॥

चोरसमः सचिवो मतिपूर्वे ॥ ४६ ॥

चोरस्य सचिव सहाय बुद्धिपूर्वे प्रतिश्रयान्नादिदाने
चोरवन्निग्राह्य । एवंचाबुद्धिपूर्वे न दोष ॥

प्रतिग्रहीताऽप्यधर्मसंयुक्ते ॥ ४७ ॥

मतिपूर्वं इति वर्तते । प्रतिग्रहीताऽप्यधर्मसंयुक्ते, स्तेनस्य प्रकृ-
तत्वादेव सिद्धे अधर्मसंयुक्तग्रहणं यो यत्पापं करोति तस्य स-
काशात् मतिपूर्वं प्रतिग्रहीतुरपि तावद्भवतीति ज्ञापनार्थम् ।
यथा अवकीर्णिसकाशे प्रतिग्रहीतुरप्यवकीर्णप्रायश्चित्तमित्यादि ।
अबुद्धिपूर्वं तु लघुतर कल्प्यम् ॥

पुरुषशक्त्यपराधानुबन्धविज्ञानादण्डनियोगः ॥ ४८ ॥

पुरुषविज्ञानाज्जात्यादि ज्ञात्वेत्यर्थः । शक्तिर्दुर्बलत्वादिः । अ-
पराधः साहसमाषणादि । यथाऽऽह वसिष्ठः— स्तेनोऽनुप्रवे-
शान्न दुष्यते शस्त्रधारी सहोढो व्रणसम्पन्नश्च व्यपदिष्टस्त्वेके-
षाम्’ इति । अनुबन्धः अध्यवसायः । एतानुबन्धार्थं दण्डधारणं
कर्तव्यम् ॥

अनुज्ञानं वा वेदवित्समवायवचनाद्वेदवित्सम- वायवचनात् ॥ ४९ ॥

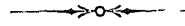
वेदविदां सङ्ख्यवचनान्मोक्षो वा कर्तव्य । सङ्ख्यस्समवाय
चतुर्णां त्रयाणां वा । यथाऽऽह मनु --

चत्वारो वा त्रयो वाऽपि य ब्रूयुर्वेदपारगा ।

स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रश ॥

इति । वक्ष्यमाणदशावरपरिपदनुज्ञया वा एवंच स्वयकरणे दो-
षो द्रष्टव्यः ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये द्वादशोऽध्याय



वाक्पारुष्ये सप्रतिपत्तौ दण्ड उक्त । यदा तु विप्रतिपद्यन्ते
तदा कथमित्यत आह --

विप्रतिपत्तौ साक्षिनिमित्ता सत्यव्यवस्था ॥ १ ॥

विप्रतिपत्तिर्नानाविधा प्रतिपत्ति अर्थिप्रत्यर्थिनोः, तस्यां स-
त्यां साक्षिहेतुका सत्यव्यवस्था सत्यस्थापना कर्तव्या । साक्षेणः
पञ्चप्रकाराः, यथाऽऽह नारद. --

लिखित स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च ।

गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविध स्मृत ॥

इति । तान्विचार्य तत्त्वावबोध इत्यर्थः । साक्षिनिमित्तं सत्य-
मिति वक्तव्ये व्यवस्थाग्रहण साक्षिणां विप्रतिपत्तौ बहूनां व-
चनं प्रमाणम् । तत्रापि सन्देहे विद्वद्वचनं प्रमाणम् । तत्रापि
सन्देहे तैरेव शपथपूर्वं प्रतिपादितमित्येवमर्थम् ।

ते पुन कियन्तः किं लक्षणा इत्यत आह --

बहवः स्युरनन्दिताः स्वकर्मसु प्रात्ययिका
राज्ञाम् ॥ २ ॥

बहवः. त्र्यवरा स्युरित्यर्थः । यथाऽऽह मनु —

त्रयवरैः साक्षिभिर्भाव्यं नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥

इति । स्युर्ग्रहणं सन्देहव्युदासार्थम् । अनन्दिता स्वकर्मसु वि-
हितानुष्ठाना इत्यर्थः । स्वग्रहणं धनपुत्रादावपि । यथाऽऽह मनु —

गृहिणः पुत्रिणो मौल्या — इत्यादि ।

कर्मस्त्विति बहुवचनमापाद्विहितस्याप्युपसङ्गहार्थम् । प्रात्ययिका
राज्ञाम्, प्रत्ययेन ये चरन्ति ते प्रात्ययिका, राज्ञां बहुषु क-
र्मसु परीक्षिता. सर्वत्राप्रमत्ता एवेति निश्चिता इत्यर्थः । बहु-
वचनाद्राजनियुक्तानां सभासदादीनामपि ॥

निष्प्रीत्यभितापाश्चान्यतरस्मिन् ॥ ३ ॥

निष्प्रीतयः. निरभितापाश्च, न कृतस्नेहा न शत्रवश्चेत्यर्थः ।
चकारान्नार्थसम्बन्धिनश्च । तथाच मनु —

नार्थसम्बन्धिनो नात्ता न सहाया न वैरिणः ॥

इत्यादि । अन्यतरस्मिन्नर्थिनि प्रत्यर्थिनि वेत्यर्थः ॥

अपि शूद्राः ॥ ४ ॥

एवविधा. शूद्रा अपि । किं पुनर्द्विजातय इति । एवच गुणव-
द्विजाद्यभावे एवविधा शूद्रा अपि भवन्तीति द्रष्टव्यम् ॥

ब्राह्मणस्त्वब्राह्मणवचनादनवरोध्योऽनिबद्धश्चेत् ॥

अब्राह्मणः क्षत्रियादिः । अब्राह्मणग्रहणादेव सिद्धे ब्राह्म-
णग्रहणं श्रोत्रियपरिग्रहार्थम् । इतरो ग्राह्य एवेति । तुशब्दात्

अन्येऽपि लिङ्गिनो न ग्राह्या विशेषेण ब्राह्मणा इति । अब्राह्मणवचनादनवरोध्यो न ग्राह्यः, अस्य वृत्तान्तस्यासौ ब्राह्मणः साक्षीत्यब्राह्मणेनोक्ते राज्ञाऽसौ साक्षित्वेन न ग्राह्य इत्यर्थः । अनिवद्धश्चेत् ब्राह्मणः पत्रकेऽनारोपितश्चेत् । आरोपितो भवत्येवेत्यभिप्रायः ॥

नासमवेता अपृष्टाः प्रब्रूयुः ॥ ६ ॥

समुदिता यावन्तस्ते समवेता अपि राज्ञा प्राड्विवाकेन वा अपृष्टाः न प्रब्रूयुः । आ प्रश्नात्तद्व्यापारं प्रति मौनिन एव भवेयुरिति प्रशब्दोपादानम् ॥

किञ्च—

अवचने च दोषिणः स्युः ॥ ७ ॥

प्रश्नकालेऽप्यवचने चकारादन्यथा वचनं च दोषिणो दण्डभाजः स्युः । तथाच मनुः—

सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।

अब्रुवन् विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बिषी ॥

इति । तस्मात्तथ्यमेव वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥

न केवलं तथ्यवचने दण्डाभावमात्रं विपर्यये दण्डभाक्त्वमेव । किं तर्हि ?

स्वर्गः सत्यवचने विपर्यये नरकः ॥ ८ ॥

सत्यवचननिमित्तात् धर्मात्स्वर्गश्च भवति, विपर्यये अनृतवचननिमित्ताद्धर्मान्नरकश्च भवति । वचनग्रहणं साक्षिणामेतत्फलं, न तु व्यवस्थाहेतोर्नृपस्येति ॥

इदानीं यत्र पञ्चप्रकारा अपि साक्षिणो न भवन्ति तत्र कथमित्यत आह—

अनिबद्धैरपि वक्तव्यम् ॥ ९ ॥

निबद्धा. निश्चयेन बद्धा स्मृताः, पञ्चविधत्वेन स्मृता. इत्यर्थः । ये पञ्चविधत्वेन न स्मर्यन्ते ते अनिबद्धा, येनकेनचित्प्रकारेण तद्व्यापारज्ञा तद्व्यामस्था इत्यर्थः । तैरपि वक्तव्यम् । अपिशब्दो निबद्धाभावसूचनार्थः । अनिबद्धा अपीत्युक्तेऽपि साक्षिप्रकरणत्वात् साक्षिण स्युरिति सामर्थ्यलब्धत्वादेव समस्तार्थे लभ्यमाने वक्तव्यग्रहणम्—तत्रापि येषां वचन प्रमाणत्वेन निर्दिष्टं तेषामेव वचन ग्राह्य नार्थसम्बन्धिनां वचन, ततश्चार्थसम्बन्धादिदोषरहितैरेव वक्तव्यमिति ॥

न पीडाकृते निबन्धः ॥ १० ॥

अत्र बन्धशब्देन व्यवस्था उच्यते । निश्चयं बन्धो निबन्ध पीडाकृते हिसादौ । न निबन्ध. न प्रतिषेधोऽस्तीत्यर्थः । पञ्चप्रकारैरन्यैश्च अर्थसम्बन्धादिदूषणयुक्तैरपि वक्तव्यमेवेत्यभिप्रायः । तथा चोशना—‘साहसे सर्वे भवन्ति’ इति ॥

तथा—

प्रमत्तोक्ते च ॥ ११ ॥

प्रमत्तः अज्ञातः, वञ्चनया वा, प्रशब्दोपादानात् । यदा निगूढाः साक्षिण. कृत्वा उपायैरेनं रहस्यापादयन्ति ततः तत्स्थाः अर्थसम्बन्धादिदूषणयुक्ता अपि साक्षिणो भवन्तीति । प्रमत्तेनोक्ते परिभाषित इत्यर्थः । चकारात् स्त्रीगमनव्यापारेऽपि ।
तथाच व्याघ्र —

स्तेये च साहसे चैव संसर्गे च स्त्रियस्तथा ।

गरादीनां प्रयोगे च न दोषस्साक्षिषु स्मृत ॥

इति ॥

विपर्यये नरक उक्तः । स. न केवलं तेषामेव । किं तर्हि ?

साक्षिसभ्यराजकर्तृषु दोषो धर्मतन्त्रपीडा-
याम् ॥ १२ ॥

यत्र धर्मतन्त्रपीडा क्रियते सम्यग्व्यवहारादर्शनात् तत्र यथै-
(स्यै)व दोषेण कर्ता लिप्यते, एवं साक्ष्यादयोपि । ननु च—
साक्षिणो दोष उक्त एव, किमर्थं पुनरिहाभिधानमिति ? उ-
च्यते । यदीह साक्षिग्रहणं न क्रियते तत्र सभ्यादीनामसा-
क्षिक एव व्यवहारे दोष उक्तः स्यात् ससाक्षिके तु साक्षि-
णामेव भवतीति ससाक्षिकेऽपि दोषप्रापणार्थम् । यावता दो-
षेण कर्ता सम्बध्यते तावान्दोषः सभ्यादीनामपि स्वापराधा-
त्पृथक्पृथगुपपद्यते न तु खण्डश इति द्रष्टव्यम् । तन्त्रशब्देन
लोकव्यवहार उच्यते । ततश्च तत्पीडा च न कर्तव्येति त-
द्ग्रहणम् ॥

शपथेनैके सत्यकर्म ॥ १३ ॥

यदा तु साक्ष्यादिप्रमाणान्तरप्रत्यस्तमयः तदा शपथेन
कोशादिना एके सत्यकर्म सत्यव्यवस्थापनमिच्छन्ति । शपथ-
श्च प्रयुज्यमानस्य, इतरेण व्यवसितत्वात् । सत्यमिति वक्त-
व्ये कर्मग्रहणं व्यवहारादन्यत्रापि लौकिकव्यवहारसन्देहे शप-
थस्यानुप्रवेशार्थम् । तथाच श्रुति.—‘अन्यामुदीय यदि यातु-

धानो अस्मि' इत्यादि । गौतमस्तु न्यायेनैव । तत्र प्रमाण-
लेशे सति शपथ, असति न्याय एवेति द्रष्टव्यम् ॥

तदेवराजब्राह्मणसंसदि स्यादब्राह्मणानाम्॥१४

तच्छपथ देवससदि देवसन्निधौ । देवशब्देन देवताप्र-
तिमा. आदित्यादयो वा उच्यन्ते । राजा व्यवहारदर्शी । ब्रा-
ह्मणा. सभ्यादय नद्ब्रह्मण लौकिकव्यवहारनिवृत्त्यर्थम् । एव
च व्यवहारे देवतादिस्निधौ, लौकिके यत्रकुत्रचिदिति द्रष्ट-
व्यम् । अर्थान्तरनिमित्तो व्यवहार, अपराधनिमित्तो लौकिक
इति । अब्राह्मणा क्षत्रियादय । स्याद्ब्रह्मण क्रमनिवृत्त्यर्थम् ।
तत्र देवताऽलाभे विप्रससदि, तदलाभे राजससदि द्रष्टव्यम् ।
तथाच स्मृत्यन्तरम् -

अब्राह्मणाक्षप सम्यक्कारयेद्देवसन्निधौ ।

शपथ तदलाभे च ब्राह्मणस्य समीपतः ॥

तदलाभे नृपस्याथ भगवान् काश्यपोऽब्रवीत् ॥

इति । अलाभोपि कार्यान्तरव्यग्रापेक्षया द्रष्टव्यः । अविप्राणा-
मिति वक्तव्ये गुरुसूत्रकरणमश्रोत्रियब्राह्मणस्यापि देवतासन्निधि-
प्रवेशार्थम् । एव च श्रोत्रियब्राह्मणस्य सत्यशब्दोच्चारणमात्रा-
देव शपथ भवतीति द्रष्टव्यम् । स्मृत्यन्तरोपसङ्गहार्थं स्याद्ब्रह्म-
णमित्येके । यथाऽऽह मनुः—

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।

गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥

इति । देवराजब्राह्मणसमक्षमिति वक्तव्ये संसदिग्रहणं देवताया
सनिहितस्थानोपसङ्गहार्थम् । सभायाश्च छलादिदोषरहिताया ।
यथाऽऽह नारद —

स्तेये च साहसे चैव संसर्गे च स्त्रियस्तथा ।

गरादीनां प्रयोगे च न दोषस्साक्षिषु स्मृतः ॥

इति ॥

विपर्यये नरक उक्तः । सः न केवलं तेषामेव । किं
तर्हि ?

साक्षिसभ्यराजकर्तृषु दोषो धर्मतन्त्रपीडा-
याम् ॥ १२ ॥

यत्र धर्मतन्त्रपीडा क्रियते सम्यग्व्यवहारादर्शनात् तत्र यथै-
(स्यै)व दोषेण कर्ता लिप्यते, एवं साक्ष्यादयोपि । ननु च—
साक्षिणो दोष उक्त एव, किमर्थं पुनरिहाभिधानामिति ? उ-
च्यते । यदीह साक्षिग्रहणं न क्रियते तत्र सभ्यादीनामसा-
क्षिक एव व्यवहारे दोष उक्तः स्यात् ससाक्षिके तु साक्षि-
णामेव भवतीति ससाक्षिकेऽपि दोषप्रापणार्थम् । यावता दो-
षेण कर्ता सम्बध्यते तावान्दोषः सभ्यादीनामपि स्वापराधा-
त्पृथक्पृथक्प्राप्यते न तु खण्डश इति द्रष्टव्यम् । तन्त्रशब्देन
लोकव्यवहार उच्यते । ततश्च तत्पीडा च न कर्तव्येति त-
द्ग्रहणम् ॥

शपथेनैके सत्यकर्म ॥ १३ ॥

यदा तु साक्ष्यादिप्रमाणान्तरप्रत्यस्तमयः तदा शपथेन
कोशादिना एके सत्यकर्म सत्यव्यवस्थापनमिच्छन्ति । शपथ-
श्च प्रयुज्यमानस्य, इतरेण व्यवसितत्वात् । सत्यमिति वक्त-
व्ये कर्मग्रहणं व्यवहारादन्यत्रापि लौकिकव्यवहारसन्देहे शप-
थस्यानुप्रवेशार्थम् । तथाच श्रुतिः—‘अन्यामुदीय यदि यातु-

धानो अस्मि' इत्यादि । गौतमस्तु न्यायेनैव । तत्र प्रमाण-
लेशे सति शपथ, असति न्याय एवेति द्रष्टव्यम् ॥

तदेवराजब्राह्मणसंसदि स्यादब्राह्मणानाम्॥१४

तच्छपथ देवसंसदि देवसन्निधौ । देवशब्देन देवताप्र-
तिमः आदित्यादयो वा उच्यन्ते । राजा व्यवहारदर्शी । ब्रा-
ह्मणाः सभ्यादयः । ब्रह्मण लौकिकव्यवहारनिवृत्त्यर्थम् । एव
च व्यवहारे देवतादिसन्निधौ, लौकिके यत्रकुत्रचिदिति द्रष्ट-
व्यम् । अर्थान्तरनिमित्तो व्यवहार, अपराधनिमित्तो लौकिक
इति । अब्राह्मणा क्षत्रियादयः । स्याद्ब्रह्मण क्रमनिवृत्त्यर्थम् ।
तत्र देवताऽलाभे विप्रसंसदि, तदलाभे राजसंसदि द्रष्टव्यम् ।
तथाच स्मृत्यन्तरम् -

अब्राह्मणान्नप सम्यक्कारयेद्देवसन्निधौ ।

शपथं तदलाभे च ब्राह्मणस्य समीपतः ॥

तदलाभे नृपस्याथ भगवान् काश्यपोऽब्रवीत् ॥

इति । अलाभोपि कार्यान्तरव्यग्रापेक्षया द्रष्टव्यः । अविप्राणा-
मिति वक्तव्ये गुरुसूत्रकरणमश्रोत्रियब्राह्मणस्यापि देवतासन्निधि-
प्रवेशार्थम् । एव च श्रोत्रियब्राह्मणस्य सत्यशब्दोच्चारणमात्रा-
देव शपथं भवतीति द्रष्टव्यम् । स्मृत्यन्तरोपसङ्गहार्थं स्याद्ब्रह्-
णमित्येके । यथाऽऽह मनुः -

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।

गोबीजकाञ्चनैर्वैद्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥

इति । देवराजब्राह्मणसमक्षमिति वक्तव्ये संसदिग्रहणं देवताया
सनिहितस्थानोपसङ्गहार्थम् । सभायाश्च छलादिदोषरहितायाः ।
यथाऽऽह नारदः -

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्य यच्छलेनानुविद्धम् ॥
इति ॥

साक्षिणां सामान्येन दोष उक्तः । विशेषार्थमिदानीमाह—

क्षुद्रपश्वनृते साक्षी दश हन्ति ॥ १५ ॥

क्षुद्रपशवः अजाविकादयः तद्विषयेऽनृतवचने दश पुरुषान्
हन्ति । अविशेषात् स्वबन्धून् हन्तीति ज्ञायते । दशस्वबन्धुह-
नने यावत्पापं तावदस्य भवतीत्यर्थः । एवं सर्वत्र । ततश्च त-
दनुरूपेण दण्डप्रायश्चित्तकल्पनम् । साक्षिग्रहणं सभ्यादीनामप्यु-
पलक्षणार्थम् ॥

गोऽश्वपुरुषभूमिषु दशगुणोत्तरान् ॥ १६ ॥

उत्तरमुत्तर दशगुण भवति । गोविषये शतगुणम् । अश्व-
विशये सहस्रगुणमित्यादि ॥

पश्व पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥

इत्यादि यदुक्तं स्मृत्यन्तरे तत्परिग्रहविशेषापेक्षया प्रयोजनापे-
क्षया वा द्रष्टव्यम् ॥

सर्वं वा भूमौ ॥ १७ ॥

भूमिविषये शतसहस्रं सर्वं वा मनुष्यजातम् । कृताकृत-
क्षेत्रभेदेन विकल्पो द्रष्टव्यः ॥

हरणे नरकः ॥ १८ ॥

भूमेरिति विपरिणामः । अविशेषान् आकल्पात् भवति ।
दोषवचनप्रसङ्गेनैतदुक्तम् ॥

इदानीं प्रकृतमाह—

अप्सु* मैथुनसंयोगे च ॥ १९ ॥

अप्सु कृपाद्याधारावस्थितासु मैथुनसंयोगे च परस्त्रीग-
मनादावित्यर्थः । संयोगग्रहणात् कन्यालक्षणादावपि । चकारः
अग्रहणं मैथुनविशेषण मा भूदित्येवमर्थः । भूमिवद्दोषः । एवं च
हरणेऽपि नरको द्रष्टव्यः ॥

पशुवन्मधुसर्पिषोः ॥ २० ॥

मधुघृतविषये क्षुद्रपश्वनृततुल्यो दोषः ॥

गोवदस्त्रहिरण्यधान्यब्रह्मसु ॥ २१ ॥

वस्त्रादिविषयेऽनृते गवानृतवद्दोषः । ब्रह्मानृतं अश्वीतवेदमनधी-
तवेदमित्युक्ते ॥

यानेष्वश्ववत् ॥ २२ ॥

हस्त्यादियाननिमित्तेऽनृते अश्वानृततुल्यो दोषः । यानेष्विति
बहुवचनमचेतनानां शिविकादीनामप्युपसङ्गहार्थम् ॥

केचिदन्यथा व्याचक्षते पशुवन्मधुसर्पिषोरित्यारभ्य पश्व-
नृतवद्दोषः मधुसर्पिषोर्हरणे । वस्त्रादिहरणे च गोवद्दोषः ।
तत्र ब्रह्मशब्दन वेदाङ्गानि, लिखितानि पुस्तकान्याहुः । यानहरणे
चाश्वानृततुल्यो दोष इति ॥

यदि त्वेवमपि दोषे उक्ते साक्ष्यनृतमेव वक्ति तत—

मिथ्यावचने याप्यो दण्ड्यश्च साक्षी ॥ २३ ॥

अनृत उक्ते याप्यं गर्ह्यः सर्वलोकसमक्षं सव्यवहारवि-
च्छेदनार्थम् । पुरुषशक्त्यादिविज्ञानात् तन्मूल्यप्रमाणेन दण्ड्यश्च
भवति । अर्थप्रयोजनापेक्षया परिग्रहविशेषापेक्षया च समस्त-
व्यस्तपरिकल्पनार्थश्चकार । अधिकारादेव सिद्धे साक्षिग्रहण
स एव याप्यो दण्ड्यश्च । सभ्यादयो दण्ड्या एवेति ॥

अस्यापवादमाह —

नानृतवचने दोषो जीवनं चेत्तदधीनम् ॥ २४ ॥

यदा सत्यवचनात् परस्यावश्यभावी जीवनच्छेदः तदा सा-
क्षिणाऽनृतमपि वक्तव्यम् । तस्मिन्नुक्ते न पूर्वोक्तो दोषः ॥

न तु पापीयसो जीवनम् ॥ २५ ॥

तुशब्दो विशेषार्थ एतज्ज्ञापयति—अवश्यंभाव्यनृतवचने
दोषः, तथाऽपि तु वधनिमित्तात् सत्यादनृतमेव विशिष्टमल्पतर-
दोषत्वादिति । तथाच मनु -

शूद्रविदूक्षत्रविप्राणां यत्रोक्तार्थं भवेद्वधः ।

तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि तत्र विशिष्यते ॥

इति । यदेव मन्येत—जीवन्नप्ययं पापकर्मरतिरेव भवति स्ते-
याद्येव करोतीति तदा सत्यमेव वक्तव्यमित्यभिप्रायः । पापी-
यस इत्यातिशायनिकप्रत्ययनिर्देशः परपीडाकर्तर्येव सत्य वक्त-
व्यम्, न बिहिताकरणमात्रे प्रतिपिद्धकरणमात्रे वेति ॥

उक्ताः साक्षिणः केन प्रष्टव्या इत्यत आह—

राजा प्राङ्निवाको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित् ॥

पृच्छतीति प्राट् । पृष्ट विवेकीति विवाकः । पृच्छति वा असौ विवादिन साक्षिणो वा तदुक्तं च विचारयतीति प्राङ्निवाकः । स राजैव भवेत्, श्रान्ते तस्मिन्नन्यकर्मप्रवृत्ते ब्राह्मणो वा शास्त्रवित् बहुश्रुत इत्यर्थः । तथाच मनुः—

यदा स्वयं न कुर्यात् नृपति कार्यदर्शनम् ।

तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मण कार्यदर्शनम् ॥

इति ॥

एवमुक्तलक्षण —

प्राङ्निवाकमध्याभवेत् ॥ २७ ॥

अधि आभवेत् उपर्येन गच्छेदित्यर्थः । इदमपि ब्राह्मण-पक्षे, राजस्तु “तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन्” इत्युक्तत्वात् । तमध्याभवेदिति सिद्धे प्राङ्निवाकग्रहण नियमार्थं, तमेवोपरिस्थं गच्छेन्न सहायमपि । आङ्ग्रहणमर्थिनमेव परिच्छेदयेन्न पुनरुत्पादयेदिति । तथा च मनुः—‘नोत्पादयेत्स्वयं कार्यम्’ इत्यादि ॥

संवत्सरं प्रतीक्षेताप्रतिभायाम् ॥ २८ ॥

यदाऽभियुक्तस्यार्थिन साक्षिणां वा प्रतिभान न भवति अप्रतिपत्तिर्भवति तदा संवत्सरं तेषां प्रतीक्षेत । संवत्सरादूर्ध्वं यथाप्रतिभं परिच्छेदयेदित्यर्थः ॥

अस्यापवादः—

धेन्वनदुत्स्त्रीप्रजननसंयुक्ते च शीघ्रम् ॥ २९ ॥

धेन्वादिसम्बन्धे व्यवहारे न संवत्सर प्रतीक्षेत, कालक्षेपे धेन्वाद्युपभोगकालोऽतीतो भवतीति । धेनु सक्षीरा गौः । अनड्वान् बलीवर्दः, असावपि सवत्सरभोगेन जीर्यतीति । स्त्रीप्रजननसंयुक्तेऽपिच, संयुक्तग्रहणस्य प्रत्येकमभिसवध्यमानत्वात् । स्त्रीप्रजनन कन्याविवाहः, सवत्सरप्रतीक्षणे तस्यापि कालातिक्रमो भवतीति । विवाह इति वक्तव्यमिति चेन्न प्रजननयोग्यग्रहणार्थत्वात् । एवंचासमर्थाया सवत्सरप्रतीक्षणेऽपि न दोषः । स्त्रीग्रहण सर्वर्णजात्युपसग्रहार्थम् । ततश्चासवर्णायां प्रतीक्षणं कर्तव्यमिति सूचयति । चकार प्रत्येकामिति सूचनार्थः । धेनुसंयुक्ते अनडुत्सयुक्त इत्यादि, मा भूत् समुदितानामेव विषय इति । शीघ्रग्रहण नाडिकामात्रस्यापि प्रतीक्षणप्रतिषेधार्थम् ॥

आत्ययिके च ॥ ३० ॥

शीघ्र निर्णयं कुर्यादित्यर्थः । अत्ययकर्म यथा सार्धमुक्तस्य सार्धो गच्छति, म्रियमाणावस्थो वाऽन्यतरो भवति, ग्रामोपप्लवो वा भवतीत्यदि । अत्ययवशात् धेन्वादियुक्तादपि पूर्वं विचारणीयमिति पृथक्करणम् । चशब्दः स्तेयसाहसदण्डपारुष्याद्युपसङ्ग्रहणार्थः । तथाच स्मृत्यन्तरम्—

साहसस्तेयपारुष्यगोऽभिशापात्ययस्त्रियाम् ।

विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥ इति ॥

सर्वधर्मेभ्यो गरीयः प्राड्विवाके सत्यवचनं सत्यवचनम् ॥ ३१ ॥

सर्वधर्मेभ्यः श्रुतिस्मृत्युपदिष्टेभ्यो धर्मसाधनेभ्यो गुरुतरं

प्राङ्निवाके व्यवहारद्रष्टरि यथाभूतार्थदर्शित्वमित्यर्थः । प्राङ्नि-
वाके वा सन्निहिते साक्ष्यादीनां यत्सत्यवचनमिति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः

विहिताकरणे दण्डप्रायश्चित्ते उक्ते । कस्मिन्काले विहित-
मकुर्वतो नेष्येते इत्यत आह—

**शावमाशौचं दशरात्रमनृत्विग्दीक्षितब्रह्मचारि-
णां सपिण्डानाम् ॥ १ ॥**

शवनिमित्तोऽशुचिभावो दशाहोरात्राणि भवति । केषां?
सपिण्डानाम् । तत्स्वरूपं वक्ष्यति । ऋत्विगादिवर्जितानाम् ।
ऋत्विग्याजकः प्रवृत्तकर्माऽत्र गृह्यते दीक्षितमाहचर्यात् । यदि
भूतपूर्वगतिगिहाश्रीयते 'ऋत्विक् श्वशुरः' इत्यादिवत्, दीक्षितब्रह्म-
चारिणोरप्येवं प्रसज्येत । ततश्च सर्वस्य भूतपूर्वगत्या ब्रह्म-
चारित्वाद्ऋत्विग्दीक्षितग्रहणमनर्थकं स्यात् । तस्मात्सर्व एव
प्रवृत्तक्रिया गृह्यन्ते । दीक्षितो यजमानः । ब्रह्मचारी यावद्ब्रह्म-
चर्यम् । उपरिष्ठात् क्षत्रियादीनामुपदेशाद्ब्राह्मणविषयमिदम् ।
सूतकस्य वक्ष्यमाणत्वादाशौचं दशरात्रमित्युक्त एव शवानमि-
त्तस्य सिद्धे शावग्रहण शवप्रभृति दिवसगणना कर्तव्येत्येव-
मर्थम् । ननु च स्मृत्यन्तरे संस्कारप्रभृति श्रूयते 'अरण्ये
काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षिपेऽयहमेव वा' इति पूर्वकालक्रियायाम् ।
तथा 'आहिताग्निश्चेत् प्रवसन् म्रियेत पुनः संस्कारं कृत्वा
शववच्छौचम्' इति । तेनेदं विरुद्धमिति । अत्रोच्यते—विषय-

विभागेनाविरोध इति । तथा व्याघ्रधर्मे विषयविभागप्रतिपादनपर वाक्य श्रूयते—

मरणादेव कर्तव्यं संयोगो यस्य नाग्निभि ।

दहनादेव कर्तव्यं यस्य वैतानिको विधिः ॥

इति । ‘पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टि’ इत्यनेन शवनिमित्ताशौचस्पर्शने स्नानविधानादेवाशुचिभावे सिद्धे । आशौचग्रहणं अध्ययनादेरप्यनधिकारार्थम् । तथाच मनुः—

उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।

दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥

इति । शावाशौचमिति वक्तव्ये शावमाशौचमिति विसमासकरणं शवाङ्गभूतानामस्थनां यावत्संचयनं तावदेव परस्परस्पर्शनं प्रत्यशुचिभाव इति ज्ञापनार्थम् । तथाच संवर्तः—

अस्थिसंचयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शो विधीयते ।

इति । अस्थिसंचयनस्वरूपं स्मृत्यन्तरादवगन्तव्यम् । तथाच व्याघ्र —

प्रथमे च द्वितीये च तृतीये च चतुर्थके ।

अस्थिसंचयनं कुर्याद्वन्धुभिर्हितमीप्सुभिः ॥

इति । तत्र सद्यश्शौचाधिकारिणां प्रथमेऽहि, एकाहसम्बन्धिनां द्वितीयेऽहि, त्र्यहसम्बन्धिनां तृतीयेऽहि, चतुरहसम्बन्धिनां दशाहसम्बन्धिनां चतुर्थेऽहोति द्रष्टव्यम् । तथा तत्रैवापर वाक्यं श्रूयते—

चतुर्थे पञ्चमे चैव सप्तमे दशमे तथा ।

अस्थिसंचयनं कुर्याद्विर्णानामानुपूर्व्यशः ॥

इति । तत्र ब्राह्मणस्य चतुर्थे क्षत्रियस्य पञ्चमे वैश्यस्य स-
प्तमे शूद्रस्य दशम इति द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणस्योक्त, एवं क्ष-
त्रियवैश्ययोरपि वृत्तस्वाध्यायापेक्षया स्वल्पाशौचानां स्वल्प-
मित्यनेन न्यायेन कल्प्यमिति । ब्रह्मचारिग्रहणं परिव्राजकादी-
नामप्युपलक्षणम् । तथाच बृहस्पतिः—

नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।

नाशौच सूतके प्रोक्तं शाचे चापि तथैव च ॥

इति । दीक्षितग्रहणं चान्द्रायणादौ प्रवृत्तानामपि ग्रहणार्थम् ।
तथाच वासिष्ठः—

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां सन्निनां तथा ।

ऐन्द्रस्थानमुपासीनाः ब्रह्मपूता हि ते सदा ॥

इति । ‘श्रुत्वा चोर्ध्वं दशम्या.’ ‘एकादशरात्रं क्षत्रियस्य’
इति च लिङ्गादेव दशरात्रं ग्रहीतुं शक्ये दशरात्रग्रहणं ब्राह्म-
णस्याशौचे क्षत्रियादेरपि दशरात्रमेवेति नियमार्थम् । तथाच
स्मृत्यन्तरम्—

क्षत्रविद्वद्ब्रह्मदायादा ये स्युर्विप्रस्य बान्धवाः ।

तेषामशौचे विप्रस्य दशाहं सूतकं भवेत् ॥

इति । विप्रस्याशौचे प्राप्ते तेषां दशाहमेवेति तत्रार्थः । मनुरपि—

सर्वे तूत्तमवर्णानामाशौचं कुर्युरादताः ।

तद्वर्णविधिदृष्टेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु ॥

इति । ब्राह्मणाशौचे तेषां दशाहोपदेशात्तेषामाशौचे विप्रस्य
स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह लोकाक्षिः—

दशाहं शावमाशौचं जन्महान्योः स्वयोनिषु ।

षट्त्रिरेकं तथा प्रोक्तं क्षत्रविद्शूद्रयोनिषु ॥ इति ॥

एकादशरात्रं क्षत्रियस्य ॥ २ ॥

ऋत्विग्दीक्षितब्रह्मचारिवर्जितानां सपिण्डानां शावमाशौच-
मिति वर्तते ॥

द्वादशरात्रं वैश्यस्य ॥ ३ ॥

पूर्ववदनुवर्तते—

अर्धमासमेके ॥ ४ ॥

पञ्चदशाहमित्येके । वृत्तस्वाध्यायापेक्षया विकल्पो द्रष्टव्यः।
एवंच ब्राह्मणादीनामपि वृत्तस्वाध्यायापेक्षाऽस्तीति गम्यते । त-
थाच पराशरः—

एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः ।

त्र्यहात्केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः ॥

इति । तथाच मनुरापि—

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।

अर्वाकसंचयनादस्त्रां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥

इति । अत्र अर्वाक् संचयनादिति चतुरहोपलक्षणम् । एकगु-
णयोगे चतुरहेणैव शुद्धिः, द्विगुणयोगे त्र्यहेण, सर्वगुणयोगे
त्वेकाहेन । सर्वगुणयोगे सति वृत्ति*संकोचोऽपि भवति तदा
सद्यश्शौचमिति भाष्यकृता व्याख्यातम् । तथा क्षत्रियस्यापि
वाक्यचतुष्टयमारभ्यते—‘एकादशरात्रेणेति गौतमः । पञ्चदश-
रात्रेणेति वसिष्ठ । द्वादशरात्रेणेति याज्ञवल्क्यः । दशरात्रे-
णेति पराशरः’ । ब्राह्मणस्य दशरात्रवत् क्षत्रियस्यापि पञ्च-

दशाह एव नित्यः । तत्रैकगुणयोगे द्वादशरात्रम्, द्विगुणयोगे एकादशरात्रम्, सर्वगुणयोगे दशाह, निर्गुणस्य पञ्चदशाहः । तथा वैश्यस्यापि—एकगुणयोगेऽर्धमासमेके इत्यर्धमासः, द्विगुणयोगे द्वादशरात्रं वैश्यस्येति द्वादशाहः, सर्वगुणयोगे पराशरोक्तमेकादशरात्रम्, निर्गुणस्य विशतिरात्रं वस्मिष्टोक्तम् । तदेव नित्यमित्येवं कल्पना द्रष्टव्या ॥

मासं शूद्रस्य ॥ ५ ॥

अस्य दीक्षाद्यभावात् सपिण्डानामित्येव । वृत्ताद्यभावाच्चैतदेव । असच्छूद्रविषय चेद्, सच्छूद्राणामर्धमासमित्यौशनसवचनात् ॥

तच्चेदन्तः पुनरापतेच्छेषेण शुध्येरन् ॥ ६ ॥

तदेव समानजातीय मरणे मरणम्, जनने जननमिति, तद्ग्रहणात् । पुनः भूयोपि अनंकशोपीत्यर्थः । आपतेदागच्छेत् । ततः पूर्वाशौचावशिष्टेनैव कालेन शुद्धिः स्यात् नागतस्य कालप्रतीक्षणं कर्तव्यमित्यर्थः । अन्नग्रहणं विस्पष्टार्थम् 'शेषेण शुध्येरन्, रात्रिशेषे द्वाभ्यां, प्रभाते तिसृभिः' इत्येतैरेव मध्यमस्य ज्ञातुं शक्यत्वात् । अन्ये तु जननेऽप्येवमित्यतिदेशादेव सिद्धे तद्ग्रहणं समानकालापेक्षमाहुः । यथा दशरात्रप्रमाणाशौचे दशरात्रप्रमाणाशौचमिति । यदि स्वल्पप्रमाणके महत्प्रमाणमागच्छति तत्पूर्वेण न गच्छेदिति । तथाच पैङ्गिगृह्यस्मृति 'अथवृद्धौ पश्चिमेन समापयेत्' इति । अथवृद्धावित्युक्तेः अल्पाद्य गच्छेदेवेति द्रष्टव्यम् ॥

रात्रिशेषे द्वाभ्याम् ॥ ७ ॥

यद्येकराज्यवशिष्टे पूर्वाशौचे तदन्यदापतेत् ततो न पूर्व-
णैव शुद्धिः किन्तु द्वाभ्यां रात्रिभ्याम् । एवंच त्रिरात्रं परि-
गृहीतं भवति ॥

प्रभाते तिसृभिः ॥ ८ ॥

प्रभाते स्नानात्पूर्व, सङ्गवकालात्पूर्वमित्यर्थः, 'अघभाजः स-
ङ्गवे स्नात्वा ग्रामं प्रविशेयुः' इत्यर्थवाददर्शनात् । यद्यापतेत्
ततो न रात्रिशेषेण शुद्धिः । किन्तु तिसृभिः रात्रिभिः ॥

गोब्राह्मणहतानामन्वक्षम् ॥ ९ ॥

गवार्थं ब्राह्मणार्थं वा हतानां यावद्दर्शनमाशौचम् । सद्यः
शौचमित्यर्थः । तथाच मनु,—

गोब्राह्मणस्य चैवार्थं यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥

इति । सद्यश्शौचाधिकारे इदमुक्तम् । गोब्राह्मणहतानामन्यतरप्र-
मापितानां वा । तथा चोशना—'गोभिर्हतानां ब्राह्मणेन हतानां
च सद्यश्शौचम्' इति ॥

राजक्रोधाच्चयुद्धे ॥ १० ॥*

अन्वक्षमिति वर्तते । चशब्दोपिशब्दस्यार्थे, भिन्नक्रमश्च ।
राजक्रोधाद्युद्धेऽपीति । अपिशब्दात् युद्धेऽपि । तथाच मनु —

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य तु ।

सद्यस्संतिष्ठते यज्ञस्तदाशौचमिति स्थितिः ॥

इति । चशब्दः समुच्चयार्थो वा । ततश्च यः राजा क्रोधात्
घातयेद्युद्धे तस्य सद्यश्शौचम् । युद्धे अक्रोधेनापि हत-

स्येति । केचिदेव व्याचक्षते—राजक्रोधाद्धतानां युद्धेऽपि जनपदक्षोभादिभिः हतानामिति । तथाच मनु —

डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ॥

इति । अन्ये तु विवाहकालमाहु । अयुद्धे राजक्रोधाद्धतानां सद्यश्शौचम्, विवाहकाले च सद्यश्शौचमिति । तथाच बृहस्पति.—

कृच्छ्रे विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविप्लवे ।

आपद्यपि च कष्टायां सद्यश्शौचं विधीयते ॥ इति ॥

**प्रायानाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्धन्धनप्रपतनैश्चे-
च्छताम् ॥ ११ ॥**

अन्वक्षमिति वर्तते । बुद्धिपूर्वं प्रायादिभिरात्मान व्यापादयतां सद्यश्शौचम् । प्राय महाप्रस्थानम् । तदनिच्छतोऽपि राजभयादिना संभवतीति इच्छतामित्युक्तम् । अनाशक अमोजन . एतदपि दुर्भिक्षादावनिच्छतोऽपि संभवतीति । शस्त्रं खड्गादि, तत्रापि प्रमादात् संभवत्येव । अग्न्यादीनि प्रसिद्धानि, तत्र सर्वत्रापि प्रमादात् संभवत्येव । उद्धन्धनं रज्ज्वादिना, अत्रापि परिहासादिना अनिच्छतोऽपि सम्भवति । प्रपतनं पर्वताद्वक्षाद्वा, तत्रापि दैवादबुद्धिपूर्वमपि सम्भवत्येव । एवं चाबुद्धिपूर्वमेतैर्मृतानां यथाप्राप्तमेवेति द्रष्टव्यम् । चकारादन्यैरप्येवंभूतैरात्महननहेतुभिरिति द्रष्टव्यम् ॥

इदानीं सपिण्डस्वरूपमाह—

पिण्डनिवृत्तिस्सप्तमे पञ्चमे वा ॥ १२ ॥

षट्पुरुषानतीत्य सप्तमे प्राप्ते । पित्रादिभ्यस्त्रिभ्यः पिण्डदानम् । तेषु जीवत्सु येभ्यः पिता ददाति तेभ्य एव पुत्रो-

पीत्यपरेभ्यस्त्रिभ्य इति षट्पुरुषा पिण्डसम्बन्धिनः । यदा जीवपितृकस्य 'न जीवन्तमति ददाति' इति जीवपिता पितामहाय प्रपितामहायेति दद्यादित्याश्रीयते तदा पञ्चमे निवृत्तिः । स्त्रोणामप्येतत्तुल्य पितृपक्षे वा सप्तमे निवृत्तिः । मातृपक्षे पञ्चम इति ॥

जननेऽप्येवम् ॥ १३ ॥

दशाह एव अतिदिश्यते । अन्यथा मातुरपि सद्यश्शौचं प्राप्नोति । तदाचारेण विरुध्यते, गृह्यस्मृत्या च, 'दशरात्रं दम्पती सूतकिनौ भवतः' इति । ततः यदेव शाव उपदिष्टं दशरात्रं तत्सपिण्डानां सर्वेषां भवतीति प्रतिपत्तव्यम् । तथाच मनु—

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचौले च सस्थिते ।

अशुद्धा बान्धवास्सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥

इति । तथाच व्याघ्रोपि—

सूतके तु सपिण्डानां पित्रोर्वा मातुरेव वा ।

आशौचं दशरात्रं स्यात् त्र्यहं तोयप्रदायिनाम् ॥

इति । तत्रापि दीक्षितादिवर्जनं द्रष्टव्यम् । अपिशब्दात् 'तच्चेदन्त. पुनरापतेत्' इत्यादि ॥

मातापित्रोस्तत् ॥ १४ ॥

मातापित्रोर्वा सूतकमिति । उपरितनवाशब्दोऽत्राप्यध्याहर्तव्यः । तथाच वसिष्ठोप्यत्रैव वाशब्दमुक्तवान् 'मातापित्रोर्वा तन्निमित्तत्वात्' इति ॥

मातुर्वा ॥ १५ ॥

तस्यैव वा जातस्य मातुर्न सपत्न्या इत्यर्थः । व्यवस्थितविकल्पोऽत्र द्रष्टव्यः—यदि सर्वे वृत्तहीनास्तदानीं सर्वेषां सूतकं स्यात् । यदि सर्वे वृत्तवन्तः पिता वृत्तहीनः तदा पित्रोः । यदा पिता च वृत्तवान् सङ्कोचवृत्तिश्च तदा मातुरेवेति । यदि तु पिता अग्निहोत्री सङ्कोचवृत्तिर्न भवति तदा उपस्पृश्याग्निहोत्रं हुत्वा पुनराशौचं गृह्णीयादिति ॥

गर्भमाससमा रात्रीः संसने गर्भस्य ॥ १६ ॥

गर्भसंसने तु यावान्मासो गर्भस्तावन्यहोरात्राणि भवन्ति । आपञ्चमान्मासात् गर्भसंसनं, अत ऊर्ध्वं तु गर्भपतनमिति वेदितव्यम् । कुतः ? ‘तस्मात्पञ्चमे मासि गर्भा विक्रियन्ते’ इति ब्राह्मणलिङ्गात् । ततश्च यावन्मासो गर्भः संसते तत्तुल्यान्यहोरात्राणि भवन्तीत्यर्थः ॥

ऽयहं वा ॥ १७ ॥

द्वैमासिकत्रैमासिकगर्भसंसने ऽयहं, ऊर्ध्वं तु मासतुल्य, इति व्यवस्था द्रष्टव्या । पतनेऽपि मासतुल्यमेवाशौचं द्रष्टव्यम्, ‘गर्भे तन्माससममहाराशौचम्’ इति पैङ्गिगृह्यवचनात् आशौचं मातुरेव, तदधिकारात् । तथाच देवगृह्यवचनम्—‘गर्भस्थे प्रेते मातुरेव स्यादाशौचम्’ इति । मासतुल्यन्यायेनैव जननोत्तरकालं मृतस्यापि दशरात्रं सिद्धम् । गर्भस्थे प्रेते मातुरेवेत्येवकारात् जननोत्तरकालं पित्रोर्भवतीति गम्यते । तथाच व्याघ्रः—

बाले मृते सपिण्डानां सद्यश्शौचं विधीयते ।

दशाहेनैव दम्पत्योः सोदराणां तथैव च ॥

इति । सोदराणां दशाहग्रहण नामकरणादूर्ध्वमेव द्रष्टव्यम् । तथाच पैङ्गिगृह्यस्मृति — ‘गर्भस्थे प्रेते मातुरेव स्यादाशौच जात उभयो । कृतनाम्नि सोदराणां च । अकृतनाम्नचपीत्येकं । दन्तजाते कृतचूडे सर्वेषाम्’ इत्यादि । दन्तजाते कृतचौले सर्वेषां द्वादशपुत्राणां दशाह इत्येव द्रष्टव्यम् । ‘माससमा रात्री स्रसने गर्भस्य’ इत्येव सिद्धे गर्भग्रहणं गर्भसनिष्कृष्टाया मातुरेवेदमाशौचमेति नियमार्थम् ॥

श्रुत्वा चोर्ध्वं दशम्याः पक्षिणीम् ॥ १८ ॥

दशमीग्रहण सर्वाशौचप्रदर्शनार्थम् । पक्षिण्यहर्द्वयमध्यगता रात्रिः, रात्रिद्वयमध्यगतमहर्वा । सपिण्डजनन मरणं वा श्रुत्वा पक्षिण्याशौच भवति । चशब्दात् समेत्य चाकृतचौलानां तिसृभिः’ इत्युक्तत्वात्कृतचौलानामिदं द्रष्टव्यम् । तत्रापि चतुरहसम्बन्धिनामिदं द्रष्टव्यम् । त्र्यहसम्बन्धिनां तु ‘देशान्तरस्थे प्रेते ऊर्ध्वं दशाहाच्छ्रुत्वा एकरात्रमाशौचम्’ इति वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । एकाहसम्बन्धिनां तु ‘बाले देशान्तरस्थे’ इत्यनेन सद्यः शौचम् । दशाहसम्बन्धिनां तु ‘अतिक्रान्ते दशाहे तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्’ इति मनुनोक्तं त्र्यहं द्रष्टव्यम् । सर्वेषामूर्ध्वं संवत्सरात्स्नानमेव,

‘संवत्सरं व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति’
इति मनुवचनात् ॥

असपिण्डे योनिसम्बन्धे सहाध्यायिनि च॥१९

असपिण्ड समानोदकः तस्मिन्मृते समानोदकानां पक्षिणी । इदमपि चतुरहसम्बन्धिनः । एकाहसम्बन्धिनस्तु सद्यःशौ-

चम् । 'बाले देशान्तरस्थे' इत्यनेन त्र्यहसम्बन्धिन एकाहः कल्प्यः । दशाहसम्बन्धिन. 'त्र्यहातूदकदायिन' इति त्र्यहमित्येव द्रष्टव्यम् । योनेसम्बन्धिन. मातुलमातृभागिनेयपैतृष्वस्त्रेया । तेषु मृतेषु पक्षिणी । तथा सहाध्यायिनि च । सहाध्यायी एकोपाध्यायकः । चशब्दात् सुहृदि च ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहम् ॥ २० ॥

सब्रह्मचारी समानचरण, तस्मिन्मृते एकाहोरात्रमाशौचं गृहीयादित्यर्थः, सर्वत्र गृहीयादित्यध्याहारात् ॥

श्रोत्रिये चोपसम्पन्ने ॥ २१ ॥

एकां रात्रिं गृहीयादिति वर्तते । श्रोत्रिये षडङ्गवेदाध्यायिनि उपसम्पन्ने ज्ञानानुष्ठानसम्पदुपेते असब्रह्मचारिण्यपि । उपसम्पन्नो वा केनचित् कारणेन आश्रित. समीपपाठी वा । चशब्दाद्राजनि च ॥

प्रेतोपस्पर्शने दशरात्रमाशौचमभिसंधाय चेत् ॥

प्रेतस्य मृतस्य उपस्पर्शने निर्हरण इत्यर्थः । उपशब्दप्रयोगान्न स्पर्शनमात्रे । दशरात्रमाशौचम्, अभिसन्धाय चेद्यदि दृष्टमङ्गीकृत्य स्पृशति, न धर्मार्थमकामतो वा । ससर्गमात्रमाशौचम्, न तु वक्ष्यमाणं 'अधश्शय्यासनिन.' इत्यादि, आशौचाधिकारे पुनराशौचग्रहणात् । अत्रैव विषयविभाग. प्रतिपत्तव्यः—सपिण्डानां मध्ये य कश्चिद्ब्रूहि सस्कर्ता वा भवति तस्य विशेषो नास्ति तत्प्रतिपादकवचनाभावात् । समानोदकानां तु दशरात्र—

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।

शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहातूदकदायिनः ॥

इति मनुवचनात् समानोदकानां ये प्रेतनिर्हरणं कुर्वन्ति सं-
स्कार वा कुर्वन्ति तेषां दशरात्रमाशौच इतरेषां त्रिरात्रमिति
भाष्यकृता व्याख्यातत्वात् । ये च समानोदकेभ्योऽन्ये तेषा-
मपि मनुनोक्त द्रष्टव्यम्—

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।

विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुरातांश्च बान्धवान् ॥

यद्यन्नमस्ति तेषां यः स दशाहेन शुध्यति ।

अनदन्नन्नमहैव न च तस्मिन्गृहे वसेत् ॥

इति । अत्र शवनिर्हरणं संस्कारं वा कृत्वा कटकरणं च
करोति तदन्नं वाऽश्नाति चेद्दशाहः । कटकरणमात्रमेव कृत्वा
तदन्नं नाश्नाति चेत्त्र्यहः । कटकरणं च न करोति तद्गृहे
च वसति चेद्दहोरात्रम् । ग्रामं च न प्रविशति अह्नैवेति एव-
कारात् सज्योतिर्भवति । सपिण्डमसपिण्डं वा दृष्टार्थमङ्गी-
कृत्य वहति तस्येदं सूत्रं विज्ञेयमिति । ब्राह्मणस्य ब्राह्मणस्पर्-
शेन एवैतत्, वैश्यशूद्रयोः पृथगारम्भात् । क्षत्रियस्यापि क्षत्रि-
योपस्पर्शने आत्मीयमेव, आद्यन्ताभिधाने मध्यप्रसिद्धेः ॥

उक्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ २३ ॥

समानजातीयप्रेतोपस्पर्शने आत्मीयमेव नित्यत्वेनोपात्तमा-
शौचं भवतीत्यर्थः ॥

आर्तवीर्वा ॥ २४ ॥

ऋतुसमानसंख्या वा रात्रीर्वैश्यशूद्रयोराशौचम् । षड्वेति वक्तव्ये आर्तवीग्रहणं पञ्चर्तवो भवन्तीति ज्ञापनार्थम् । तत्र शूद्रस्य षट्, वैश्यस्य पञ्चेति द्रष्टव्यम् । तत्र वैश्यस्य वृत्तवतः पञ्च अवृत्तवतः आत्मीयम् । शूद्रविषयेऽपि सच्छूद्रस्य वृत्तवतः षट् इतरस्यार्थमासं, असच्छूद्रस्य वृत्ताभावात् मासमेवेति द्रष्टव्यम् ॥

पूर्वयोश्च ॥ २५ ॥

पूर्वयोर्ब्राह्मणक्षत्रिययोरार्तवीर्वा पूर्वोक्तं वा । विकल्पानु-
कर्षणार्थश्चकारः ॥

त्र्यहं वा ॥ २६ ॥

पूर्वयोरिति वर्तते । तत्र ब्राह्मणस्यावृत्तवतो दशरात्रं, वृत्तवतः पञ्च, आहिताग्नेस्त्र्यहं, एवं क्षत्रियस्यापि कल्प्यमिति ॥

आचार्यतत्पुत्रस्त्रीयाज्यशिष्येषु चैवम् ॥ २७ ॥

आचार्ये तत्पुत्रे तत्पत्न्यां च प्रेतायां याज्ये शिष्ये च मृते । चशब्दादाचार्याचार्ये । एवंशब्देन त्र्यह एवैकोऽतिदि-
श्यते, 'आचार्ये च प्रेते त्रिरात्रम्' इत्यादिवसिष्ठस्मृतिदर्शनात् ॥

पूर्वं समानजातावुक्तम् । असमानजातौ तु—

**अवरश्चेद्वर्णः पूर्वं वर्णमुपस्पृशेत् पूर्वो वाऽवरं
तत्र शवोक्तमाशौचम् ॥ २८ ॥**

अवरो जघन्यः क्षत्रियादि । वर्णग्रहणं प्रतिलोमसंसर्गे
नाशौचमात्रम् । किं तर्हि? प्रायश्चित्तमपि भवतीति । यद्य-

प्यनुलोमा अपि न वर्णशब्दवाच्याः, तथाऽपि 'प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः' इति प्रतिलोमानामेव धर्महीनत्वादनुलोमानां मातृ-
वत्कल्प्यमिति । पूर्वं वर्णं ब्राह्मणादि तमुपस्पृशेत् वहेत्, उ-
पशब्दप्रयोगात् । पूर्वो वा अवर क्षत्रियादिम् । तत्र परस्पर-
वहने यच्छाव उक्तमाशौचं तदेव भवति । तथा क्षत्रियस्य
ब्राह्मणस्पर्शने दशरात्रम् । तथा ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्पर्शने प-
ञ्चदशाह इति । एवं सर्वत्र । आशौचाधिकारे पुनराशौचग्र-
हणं तद्वदाशौचार्थम्, न पुन स्वाध्यायाद्यभावमात्रमिति । शा-
वाशौचमिति वक्तव्ये उक्तग्रहणं भोजनादिव्यवहारेऽपि तदाशौ-
चप्रवेशार्थम् । एवंच 'अनिर्दशाहे पारशवे' इत्यादि यत्
स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तं श्रूयते तदाशौचोत्तरकालं द्रष्टव्यम् । अ-
त्रोक्तमाशौचमिति वक्तव्ये शवग्रहणं शवनिमित्तस्य सर्वस्या-
नुप्रवेशार्थम् । तत दृष्टार्थमङ्गीकृत्य परस्परवहने स्मृत्यन्तरो-
क्तं द्रष्टव्यम् । तथाऽऽह व्याघ्रः—

अवरश्चेद्वरं वर्णं अवरं वा वरो यदि ।

वहेच्छववदाशौचं दृष्टार्थं द्विगुणं भवेत् ॥

इति । तथाऽदृष्टार्थेऽपि—

अनाथ ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजातयः ।

पदेपदे यज्ञफलमानुपूर्व्याल्लभन्ति ते ॥

इत्यादि । शवोक्तमाशौचमिति वक्तव्ये तत्रग्रहणं वृत्तस्वा-
ध्यायापेक्षोक्तमाशौचं मा भूदिति । एवञ्च यथा ब्राह्मणस्य
दशाहो नित्यः एवं क्षत्रियादीनामपि पञ्चदशाहादयो वेदित-
व्याः । वहने यदुक्तमाशौचं तदेव संस्कर्तर्यपि वेदितव्यम् ।

कुतः? औशनसे 'सस्कर्ता चैव वोढा च त्रिरात्रेण विशु-
ध्यति' इति समानोपदेशात् ॥

समानजातावसमानजातावपि शवग्रहणनिमित्ताशौचमुक्तम् ।
बुद्धिपूर्वं तत्स्पर्शनमात्रे इदानीमाह--

पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टितत्स्पृष्ट्यु-
पस्पर्शने सचेलोदकोपस्पर्शनाच्छुध्येत् ॥

पतितो ब्रह्महादिः । चण्डाल उक्तलक्षणः । सूतिका प्रसूता
असमाप्ताशौचकाला । उदक्या रजस्वला । शवग्रहणेन तन्नि-
मित्तं सर्वमुच्यते । यच्छुवं ये च तदाशौचभाजः ये च क-
टकरण कुर्वन्ति ये च वहन्ति ये च संस्कुर्वन्तीत्यादि । उप-
स्पर्शनशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । पतितचण्डालसूतिकोदक्या-
शवोपस्पर्शने स्पृष्ट्युपस्पर्शने तत्स्पृष्ट्युपस्पर्शन इति । स्पृष्टी
पतितादीनां साक्षात् स्पृष्टा, तत्स्पृष्टी पतिताविस्पृष्टिस्पृष्टा ।
उपशब्दो बुद्धिपूर्वार्थः । शवस्य बुद्धिपूर्वस्पर्शनमलंकाराद्यर्थं
केवलेच्छाया वा । समानजातीयशवमसमानजातीयशवं वा
विशेषाभावात् । अबुद्धिपूर्वं तु मानवोक्त द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह--

दिवाकीर्त्यमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।

शवं तत्स्पृष्टिन चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥

इति द्वयोराशौचमास्नातं, गौतमस्तु त्रयाणामपीति । सचेलः
सवस्त्रः उदकोपस्पर्शनात् । एवञ्च स्नानादिति वक्तव्यमिति चेत्
नैष दोषः, पूर्वं दण्डवदालुत्य पुनर्यथावत् स्नायादित्येवमर्थः 'उद-
कोपस्पर्शनात्' इत्युक्तम् । सचेलमुदकमुपस्पृशेदिति वक्तव्ये,

उदकोपस्पर्शनादित्युपादानं नैमित्तिकस्नानेऽपि तर्पणानुप्रवेशार्थम् ।
तथाच भार्गवीयम्—

नित्यं नैमित्तिक काम्यं त्रिविध स्नानमुच्यते ।

तर्पण त्रिविधस्यापि प्रजापतिरुवाच ह ॥

इति—

शुनश्च ॥ ३० ॥

उपस्पर्शने सचेल उदकोपस्पर्शनात् 'शुभ्येत्' इति वर्तते ।
स्पृष्टितत्स्पृष्टिनिवृत्त्यर्थं पृथग्रहणम् । श्वग्रहणं सृगालादीनाम-
प्युपलक्षणार्थम् । चकारादस्थि च, तदपि सस्नेहम् । यथाऽऽह
मनुः—

नारं स्पृष्टाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ।

आचम्यैव तु निःस्नेहं गां स्पृष्ट्वा वीक्ष्य वा रविम् ॥

इति । एतत्तु अबुद्धिपूर्वस्पर्शने । बुद्धिपूर्वं तु वसिष्ठ आह—
'मानुषास्थि स्निग्धं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचमस्निग्धे त्वहोरात्रम्'
इति । चकारादृक्तादि च । केचिच्छवानुगमनमाहुः । तत्र
सचेलस्नानं घृतप्राशनमपि द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह मनुः—

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव वा ।

स्नात्वा सचेलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥

इति । सर्वेषां स्वजातिविषय एवेदम् । क्षत्रियवैश्यानुगमने
तु वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । तथा चाह—'अस्निग्धे त्वहोरात्र श-
वानुगमने चैवम्' इति । तत्र शवानुगमने त्रिरात्रैकरात्रयोराते-
देशः । ततश्च क्षत्रियानुगमने एकरात्रं, वैश्यानुगमने पक्षिणीं
शूद्रानुगमने त्रिरात्रं प्रायश्चित्तं च द्रष्टव्यम् । यथाऽऽहाङ्गिरा—

प्रेतीभूतं तु यश्शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्वल ।
नीयमानमनुगच्छेत्त्रिरात्रमशुचिर्मवेत् ॥
त्रिरात्रे तु तत पूर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राण्य विशुध्यति ॥

इति । क्षत्रियस्य वैश्यानुगमने वैश्यस्य शूद्रानुगमने च ब्राह्मणवत्कलयम् । क्षत्रियस्य शूद्रानुगमने एकरात्रसहितं प्राणायामशतं द्रष्टव्यम् ॥

यदुपहन्यादित्येके ॥ ३१ ॥

एके तु यदेवाङ्गमुपस्पृशति श्वा तस्यैव प्रक्षालनमिच्छन्ति । सोऽयं विकल्पः - उपरिकायस्पर्शने स्नानं, अधः कायस्पर्शने तु प्रक्षालनमिति द्रष्टव्यं । तथा पक्षिस्पर्शोऽपि । तथा जातूकर्णः-

ऊर्ध्वं नाभे करौ मुक्त्वा यदङ्गं स्पृशते खगः ।

स्नानं तत्र विधातव्यं शेषे प्रक्षाल्य शुध्यति ॥

इति । एवञ्च श्वविषयेऽपि करवर्जं द्रष्टव्यम् ॥

उदकदानं सपिण्डैः कृतजटस्य ॥ ३२ ॥

अधिकारात्प्रेतस्य कृतजटस्य कृतचौलस्य सपिण्डैरुदकं देयम् । न सर्वैरशुचिभिः । उदकक्रियाचोदनेनाशौचमपि द्रष्टव्यम्, 'उदकक्रियाऽऽशौचं च' इति वसिष्ठेन सहनिर्देशात् । यस्योदकक्रिया तस्याशौचमपि भवतीति तत्र सहनिर्देशस्य प्रयोजनम् । तद्वत्समृत्यन्तगात् त्रिरात्रं द्रष्टव्यम् । तथाऽऽह मनु-—

निवृत्तचौलकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥

इति । क्षत्रियादीनामप्येतत्तुल्यमेव, विशेषाभावात् । एवञ्च वयोऽवस्थापेक्षया ये त्र्यहादयः आशौचविकल्पाः श्रूयन्ते तेऽपि

सर्वेषां तुल्यरूपेण द्रष्टव्याः, विशेषाभावादेव । एवञ्च ये वृ-
त्ताद्यपेक्षया पञ्चदशाहादयः परिकल्पिताः ते कृतोपनयने प्रमीते
वेदितव्याः । तथा देशान्तराशौचं च । तथाच व्याघ्र —

तुल्यं वयसि सर्वेषामतिक्रान्ते तथैव च ।

उपनीते तु विषमं तस्मिन्नेवातिकालजम् ॥

इति । उकादसमाप्ताशौचकालात् प्राग्यत् श्रूयते 'यच्छेषं द-
शरात्रस्य' इत्यादि, तदुपनीतात्प्रागपि द्रष्टव्यम् । कृतजटस्य
संस्कारोऽपि द्रष्टव्यः स्मृत्यन्तरात् । यथाऽऽह लोकाक्षिः—

तूष्णीमेवोदकं दद्यान्तूष्णीमेवाग्निमेव च ।

सर्वेषां कृतचूडानामन्यत्रापीच्छया द्वयम् ॥

इति । एवञ्च कृतजटस्य नियमतोऽग्निसंस्कारः उदकदानं च,
अकृतचौलस्यानियमः इति द्रष्टव्यम् । तथाच मनुः—

नात्रिघर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ।

जातदन्तस्य वा कुर्युर्नास्ति वाऽपि कृते सति ॥ इति ॥

तत्स्त्रीणां च ॥ ३३ ॥

तदुदकदानमग्निसंस्कारसहितं, तद्ग्रहणात् । स्त्रीणां च कर्त-
व्यम् । कृतजटानुर्कर्षणार्थश्चकारः । आशौचलाघवार्थं पृथग्ग्र-
हणम् । तस्मृत्यन्तरादवगन्तव्यम् । तत्र—

अप्रौढायां तु कन्यायां सद्यश्शौचं विधीयते ।

इति प्राक्कौलकरणात् सद्यः शौचम् । प्रौढाशब्देन चूडाकरण-
मुच्यते ।

अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम् ।

इति चूडाकरणादूर्ध्वं प्रदानकालात् प्राक् एकाहः ।

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः ।

इत्यनेन प्रदानकालादूर्ध्वमप्रत्ताया, त्रिरात्रमिति ।

यथोक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति तु सनामयः ।

इत्यत्र दण्डापूपिकया स्त्रीविषये पित्रोर्दशाह एव द्रष्टव्यः । स-
पिण्डविषयेऽपि त्रिपूरुष द्रष्टव्यम्, 'अप्रत्तानां तु स्त्रीणां त्रिपू-
रुषम्' इति वसिष्ठवचनात् ॥

एके प्रत्तानाम् ॥ ३४ ॥

उदकवाग्भ्यां प्रत्तानामपि वरपक्षैरेव कर्तव्यमित्येके मन्य-
न्ते । गौतमस्तु—

अङ्घ्रिर्वाचा च दत्तायाः म्रियेतादौ वरो यदि ।

अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ॥

इति कन्यावदित्यतिदेशात्पित्रादिभिरेव देयमिति । तत्र पितृपक्षा-
भावे वरपक्षैः कर्तव्यमात्रं द्रष्टव्यम् ॥

इदानीमाशौचे कथं वर्तयेरित्यत आह—

अधश्शय्यासनिनो ब्रह्मचारिणस्सर्वे ॥ ३५ ॥

अधः भूमावेव शयीरन्, आसीरंश्च, मैथुनं च वर्जयेयुः,
यावदाशौचम् । सर्वग्रहणं समानोदकानामप्येवमिति ज्ञापना-
र्थम् ॥

न मार्जयीरन् ॥ ३६ ॥

उज्ज्वलवेषधारिणश्च न स्युरित्यर्थः । मात्रमलापकर्षणं वा
वर्जयेयुः ॥

मांसं न भक्षयेयुराप्रदानात् ॥३७॥

आ श्राद्धकरणादामिष प्राणाययादावपि न भक्षयेयुः ॥

प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमनवमेषूदकक्रिया ॥ ३८

प्रथमादिष्वहस्सु सपिण्डैः कर्तव्यम्, पुत्रैस्तु प्रतिदिन-
मिति द्रष्टव्यम् । क्रियाग्रहणं गृह्योक्तोदकदानविध्युपसङ्गुह-
णार्थम् । 'पुत्रा, प्रेताय' सकृदुदकं प्रोहन्ति' इत्यादि ॥

वाससां च त्यागः ॥ ३९ ॥

उदकदानकालधारितानां च वस्त्राणां त्यागः । अन्यानि
धारणीयानीत्यर्थः । चशब्दात्केशादीनि च । तथाच स्मृत्य-
न्तरम्—

द्वितीयेऽहनि कर्तव्यं क्षुरकर्म प्रयत्नतः ।

तृतीये पञ्चमे वाऽपि सप्तमे वाऽऽप्रदानतः ॥

अन्ते त्वन्त्यानाम् ॥ ४० ॥

अन्ते नवमे अन्त्यानां शूद्राणां वाससां त्याग इत्यनुवर्त-
ते । तुशब्दो विशेषार्थः । उदकदानं प्रथमादिषु कर्तव्यम् । वा-
ससां त्यागः अन्त एवेति अन्त्यानामिति बहुवचनमनुलोमानां
सव्यवहार्याणामप्येवमेवेति ॥

दन्तजन्मादि मातापितृभ्याम् ॥ ४१ ॥

दन्तजन्मप्रभृति नियमतो मातापितृभ्यामुदकदानं कर्त-
व्यम् । एवञ्च तयोरपि प्रागनियम इति द्रष्टव्यम् ॥

बालदेशान्तरितप्रव्रजितासपिण्डानां सद्यश्शौचम् ॥ ४२ ॥

बालः नामकरणात्प्राक् । ततश्च नामकरणादूर्ध्वं प्राग्दन्त-जननात् स्मृत्यन्तरोक्तमेकाहं द्रष्टव्यम्—

नृणामकृतचौलानामशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।

इति । दन्तजननादूर्ध्वं प्राक्चूडाकरणाद्यहम्—

अरण्ये काष्ठवत्यक्त्वा क्षपेयुः त्र्यहमेव तु ।

इति । देशान्तरे यो मृतः तस्मिन्नेव काले न श्रूयते स देशान्तरितः । प्रव्रजितः नैष्ठिको वानप्रस्थः परिव्राजकश्च । तस्मिन्मृते असपिण्डानां सद्यश्शौचमिति । असपिण्डः समानोदकः, तस्य चोक्तो विषयः ॥

राज्ञां च कार्यनिरोधात् ॥ ४३ ॥

सद्यश्शौचमिति वर्तते । राज्ञामिति बहुवचनं राजसह-शानाममात्यानामपि ग्रहणार्थम् । चकाराद्यस्य चेच्छति । तथाच मनुः—‘यस्य चेच्छति पार्थिवः’ इति । कार्यं रक्षणादि तस्य विरोधः असम्भवः ॥

ब्राह्मणस्य च स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थं स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थम् ॥ ४४ ॥

हेतुवचनं वृत्तस्वाध्यायापेक्षया आशौचं भवतीति ज्ञापनार्थम् । चकारात् क्षत्रियादेरपि स्वाध्यायनिमित्तप्रवेशार्थं प्रतिपादिताः विषयाः । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः

अथ श्राद्धममावास्यायां पितृभ्यो दद्यात्॥१॥

श्राद्धं पञ्चविधं, यथाऽऽह व्याघ्रः—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं तथाऽपरम् ।

‘पार्वणं’ चेति विज्ञेयं श्राद्धं पञ्चविधं स्मृतम् ॥

इति । तत्राहरहर्यत्क्रियते तन्नित्यम्, यथाऽऽह मनुः—

दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।

पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥

इति । तथा तत्रैवोक्तम्—

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थं पाञ्चयज्ञिके ।

न चैवात्राशयेत्कंचिद्वैश्वदेव प्रति द्विजम् ॥

इति । तथाच स्मृत्यन्तरमपि—

ब्रह्मचर्यमनभ्यायं मुक्त्वा श्राद्धं तु नैत्यकम् ॥

इति । यदुक्तं नैमित्तिकमेकोद्दिष्टं एकमेवोद्दिश्यक्रियमाणत्वादे-
कोद्दिष्टम्, यथाऽऽह कात्यायनः—

“अथैकोद्दिष्टमेको द्विजः एकं पात्रमेकं पवित्रमेकोप्य-
र्घ्यं, एक. पिण्डो नावाहनं नाग्नौकरणम् ॥”

इति, तदाशौचानन्तरमारभ्य सपिण्डीकरणात्प्राकृतव्य, यथाऽऽह
लौकाक्षिः—

एकोद्दिष्टं तु कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम् ।

प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽह्नि ॥

इति । तथा व्याघ्रोपि—

एकादशेऽह्नि कर्तव्यं त्रिपक्षे च तथैव च ।

षण्मासे च तथा कुर्यादेकोद्दिष्टं प्रयत्नतः ॥

इति । तत संवत्सरे परिपूर्णं सपिण्डीकरणं कर्तव्यम् । तथा च जातूकर्णिः—

ततस्संवत्सरे पूर्णे त्रिपक्षे वा तथैव च ।

सपिण्डीकरणं कुर्यादर्वाग्वृद्धिकरं भवेत् ॥

इति । त्रिपक्ष इत्याहिताग्निविषयम् । कुतः? बृहस्पतिवचनात् । तथाऽऽह --

अनन्तरममावास्या दशरात्रस्य चेद्भवेत् ।

सपिण्डीकरणं तत्र कुर्यादेवाग्निमान् सुतः ॥

तदलाभे त्रिपक्षे तु सपिण्डीकरणं स्मृतम् ॥

इति । ‘त्रिपक्षे सपिण्डीकरणम्’ इति जाबालौ श्रूयते श्रुतिरिति । सपिण्डीकरणादूर्ध्वं संक्रान्त्यादा पिण्डत्रयनिर्वापेण श्राद्धं कर्तव्यम् । प्रतिसंवत्सरं विपक्षे अहन्येकोद्दिष्टं कर्तव्यम् । यथाऽऽहोशना—

सङ्क्रान्त्यामुपरागे च पर्वायनमहालये ।

त्रीन्पिण्डान्निर्वपेत्तत्र विपक्षेऽह्नयेकमेव तु ॥

इति । प्रतिसंवत्सरमग्रहायण्या ऊर्ध्वमष्टका कर्तव्या । तथाऽऽह गृह्यकार —“ ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्त्रयोपरक्षास्तेषामेकैकस्मिन्नेकैकाऽष्टका भवति शाकाष्टका मांसाष्टकाऽपूपाष्टका ” इत्यादि । तत्र काम्यं कामनया यत्क्रियते, यथा—‘एकादश्यां पुत्रकामः’ इत्यादि । वृद्धिश्राद्धं नान्दीमुखम् । पार्वणं नाम मासिश्राद्धम् । अथवा पिण्डत्रयनिर्वापेण यद्यत्क्रियते अष्टकादि शेषं सर्वं तन्नैमित्तिकमिति । अस्मिन्पञ्चविधे स्थिते—अथ श्राद्धममावास्यायां पितृभ्यो दद्यात् । अथानन्तरं सपिण्डीकरणात् । कुतः? अमावास्यायां पितृभ्यः श्राद्धं दद्यादित्यारम्भात् इदं मासिश्रा-

द्धमिति ज्ञातुं शक्यत्वात् । स्मृत्यन्तरे सपिण्डीकरणादर्वाक् मासिश्राद्धप्रतिषेधात् । यथाऽऽह बृहस्पतिः—

सपिण्डीकरणादर्वाक् पार्वण यः करोति तु ।

क्रिमिर्भूत्वा श्वविष्टायां पितृभिस्सह मज्जति ॥

इति । एवं तर्हि सपिण्डीकरणादर्वाग्यानि श्राद्धानि तान्येव वक्तव्यानीति चेत् केषांचित्तदभावसूचनार्थमनन्तर पार्वणमेव कर्तव्यमिति । तथाच बृहस्पतिः—

यतीनां तु मृतानां च क्रिया काचिन्न दृश्यते ।

अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वण तु विधीयते ॥

नैष्ठिकानां वनस्थानां मुक्तानां च तथैव च ।

सपिण्डीकरणं नोक्तं एकोद्दिष्टं तथैव च ॥

इति । श्राद्धमिति कर्मनामधेयम् । अतिशयवच्छ्रद्धासाध्यत्वात् । श्रद्धाधान एव हि प्रतिपद्यते, यथा 'पुत्रैर्दत्तेनाग्नेन यत्रतत्रस्था पितरस्तदुपभोगेन सुखमासते' इत्यर्थवाददर्शनात् । अमावास्यायाम्, सूर्याचन्द्रमसोः परस्मिन् सन्निकर्षे पितृभ्यः पितृनुद्दिश्य, बहुवचनात् पितामहप्रपितामहयोरपि देयम् ॥

पञ्चमीप्रभृति वाऽपरपक्षस्य यथाश्राद्धम् ॥२॥

कृष्णपक्षस्य वा पञ्चम्या आरभ्य दद्यात् । यथाश्राद्धं यथाश्रद्धाऽस्ति तथा कर्तव्यमित्यर्थः । अष्टकाश्राद्धं पञ्चमीप्रभृति दद्यादित्यभिप्रायः । अपरपक्षग्रहणममावास्याधिकारात्पूर्वपक्षे मा भूदिति ॥

सर्वस्मिन्वा ॥ ३ ॥

सर्वस्मिन्वाऽपरपक्षे प्रतिपत्प्रभृति वा कुर्यादित्यर्थः । प्रभू-
तद्रव्यस्याय द्रष्टव्यः ॥

द्रव्यदेशब्राह्मणसन्निधाने वा ॥ ४ ॥

द्रव्यस्य रजतादेः । तथाच व्याघ्रः—

रजत कालशाक च खड्गमत्स्यामिप मधु ।

आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वश ॥

इति । देशस्य पुष्करादे । यथाऽऽह व्याघ्रः—

पुष्करेष्वक्षय श्राद्ध कुरुक्षेत्रे तथैव च ।

नद्यां महोदधौ चैव हृदे गोष्ठे गिरौ तथा ॥

इति । ब्राह्मणानां यतीनां पङ्क्तिपावनानाम् । यथाच व्यासः—

स्वधा च राजतं पात्र दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।

वस्त्र च पावनीयानि त्रिदण्डी यतिरेव च ॥

इति । सन्निधाने उपपत्तौ । पूर्वपक्षे वा कुर्यादित्यभिप्रायः ॥

कालनियमशक्तिः ॥ ५ ॥

यदा अस्य द्रव्यादेरसम्भवोऽत्यन्तं तदा ऊर्ध्वमाग्रहाय-
ण्या इत्युक्तः कालनियमो नास्ति । यस्मिन्मासे अत्यन्तसम्भ-
वस्तस्मिन्नेव कर्तव्यमित्यभिप्रायः । द्रव्याद्यसम्भवे यथा पक्ष-
विशेषो नास्ति तथा मासविशेषोपि नास्तीत्यभिप्रायः । एवचा-
नेनैव न्यायेन तिथिनियमस्याप्यभावः प्रतिपादितः ॥

सर्वदा च श्राद्धे—

प्रकर्षेद्रुणसंस्कारविधीनन्नस्य ॥ ६ ॥

प्रकर्षेदतिशयेन कुर्यात्, अन्नस्य भक्ष्यभोज्यादेः, गुणान्

जातिविशेषान् शाकापूपादीन् संस्कारान् सुसिद्धत्वसुरभित्वा-
दीन्, विधीन् दर्भतिलापसव्यत्वादीन् ॥

नवावरान्भोजयेत् ॥ ७ ॥

सति सामर्थ्ये एवम् ॥

असति तु—

अयुजो वा यथोत्साहं वा ॥ ८ ॥

अयुग्मान् यथोत्साहं यथासामर्थ्यं, अर्वाङ्गवभ्यः, पूर्वत्रा-
वरग्रहणान्, ऊर्ध्वं नवभ्यः प्राप्त्यभावात् । ननु च अयुजो
वेत्येव वक्तव्यम्, ततश्चोर्ध्वं नवभ्योप्रापितत्वात् ऊनप्रापणार्थं
एवारम्भः स्यात्, ततश्चासामर्थ्यकृत एव विकल्पो भविष्य-
तीति यथोत्साहमित्यतिरिक्तम् । उच्यते—उत्साहेऽपि सति
सत्क्रियाद्यविरोधेन भोजयितव्यमिति । यथाऽऽह वसिष्ठः—

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ॥

भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्येत विस्तरे ॥

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदम् ।

पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥

इति । देवाः विश्वेदेवाः तदङ्गभूताः । यथाऽऽह व्यासः—

दक्षस्य दुहिता साध्वी विश्वा नाम प्रकीर्तिता ।

तस्याः पुत्रा महात्मानो विश्वे देवा महाबलाः ॥

ऋतुर्दक्षो वसुस्सत्यः कालः काम्यः शुची रुचिः ।

पुरुषाद्रवौ चेति विज्ञेयास्ते दशामराः ॥

इष्टिभ्राद्धे ऋतुदक्षावष्टक्यां कालकाम्यकौ ।

नान्दीमुखे वसुसत्यौ काम्ये चापि शुची रुचिः ॥

पुरूरवाद्रवौ चैव पार्वणे तु प्रकीर्तितौ ।

आह्वयेन्नामतस्तेषां तत्र तत्र नियोगतः ॥

इति । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

देवाद्यन्त भवेच्छाद्ध पित्राद्यन्त न तद्ववेत् ।

पित्राद्यन्तं यदि भवेत्तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥

इति । तथा भार्गवीयमपि—

एक एव यदा विप्रो द्वितीयो नोपपद्यते ।

पितृणां ब्राह्मणे योज्यं दैवं हस्ते नियोजयेत् ॥

इति । तथाच बृहस्पतिः—

द्वौ दैवेऽथर्वणौ विप्रौ प्राङ्मुखौ विनिवेशयेत् ।

त्रीस्तथोदङ्मुखान्पित्र्ये ऋग्यजुस्सामगान् द्विजान् ॥

इति ॥

कीदृशान् ब्राह्मणान् भोजयेदित्याह—

श्रोत्रियान्वाग्रूपवयःशीलसम्पन्नान् ॥ ९ ॥

श्रोत्रियान् छन्दोऽध्यायिनः, वाक्सम्पन्नान् संस्कृतभाषिण, रूपसंपन्नान् मनोज्ञवपुषः, वयस्सम्पन्नान् परिणतवयसः, शीलसम्पन्नान् प्रशान्तमनसः, एवंगुणान्ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥

वयस्सम्पन्नत्वस्यापवाद माह—

युवभ्यो दानं प्रथमम् ॥ १० ॥

यत्प्रथममेकोद्दिष्ट तत्तत्तुल्यभ्यो देयम् ॥

एके पितृवत् ॥ ११ ॥

यद्वयसः पित्रादयः प्रमीताः तद्वयोभ्य एव दद्यादित्येके

मन्यन्ते । सपिण्डीकरणे यदेकोद्दिष्टं तद्विषयमिदं वेदितव्यम् ।
सपिण्डीकरणे एकोद्दिष्टमुक्तमेव स्मृत्यन्तरे यथाऽऽह यमः—

सपिण्डीकरणे प्राप्ते कुर्याच्छ्राद्धद्वयं तथा ।

सपिण्डीकरणे विप्रान् भोजयेत्पार्वणे यथा ॥

पृथक् कल्पयेदन्नमेकोद्दिष्टविधानतः ॥

इति । अथवा पितृवदिति पितरमुद्दिश्य तरुणं पितामहमुद्दिश्य
वृद्धं प्रपितामहमुद्दिश्य वृद्धतरं भोजयेदिति ॥

न च तेन मित्रकर्म कुर्यात् ॥ १२ ॥

तेन श्राद्धेन न मित्रकार्यं कुर्यादन्योन्यम् । चकारात् अ-
मित्रसंवरणमपि ॥

पुत्राभावे सपिण्डा मातृसपिण्डादिशिष्याश्च
दद्युः ॥ १३ ॥

अयं तावत्प्रथमः कल्पः, यत्पुत्राः श्राद्धं कुर्वन्तीति । तद-
भावे तु सपिण्डा उक्ता । तदभावे मातृसपिण्डाः मातुलादयः ।
तदभावे शिष्या सम्बन्धिशब्दत्वात् आचार्याय, चशब्दाद्याज्यश्च
ऋत्विज इति । एकोद्दिष्टविषयं चैतत्, मातृसपिण्डशिष्ययाज्यानां
दातृत्वेनोपदेशात् । न ह्येकस्य मातृसपिण्ड तत्पितुरपि मातृ-
सपिण्डो भवति । एवं शिष्ययाज्यावपीति । एवञ्च सपिण्डी-
करणादावन्यः क्रमो द्रष्टव्यः । यथाऽऽहोशना—‘पुत्राभावे स-
पिण्डाः समानोदकाः सगोत्राः समानार्षेयाश्च’ इत्यादि । एके-
नैवेकोद्दिष्टं कार्यं नाशौचवत्सर्वैरिति विसमासः ॥

तदभावे ऋत्विगाचार्यौ ॥ १४ ॥

ऋत्विग्याज्याय आचार्यदिशिष्याय तदभावे पूर्वस्याभावे ।
पृथक्करणं श्राद्धं कुर्वता ऋत्विगाचार्याणां प्रायश्चित्ताभावज्ञाप-
नार्थम् । एवञ्च पूर्वेषामवश्यं प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिति द्रष्टव्यम् ।
ऋत्विगाचार्याणां श्राद्धं कुर्वतामभ्युदयश्च भवति चोदनासाम-
र्थ्यात् । तदभावग्रहणं पूर्वत्र 'मातृसपिण्डादिशिष्याश्च' इत्यत्रा-
प्यधिकारज्ञापनार्थम् । योग्यानामेव श्राद्धं द्रष्टव्यम् । कुतः ?
स्मृत्यन्तरसामर्थ्यात् । यथाऽऽह प्रजापति —

गोब्राह्मणहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।
आत्मनस्त्यागिनां चैव * पतितानां तथैव च ॥
सर्पैर्हतानां विप्राणां चरन्तीनां च कामतः ।
पाषण्डमाश्रितानां च प्रेतकर्म न विद्यते ॥
स्नेहात् कार्यभयादेभ्यो यदि कुर्यान्नराधमः ।
चण्डालेन हतस्यापि तस्य वक्ष्यामि निष्कृतिम् ॥
एषामन्यतमं प्रेतं यो बहेन दहेत वा ।
चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं मत्या चेत्तप्तकृच्छ्रकम् ॥
तच्छ्रव केवलं स्पृष्ट्वा पातयित्वाऽश्रु वा तथा ।
एकरात्र तु नाश्नीयात् त्रिरात्रं बुद्धिपूर्वके ॥
श्राद्धं कृत्वा चरेत्कृच्छ्रं मत्या सान्तपनं चरेत् ।
तथा श्राद्धभुजां चैव द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ॥ इति ॥

न भोजयेत् स्तेनक्लीबपतितनास्तिकतदृत्तिवी-
रहाग्नेदिधिषूदिधिषूपतिस्त्रीग्रामयाजकाजपालोत्सृ-
ष्टाग्निमद्यपकुचरकूटसाक्षिप्रातिहारिकान् ॥१५॥

श्रोत्रियादिगुणयोगेनैषां प्राप्तौ सत्यां प्रतिषिध्यते ।
स्तेनो हिरण्यस्तेनादन्यः, तस्य पतितत्वादेव प्रतिषेधात् । क्लीबः
भग्नोत्साहः, तथाच भगवान्वासुदेवः - 'मा क्लैब्य गच्छ कौन्ते-
य' इत्यादि, न तृतीयाप्रकृतिः, तस्य श्रोत्रियत्वाभावेन प्राप्त्य-
भावात् । पतितो ब्रह्महादिः । नास्तिकः परलोकाभावाद्यवास्थ-
तप्रज्ञः, सोपि मनोदुष्टः, क्रियादुष्टस्य तु निन्दितकर्माभ्यासा-
त्पतितत्वोपदेशात् । तद्वृत्तिः तेनैव च नास्तिक्येन य उपजी-
वति लोकायतशास्त्रद्वारेण । वीरहा पुरुषमात्रघातकः, 'अवीरा
याश्च योषितः' इत्यादौ पुरुषे वीरशब्दप्रयोगात् । वृथा सोमा-
भिषवकृद्वा 'वीरहा वा एष देवानां यस्सोममभिषुणोति'
इति श्रुतिदर्शनात् । अग्नेदिधिषूदिधिषूपति, पतिशब्दः प्रत्येक-
मभिसम्बध्यते । ज्येष्ठायाः पूर्वं प्रप्ता अग्नेदिधिषूः, पुनस्सा
ज्येष्ठा दिधिषूः । तथाच मनुः -

ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्या या तूह्यतेऽनुजा ।

सा चाग्नेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता ॥

इति । तयोर्मर्ता । अथवा पतिशब्दयुक्तः स एव, यथाऽऽह प्रजा
पति -

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ।

धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥

स चैव जीवतो भ्रातुः स चाग्नेदिधिषूः स्मृतः ॥

इति । व्याघ्रोक्तौ वा -

परपूर्वापतिं धीरा वदन्ति दिधिषूपतिम् ।

इष्टोऽग्नेदिधिषूर्विप्रः सैव यस्य कुटुम्बिनी ॥

स्त्रीग्रामयाजकः, याजकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । स्त्रीणां
कामदेवादि प्रति यो याजयति स स्त्रीयाजकः । ग्रामयाजको बहु-

याजकः । अजपालः अजारक्ष्णोपजीवकः । उत्सृष्टाग्निः शास्त्रेण विना श्रौतस्य स्मार्तस्य वा अग्नेः त्यागं यः करोति स उत्सृष्टाग्निः । मद्यपः नालकेरादेर्मद्यस्य रक्षणद्वारेणोपजीवकः, सुराव्यतिरिक्तमद्यभोक्ता वा । कुचरः कुत्सिताचारः कुत्सिताचारत्वमपि पुत्राचार्यत्वदेवताद्यर्चनयाचनशीलत्वादि । कूटसाक्षी प्रसिद्धः । प्रातिहारिकः इन्द्रजालोपजीवकः । एतान्नं भोजयेत् । पतितानां स्पर्शप्रतिषेधादेव भोजनप्रतिषेधे सिद्धं कृतप्रायश्चित्तानां भोजनप्रतिषेधार्थं आरम्भः ॥

उपपतिर्यस्य च सः ॥ १६ ॥

उपपतिः जारः । यस्य च स इति व्यभिचारिणी यस्य भार्येत्यर्थः । एतौ न भोजयेत् ॥

कुण्डाशिसोमविक्रय्यगारदाहिगरदावकीर्णिगणप्रेष्यागम्यागामिहिंस्रवरिवित्तिपरिवेत्तृपर्याहितपर्याधातृत्यक्तात्मदुर्वालकुनखिद्रयावदच्छिन्नात्रिपौनर्भवकितवाजपराजप्रेष्यप्रातिरूपिकशूद्रापतिनिराकृतिकिलासिकुसीदिवणिकिशल्पोपजीविज्यावादित्रतालनृत्तगीतशीलान् ॥ १७ ॥

कुण्डग्रहणं गोलकस्याप्युपलक्षणं, तस्यान्नं योऽश्नाति स कुण्डाशी । कुण्डाशिप्रतिषेधाच्चार्थतः कुण्डगोलकयोरपि प्रतिषेधः सिद्धः । तयोः स्वरूपं स्मृत्यन्तरे ज्ञातव्यम् । यथाऽऽह मनुः—

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।

पत्यौ जीवति कुण्डस्तु मृते भर्तारि गोलकः ॥

इति । सोमविक्रयी सोमलताविक्रेता तत्साध्यकर्मविक्रेता वा ।
अगारदाही वेश्मोद्दीपकः । विषद्रव्यस्य दाता गरदः । अव-
कीर्णी बुद्धिपूर्वं खण्डितब्रह्मचर्यो ब्रह्मचारी । यथाऽऽह मनुः—
कामतो रेतसस्सेक व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ।

अतिक्रमं व्रतस्याहु धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥

गणप्रेष्य गणानां प्रेषणकृत् । अगम्यागामी कन्यादूषकः । स-
मानप्रवरस्त्रीगामीत्येके । ‘सखिसयोनिसगोत्राशिष्यभार्यास्नुषायां
गवि च तल्पसम’ इति साम्योपदेशात् पतितग्रहणेन गृह्यत
इति । हिस्त्र. प्राणिनां वधरुचिः । परिवित्ति, ज्येष्ठे अकृत-
विवाहे कनीयान्यो विवाह करोति स परिवित्ता, ततः स ज्ये-
ष्ठ परिवित्ति । पर्याहित, यस्मिन्नकृताधाने कनीयानाधानं
करोति स पर्याहित, कनिष्ठ पर्याधाता । ननु च परिवि-
त्तिपरिवेत्तृशब्दौ क्रमेण पर्याहितपर्याधात्रोरपि वर्तन्ते, स्मृत्य-
न्तरे तथा दृष्टत्वात् । यथाऽऽह मनुः—

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।

परिवेत्ता स विज्ञेय परिवित्तिस्तु पूर्वज ॥

इति । ततश्च पर्याहितपर्याधात्रोः पृथगारम्भोऽनर्थक इति । त-
त्रोच्यते—यश्च याजन करोति यश्च कन्यां ददाति तयोरपि
ग्रहणार्थमुभयोरुपादानम् । यथाऽऽह—

परिवित्ति परिवेत्ता यया च परिविद्यते ।

सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥

इति । अस्यापवादो द्रष्टव्यः । यथाऽऽहोशना—

पितृव्यपुत्रा सापत्न्या परदारसुतास्तथा ।

दाराग्निहोत्रसंयोगे न दोषः परिवेदने ॥

इति । तथाऽऽह वसिष्ठोपि—

उन्मत्त किल्बिषी कुष्ठी पतितः क्लीब एव च ।
राजयक्ष्मामयावी च न न्याय्यास्स्युः प्रतीक्षितुम् ॥

इति । शातातपोपि--

क्लीबे देशविनष्टे च पतिते प्रव्रजिते तथा ।
योगशास्त्रनियुक्ते च न दोष परिवेदने ॥

इति । तथाच कण्वः—

व्यसनासक्तचित्तो यो नास्तिको वा भवेद्यदि ।
कनीयसो वृत्तवतो न दोष परिवेदने ॥

इत्यादि । त्यक्तात्मा साहसिकः, शस्त्रपाणिरित्येके । दुर्बालः शि-
पिविष्टः, हीनप्रजनन इत्येके, खलनिरित्येके । कुनखी अकारणेन
विनष्टनखः । श्यावदन् कृष्णदशनः रोगेण विना । पौनर्भव
स्वैरिणीपुत्रः । कितवो द्युतकृत् । मृन्मयहस्त्यश्वादिव्यवहारस्या-
प्युपलक्षणम् । अजप उपनीतमात्रोऽश्रोत्रियः । राजप्रेष्यो राज्ञः
प्रेषणकृत् दूतादि । प्रातिरूपिक कृत्तुल्यमानादिव्यावहारिकः,
येनकेनचित् प्रकारेण बञ्चको वा । शूद्रापतिः सैव भार्या
यस्य । निराकृतिः न कचिदाश्रमे व्यवस्थितः । किलासी कुष्ठी
भूमिहर्ता वा । कुसीदी वार्धुषिकः प्रतिपिद्धेन मार्गेण । व-
णिक् सति सम्भवे वैश्यवृत्त्युपजीवी । शिल्पोपजीवी तक्षाचक्र-
कर्माद्युपजीवी तेषां सकाशे तद्विद्याशिक्षकश्च, उपशब्दप्रयोगात् ।
ज्याशीलो धनुर्वेदोपजीवी । वादित्रशीलो वंशवीणाद्युपजीवी ।
तालशीलो भेर्यादिताडनोपजीवी । नृत्तशीलो नृत्तोपजीवी ।
गीतशीलो गीतोपजीवी । एतान्न भोजयेत् । एतस्मादेव प्रति-
पेक्षात् एतेषामकार्यकारित्वमपि सिद्धम् । अतः स्तयादि न
कर्तव्यम् ॥

पित्राऽकामेन विभक्तान् ॥१८॥

ये च पित्रा अनिच्छता विभक्ताः चशब्दान्मात्रा च तांश्च न भोजयेत् ॥

शिष्यांश्चैके सगोत्रांश्च ॥१९॥

चशब्दाद्याज्यांश्च । द्वितीयाच्चकारात् समानार्थ्यांश्च । एकेग्रहणात् भोजनीया एवेति गौतम । तत्र यदि गुणवन्तः तदा भोजयेत् । यदि गुणहीनास्तदा न भोजनीया इति द्रष्टव्यम् । तथाच वसिष्ठ. — 'शिष्यानपि गुणवतो भोजयेत्' इति । तत्रापिशब्दात् समानगोत्राणामपि ग्रहणमिति ॥

भोजयेदूर्ध्वं त्रिभ्यः ॥ २० ॥

'अयुजो वा यथोत्साह' इत्यनेनाविशेषात् प्राप्ते विशेषार्थमिदं, असत्यप्युत्साहे त्रिभ्य ऊर्ध्वमयुग्मान्भोजयेदिति ॥

गुणवन्तम् ॥ २१ ॥

एकमपि भोजयेदिति, एकवचनप्रयोगात् । तथाऽऽह वसिष्ठ. —

अपि वा भोजयेदेकं ब्राह्मणं वेदपारगम् ।

श्रुतवृत्तशीलसंपन्नं अवलक्षणवर्जितम् ॥

इति । वाशब्दानुपादानं द्वयोरप्यनुज्ञानार्थम् । तथाऽऽह मनु —

एकैकमपि विद्वांस दैवे पित्रे च न भोजयेत् ।

पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहून्पि ॥

इति ॥

सद्यः श्राद्धी शूद्रातल्पगः तत्पुरीषे मासं न-
यति पितृन् ॥ २२ ॥

अनेन भोक्तुर्दातुश्च ब्रह्मचर्यमुच्यते । तथाच मनुः—

निमन्त्रितो द्विजः पितृचै नियतात्मा भवेत्सदा ।

न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ॥

इति । सद्य इति क्रियाविशेषणं सद्य एव नयतीति । शूद्राग्र-
हणं कालपरिमाणार्थं, इतरास्वलपतर कालमिति । तल्पग्रहणं
भार्यार्थम् । ततश्चान्यस्यां विशिष्टतरो दोषः । तस्या पुरीषे मा-
सं पितृनधिवास्य यावदेनस्तावता दोषेण सम्बध्यत इत्यर्थः ॥

तस्मात्तदहर्ब्रह्मचारी स्यात् ॥ २३ ॥

यस्मादयं दोषस्तस्मात् तस्मिन्नहनि मैथुनयर्जकः स्याद-
तावपि, हेतुवचनात् ॥

श्वचण्डालपतितावेक्षणे दुष्टम् ॥ २४ ॥

श्वादिभिर्वीक्षितमन्नं श्राद्धं वा दोषवद्भवति । अन्नपक्षे अ-
भोज्यं, श्राद्धपक्षे त्वकृतं भवतीत्यर्थः ॥

तस्मात्परिश्रिते दद्यात् ॥ २५ ॥

यस्मादेवं तस्मात् प्रच्छन्नप्रदेशे दद्यात् । हेतुवचनं श्रा-
द्धादन्यत्रापि परिश्रित एव भोक्तव्यमिति ॥

तिलैर्वा विकिरेत् ॥ २६ ॥

अपरिवृतदोषशमन भवति । स्मृत्यन्तरसामर्थ्यात् पितृ-
णां च तृप्तिर्भवति । यथाऽऽह भृगुः—

पानीयमपि यद्वत्तं तिलैर्मिश्रं द्विजस्य तु ।

पितृभ्यः कामधुक् तत् स्यात् पितृग्राह्यमिदं तत् ॥

पङ्क्तिपावनो वा शमयेत् ॥ २७ ॥

पङ्क्तिपावनो वक्ष्यमाणः अपरिवृतदोष शमयेत् ॥

पङ्क्तिपावनाः षडङ्गवित् ज्येष्ठसामगन्त्रिणाचि-
केतस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णः पञ्चाग्निः स्नातको मन्त्र-
ब्राह्मणविद्वर्मज्ञो ब्रह्मदेयानुसन्तान इति ॥ २८ ॥

एते च सति श्रोत्रियत्वे अविकगुणयोगात् पङ्क्तिं शोधयन्ति
निर्दोषां कुर्वन्तीति पङ्क्तिपावनाः । षडङ्गवित् षण्णामङ्गानामन्यतम-
स्यार्थाभिज्ञः । तथा पुराणे—

चतुर्दशानां विद्यानामेकस्याः पारगोपि यः ।

आत्मकैवल्यविज्ञैव सर्वे ते पङ्क्तिपावनाः ॥

इति । ज्येष्ठसामग, ज्येष्ठसाम छन्दोगानां सामविशेषः ।
तदध्यायी ज्येष्ठसामग । त्रिणाचकेतो नाम अध्वर्यूणामृग्यि-
शेषः । त्रिमधुर्वहृचानां सूक्तविशेषः । त्रिसुपर्णा बहृचानां तैत्ति-
रीयाणां च । पञ्चाग्निः सभ्यावसथ्याभ्यां सह । स्नातको वि-
द्याव्रतस्नातकः । मन्त्रब्राह्मणवित् विनाऽप्यङ्गविज्ञानेन । धर्मज्ञो
धर्मशास्त्रार्थज्ञः । ब्रह्मदेयानुसन्तानो ब्राह्मविवाहोदासन्तति ।
इतिकारः प्रकारवाचो । यथाऽऽह वसिष्ठः— ‘त्रिणाचिकेतः प-

आग्निस्त्रिसुपर्णश्चतुर्मेधा वाजसनेयी षडङ्गविच्छन्दोगो ज्येष्ठसामिको मन्त्रब्राह्मणाविद्य स्वधर्मानधीते यस्य च दशपुरुषं मातृपितृवशः श्रोत्रियो विज्ञायते विद्वांस स्नातकाश्चैत पङ्क्तिपावना भवन्ति' इत्येवमादीनां स्मृत्यन्तरोक्तानामप्युपलक्षणार्थम् ॥

हविष्णु चैवम् ॥ २९ ॥

हविष्णु अभ्युदयकर्मसु । बहुवचन न केवलं पित्र्याङ्गभूते दैव एवम् । किं तर्हि ? सर्वाभ्युदयेष्वपीति । चशब्दादेव सिद्धे एवशब्द परिश्रितपङ्क्तिपावनार्थः ॥

दुर्वालादीन् श्राद्ध एवैके श्राद्ध एवैके ॥ ३० ॥

दुर्वालादारभ्य ये अनुक्रान्तास्तान् श्राद्ध एव न भोजयेत्, न तु दैवे । एकेग्रहणात् न तु गौतमः, सम्भवान् सम्भवकृतो विकल्प इति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥

सामान्योऽयं द्विजातीनां धर्म इत्यत आह—

श्रवणादि वार्षिकं प्रोष्ठपदी वोपाकृत्याधीयत ऋन्दांसि ॥ १ ॥

श्रवणेन युक्ता पौर्णमासी श्रवणा । तद्धितविकल्पो द्रष्टव्यः । तदादित आरभ्य वर्षासु भव वार्षिक, एतदपि सज्ञार्थं, ततश्च 'अमितोवार्षिकम्' इति व्यवहारसिद्धिः । प्रोष्ठपदी वा

पौर्णमासीमादितः कृत्वा उपाकृत्य उपाकरणं कृत्वाऽधीयीत ।
अध्ययनं च अपूर्वाधिगमो गृहीताभ्यासश्च । छन्दांसि मन्त्र-
ब्राह्मणम् । एतदुक्तं भवति—श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वोपाकृत्य त-
दादि वेदानां वर्षाकालसबन्ध्यध्ययनं कुर्वीतेति ॥

कियन्तं कालं अधीयीतेत्याह—

अर्धपञ्चमान्मासान् पञ्च दक्षिणायनं वा ॥२॥

उपाकरणोत्तरकालं विकल्पः कृतार्थाकृतार्थापेक्षया द्रष्टव्य ॥

अधीयानः -

ब्रह्मचार्युत्सृष्टलोमा न मांसं भुञ्जीत ॥ ३ ॥

ब्रह्मचारी मैथुनवर्जकः, उत्सृष्टलोमा अकृतश्मश्रुः । लोम-
ग्रहणेन नखादीनामपि ग्रहणम् । न मांसं भक्षयेत् देवार्चन-
शिष्टमपि । गृहस्थस्यायं नियमः, ब्रह्मचारिणः प्राप्त्यभावात् ।
ब्रह्मचर्यरक्षणमृतुगमनम् । कुत ? 'गृहस्थस्य ऋतावेव गमनं
ब्रह्मचर्यमुपदिशन्ति' इति स्मृतेः । यद्युत्सृष्टलोमशब्देन कलृप्त-
लोमत्वं परिगृह्यते तदा 'न रूढश्मश्रुरकस्मात्' इत्यनेनैव सि-
द्धत्वादनारम्भः प्राप्नोति । तस्मादारम्भसामर्थ्यात् अकलृप्तत्वमेव
गृह्यते ॥

द्वैमास्थो वा नियमः ॥ ४ ॥

अयं ब्रह्मचर्यनियमो मासद्वयः वा । शक्त्यपेक्षया विक-
ल्पः । नियमग्रहणमवश्यकर्तव्यतार्थम् । एवञ्च—नियमाभावे अ-
ध्ययनप्रसङ्गनिवृत्तिर्द्रष्टव्या ॥

एवमाधीयान —

नाधीयीत वायौ दिवा पांसुहरे ॥ ५ ॥

यावद्दिवा पांसुवर्षुको वायुर्वहति तावन्नाधायीत । दिवा पांसुहर इत्येव सिद्धे वायुग्रहण वात्यायामपि नाधीयीतेत्येव-
मर्थम् । तथाऽऽहोशना—‘वात्याऽसौ पिशाचिका तस्मात्तस्यां
नाधीयीत’ इति । दिवाग्रहणाद्रात्रौ न दोषः, यदि रात्रावपी-
ष्यते दिवेत्यनारम्भेणैव सिध्यतीति ॥

कर्णश्राविणि नक्तम् ॥ ६ ॥

कर्णश्राविणि नक्त रात्रौ तु यदा वायुः कर्णश्रावी भवति
श्रोत्रं शब्देन पूरयति तदा नाधीयीत नक्तग्रहणाद्दिवा न
दोषः ॥

वाणभेरीमृदङ्गगर्तार्तिशब्देषु ॥ ७ ॥

वाणो वीणा, ‘वाणश्शततन्तुर्भवति’ इति महाव्रते दर्श-
नात् । भेरीमृदङ्गौ प्रसिद्धौ । गर्तशब्दो रथशब्द, अव्यक्तो वा
ध्वनिः । आर्तशब्दः क्रन्दितध्वनिः, आक्रोशादिर्वा । शब्दशब्दः
प्रत्येकमभिसम्बध्यते यावदेतेषां ध्वनिस्तावदनध्यायः ॥

श्वसृगालगर्दभसंहादे ॥ ८ ॥

ह्रादशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, श्वादीनां समुदितानां शब्दे
श्वसंहादे सृगालसंहादे गर्दभसंहादे च, समित्यारम्भात्, ‘स-
मित्येकीभावे’ इति भाष्यकारेणोक्तत्वात् । दण्डापूपिकया त्रया-
णां समुदितानामपि द्रष्टव्यम् । एवं त्रैकैकस्य न दोषः ॥

लोहितेन्द्रधनुर्नीहारेषु ॥ ९ ॥

लांहिते इन्द्रधनुषि नीहारे च नाधीयीत लौहित्यमाकशस्य
लोहितवर्णत्व तस्मिन्हृष्टे नाधीयीत । तथेन्द्रधनुषि, तत्
प्रसिद्धम् । नीहारो हिमः । यावदेतेषां दर्शनं तावन्नाधीयीत ।

अब्धदर्शने चापतौ ॥ १० ॥

अनृतौ सोदकमेघदर्शने, न यस्य कस्यचित् । चकारा-
द्विद्युद्दर्शने च । यावद्दर्शनमात्रं तावदनध्यायः । तथा च
कण्वः 'विद्युद्दर्शने नाधीयीत' इति ॥

मूत्रित उच्चारितः ॥ ११ ॥

यावन्मूत्रोच्चारानुत्पद्येते अनुत्सर्गेऽत्यनध्यायः, कृते तूत्सर्गे
'मानसमप्यशुचिः' इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥

निशासन्ध्योदकेषु ॥ १२ ॥

निशाशब्देनार्धरात्रमुच्यते, न रात्रिमात्रम्, 'विद्युति नक्तं
च' इत्यादिविशेषानारम्भात् । तेनार्धरात्रे सन्ध्यायां चोदके
चावस्थितो नाधीयीत ॥

वर्षति च ॥ १३ ॥

यावद्वर्षकर्म तावन्नाधीयीत । चशब्दात् अनृतौ वर्षत्यहो-
रात्रं च ॥

एके वलीकसन्तानम् ॥ १४ ॥

एके अच्छिन्नधारं वर्षति नाधीयीतेतच्छन्ति । अधीयीतेति
गौतमः । कृतार्थाकृतार्थापेक्षया विकल्पः ॥

आचार्यपरिवेषणे ॥ १५ ॥

आचार्यौ सुरासुरयो. शुक्रबृहस्पती, तयो. परिवेषणे ना-
धीयीत । आचार्यपरिवेषणमुपाध्यायस्यान्नापहरणमित्येके ॥

ज्योतिषोश्च ॥ १६ ॥

आदित्यचन्द्रमसो, द्विवचननिर्देशात्, परिवेषणे नाधीयीत
चकारादाचार्ये व्यसनगते ॥

भीतो यानस्थश्शयनः प्रौढपादः ॥ १७ ॥

भीतो वर्तमानभयः, यानस्थ अश्वाद्यारूढः, शयान. श-
य्यामासेवमान, प्रौढपाद. पादे एकपादारूढ, पीठिकाद्यारो-
पितचरणो वा । वृक्षारूढस्यापि ग्रहणार्थो विसमासः ॥

श्मशानग्रामान्तमहापथाशौचेषु ॥ १८ ॥

श्मशान शवदहनस्थानं तत्समीपे, ग्रामान्तो ग्रामसीमा
तत्समीपे, महापथो राजमार्गः, अशौचमशुचिस्थानं, एतेष्व-
वस्थितो नाधीयीत । आशौच जननमरणनिमित्तमित्येके, तद्युक्त,
पूर्वमुक्तत्वात् । सद्यश्शौचपक्षेऽप्यध्ययनाभावज्ञापनार्थमित्येके,
सद्यश्शौचेऽपि दानप्रतिग्रहभोजनान्येन कर्तव्यानि न त्वध्ययनम् ।
दशरात्रादर्वागित्यपरे । मातापित्रोस्तन्मातुर्वेत्यस्मिन् पक्षेऽपि
सपिण्डानामध्ययनाभावज्ञापनार्थमिति केषांचिद्दर्शनम् । आशौ-
चवतः समीपे नाध्येतव्यमित्येवमर्थ उपदेशः गङ्गायां घोष
इत्यादिवदिति । श्मशानग्रहण च भूतपूर्वगत्या प्रतिषेधार्थं,
इदानीन्तनस्य 'श्मशानाभ्यव्ययने चैव' इत्यनेनैवोक्तत्वात् ।

ततश्च श्रवणपरपरया यत् स्थान इमशानमिति श्रूयते तत्र नाध्येतव्यमिति ॥

पूतिगन्धान्तश्शवदिवाकीर्त्यशूद्रसंनिधाने ॥

पूतिगन्धो दुर्गन्धः । अन्तश्शवे ग्रामे अनिर्हृतप्रेते । दिवा-
कीर्त्यो नापिनः शूद्रोपि, न तु चण्डालः, तस्य शूद्रप्रतिषेधा-
देवार्थतस्सिद्धेः । तस्य समोपे न पठेत् । अथवा दिवाकीर्त्यं
ग्रहणेन तत्कर्म गृह्यते । ततः कृतश्मश्रुरकृतशौचो नाधीयीतेति ।
केचिदिवाकीर्त्यशब्देन चण्डालमेवोक्त्वा अन्तश्शब्दमाधिकृत्य
व्याचक्षते—अन्तश्चण्डाले ग्राम इति । तथाऽऽहापस्तम्ब ‘अन्त-
श्शवमन्तश्चण्डालमभिनिर्हृतानां तु सीमन्यनध्यायः’ इति । शूद्र-
स्य संनिधाने बधिरस्यापि कुत ? ‘अथ हास्य वेदमुपशृ-
ण्वतः’ इत्यनेनैव सिद्धे इह पुनरारम्भात् ॥

शुक्तके चोद्गारे ॥ २० ॥

अम्ले उद्गारे नाधीयीत । चकारादन्यास्मिन् ज्वरादौ
नाधीयीत ॥

ऋग्यजुषां च सामशब्दो यावत् ॥ २१ ॥

ऋग्यजुषां चानध्यायः यावत्सामध्वनिः श्रूयते । शाखा-
न्तरे साम्नोप्यनध्यायार्थश्चकार । तथा च स्मृत्यन्तरम् ‘शा-
खान्तरे च साम्नमनध्यायः’ इति । द्विवचनेन वक्तव्ये ऋग्यजु-
षामिति बहुवचनं तदङ्गभूतानां सूत्रादीनामप्युपसङ्गार्थम् ।
ध्वनिमात्रश्रवणेऽपि नाध्येतव्यमिति यावद्ग्रहणं, अन्यथा ऋग्य-
जुषां च सामशब्द इत्यवश्यम् ॥

आकालिका निर्घातभूमिकम्पराहुदर्शनोल्काः ॥

यस्मिन्काले एते भवन्ति तस्मात्कालादा द्वितीयादनध्यायकारिण इत्याकालिकाः । निर्घात, अशनिपात, भूमिकम्पो भूमिचलनं, राहुदर्शनं ग्रहणं, उल्का उल्कापात । 'अथ न कीर्तयेत् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके' इत्येवमादिभिरधिकाहःप्रतिपादकैः स्मृत्यन्तरैः कृतार्थाकृतार्थापेक्षया विकल्पो द्रष्टव्यः ॥

स्तनयित्नुवर्षविद्युतश्च प्रादुष्कृताग्निषु ॥ २३ ॥

प्रकाशितेष्वग्निषु अग्निहोत्रहोमकाले सन्ध्यायामित्यर्थः । एते स्तनयित्नुप्रभृतयो भवन्त आकालिका भवन्ति । सर्वसमुच्चयार्थः चकार, एकैकस्य द्वयोर्वा मा भूदिति ॥

अहरृतौ ॥ २४ ॥

वर्षासु सन्ध्यायामेते भवन्तो नाकालिका । अहर्मात्रानध्यायकारिण । अहश्शब्देन रात्रिरप्यभिधीयते 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' इत्यादिश्रुतिदर्शनात् । ततश्च प्रातस्सन्ध्यायामुपलभ्यमानेषु अहरनध्यायः, सायंसन्ध्यायां रात्रिरिति द्रष्टव्यम् ॥

विद्युति नक्तं चापररात्रात् ॥ २५ ॥

विद्युति सन्ध्यायामृतौ दृश्यमानायां त्रिभागादर्वात्रात्रिरनध्यायः । चकारात् प्रातरुपलभ्यमानायामहश्च सर्वमनध्यायः न रात्रिर्वत्रिभागादर्वाक्, 'विद्युति प्रातरहरनध्याय' इति जाबालिगृह्यदर्शनात् ॥

त्रिभागादिप्रवृत्तौ सर्वम् ॥ २६ ॥

या सन्ध्यायामुपलभ्यते तस्या अह्न पूर्वभागावतिक्रम्य तत
आरभ्य प्रवृत्तिरस्ति चेत् ततस्सर्वं नक्तमनध्यायः ॥

उल्का विद्युत्समेत्येकेषाम् ॥ २७ ॥

उल्का च विद्युत्तुल्या । यथा विद्युत्यनध्यायः तथोल्कापा-
तेऽपि द्रष्टव्यमित्येकेषां मत न तु गौतमस्य । कृतार्थाकृतार्था-
पेक्षया विकल्पः ॥

स्तनयित्तरपराह्णे ॥ २८ ॥

स्तनयित्तरपराह्णे भवन् विद्युत्समो भवति । नक्तमापररा-
त्रादनध्यायं करोतीत्यर्थः ॥

अपि प्रदोषे ॥ २९ ॥

प्रथमेऽपि रात्रिभागे प्रवृत्त पूर्ववदापररात्रादनध्यायं करो-
तीत्यर्थः ॥

सर्वं नक्तमाऽर्धरात्रात् ॥ ३० ॥

प्रथमात् रात्रिभागादारभ्याऽर्धरात्रात्प्रवृत्त सर्वं नक्तमन-
ध्यायं करोति ॥

अहश्चित्सज्योतिः ॥ ३१ ॥

प्रागपराह्णाद्यदहः स्तनयित्त्तुर्भवति ततः सज्योनिरनध्यायः,
दिवसमेवेत्यर्थः ॥

विषयस्थे च राज्ञि प्रेते ॥ ३२ ॥

विषयस्थे स्वराष्ट्रस्थे इत्यर्थः, राजानि प्रमीते । आकालि-
कानुकर्षणार्थश्चकारः । ततश्च आकालिकोऽनध्यायः ॥

विप्रोष्य चान्योन्येन सह ॥ ३३ ॥

यदा शिष्याचार्यौ सहाध्यायिनौ वा परस्परमावियुक्तौ प्र-
वसेयु तदा चाकालिकोऽनध्याय । चकारात् समेत्य च ॥

सङ्कुलोपाहितवेदसमाप्तिच्छर्दिश्राद्धमनुष्ययज्ञ-
भोजनेष्वहोरात्रम् ॥ ३४ ॥

सङ्कुल' केनचित् कारणेन ग्रामाद्युपद्रव । उपाहितोऽग्नि-
सम्भ्रमः अग्निदाह । वेदसमाप्तिः वेदस्थप्रकरणसमाप्तिः, ग्रामो
दग्ध इत्यादिवत् । शाखासमाप्तिर्वा । छर्दि प्रसिद्धा । श्राद्धमेको-
दिष्टादि, तत्र भोक्तु । मनुष्ययज्ञे मित्रमेळके । भोजने अने-
कब्राह्मणभोजने । एतेष्वहोरात्रमनध्याय ॥

अमावास्यायां च ॥ ३५ ॥

अहोरात्रमनध्यायः । चशब्दात् पौर्णमास्यां च ।

द्वयहं वा ॥ ३६ ॥

अमावस्यायां पौर्णमास्यां च द्वयहं वा पूर्वोक्तमहोरात्रं वा
अनध्याय । उभयत्र चतुर्दश्यामिति द्रष्टव्यम् । तत्र वेदस्य
द्वयहम् अङ्गादेरहोरात्रमेवेति व्यवस्थितविकल्पो द्रष्टव्य । तथा-
चाहोशना—'पर्वणीतिहासवर्जितानां सर्वाणां विद्यानामनध्या-
यः' इति ॥

कार्तिकीफाल्गुन्याषाढी पौर्णमासी ॥ ३७ ॥

च शब्दात् पूर्वमनध्यायप्रापणादिह पौर्णमासीशब्देन प्रतिपदो
गह्यन्ते । एतास्वनध्याय । एवचान्यास प्रतिपत्सु न दोष ।

तत्र 'प्रतिपत्सु न चिन्तयेत्' इत्यौशनसवचनेन कृतार्थाकृता-
र्थापेक्षया विकल्पो द्रष्टव्यः ॥

तिस्त्रोऽष्टकास्त्रिरात्रम् ॥ ३८ ॥

तिस्त्र ऊर्ध्वमाग्रहायण्या अपरपक्षेहृष्टकास्त्रिरात्रमनध्यायका-
रिण्यः । अतस्तासु त्रिरात्रमनध्यायो भवति, सप्तम्यामष्टम्यां नव-
म्यामिति ॥

अन्त्यामेके ॥ ३९ ॥

अन्त्यामेवाष्टकामनध्यायकारित्वेनेच्छन्ति । पूर्ववद्विकल्पः ॥

अभितो वार्षिकम् ॥ ४० ॥

आदावन्ते चेत्यर्थः । वर्षाकाले भव वार्षिकमिति तत्का-
लसंबन्ध्यध्ययनमुच्यते । यत्कृत्वा यत्प्रारभ्यते आदावन्ते च
यत् क्रियते अभितदशब्देन तद्वय गृह्यते । त्रिरात्रमनध्याय इ-
त्यनुवर्तते । उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रमनध्याय इत्यर्थः । त-
था चाहोशना—'उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्र्यहमनध्यायः' इति ॥

सर्वे वर्षविद्युत्स्तनयित्नुसंनिपाते ॥ ४१ ॥

सर्वे आचार्या वर्षादीनां सनिपाते त्रिरात्रमनध्यायमि-
च्छन्ति । गौतमस्तु 'स्तनयित्नुवर्षविद्युतश्च प्रादुष्कृताग्निषु'
इत्याकालिकम् । तत्र पूर्ववद्विकल्पः ॥

प्रस्यन्दिनि ॥ ४२ ॥

विद्युत्स्तनयित्नुसंनिपाते त्रिरात्रमित्यनुवर्तते । यास्मिन्नहनि
विरलशो वर्षति देवस्तस्मिन्नेवाहनि विद्युदग्निसनिपातश्च त
त्रापि त्रिरात्रमिच्छन्ति ॥

ऊर्ध्वं भोजनादुत्सवे ॥ ४३ ॥

उत्सवे सर्वाभ्युदये भोजनादूर्ध्वं तद्दहोरात्रमनध्यायः । उपनयनादावुत्सवे भुक्त्वा तदुत्तरकालमनध्याय इत्यर्थः ॥

प्राधीतस्य च ॥ ४४ ॥

प्राधीतस्य च अध्येतुं प्रथमं प्रवृत्तस्यानुत्सवेऽपि भोजनोत्तरकालमनध्यायः । चकाराद्वेदान्ताध्येतुश्च भोजनोत्तरकालमनध्यायः ॥

निशायां चतुर्मुहूर्तम् ॥ ४५ ॥

रात्र्यां प्रथमांश्चतुरो मुहूर्तान्नाधीयीत, स्मृत्यन्तरसामर्थ्यात् त्रयोदश्याम् । यथाऽऽहोशना - 'त्रयोदश्यां प्रथमांश्चतुरो मुहूर्तान्नाधीयीत' इति ॥

नित्यमेके नगरे ॥ ४६ ॥

एके नगरे ग्रामे सदैवानध्यायमिच्छन्ति । न तु गाँतमः, ग्रामनिवासिनां सदैवानध्यायप्रसङ्गात् । तत्र शूद्रादिभूयिष्ठे अनध्यायः, द्विजातिवहुले अध्येतव्यमिति द्रष्टव्यम् ॥

मानसमप्यशुचिः ॥ ४७ ॥

अप्रयतो मनसाऽप्यध्ययनं न कुर्यात् । एवंचान्येष्वप्यनध्यायेषु मनसाऽध्ययनं न प्रतिषिध्यते । नित्यार्थं वा मानसग्रहणम् । अशुचिस्सन् नैत्यकमपि नाधीयीतेति । एवंच नैत्यके अन्येऽनध्याया न सन्तीति द्रष्टव्यम् । तथाऽऽह मनुः—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो होममन्त्रेषु चैव हि ॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायां ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम् ॥ इति ॥

श्राद्धिनामाकालिकम् ॥ ४८ ॥

दातृणा, भोक्तृणां तु 'सकुलोपाहित' इत्युक्तत्वात् । ब-
हुवचन सर्वश्राद्धसूचनार्थ, एकोद्दष्टे दातृणामेव मा भूदिति ॥

अकृतान्नश्राद्धिकसंयोगे च ॥ ४९ ॥

यदाऽकृतान्नं पितृनुद्दिश्य दीयते भोजनाभावे तदकृतान्न-
श्राद्धिकम् । तत्संयोग दातृप्रतिग्रहीत्रोरुभयो. संयोगवचनात्,
आकालिकोऽनध्याय. । चकारादन्यत्रापि पित्रर्थे । यथाऽऽह मनुः—

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।

प्रतिगृह्याप्यनध्याय पाण्यास्या ब्राह्मणाः स्मृताः ॥

इति । आमश्राद्धस्यैतदेव लिङ्गम् ॥

प्रतिविद्यं च यान् स्मरन्ति यान् स्मरन्ति ॥

प्रतिवेद प्रतिशास्त्र च यान्नध्यायान् गृह्यकाराः स्मरन्ति
चकाराद्धर्मान्तरेष्वपि, नाधीयीतेति सम्बन्ध. ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये षोडशोऽध्यायः

मानसमप्यशुचिरित्यभिहितम् । तदशुचित्वमाहारजनितमपि
भवतीति भोज्याभाज्यविवक्षयाऽऽह—

प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणो भु-
ञ्जीत ॥ १ ॥

प्रकर्षेण स्तुतानां स्वकर्मसु न क्षत्रियादिकर्मसु अर्थका-
मपरित्यागेन मुख्यकर्मानुष्ठानरतानामित्यर्थ, तेषां द्विजातीनां

उपनीतानाम् । भोजनस्यार्थप्राप्तत्वात् परिसंख्यार्थमिदं वचनम् ।
ब्राह्मणग्रहणं द्विजातिप्रदर्शनार्थम् । क्षत्रियादीनामप्रशस्ताभ्यनु-
ज्ञानार्थमेत्येके । भुञ्जीत भोजनं कुर्यादित्यर्थः । प्रशस्तानामि-
त्युक्ते आहोपुरुषिकामात्रेणापि प्रशस्ता भवन्तीति स्वकर्मग्रह-
णम् । प्रशस्तानां स्व इत्येव सिद्धे कर्मग्रहणं काम्यनिवृत्त्य-
र्थम् । स्वकर्मस्विति बहुवचनं ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिणां प्राधा-
न्यख्यापनार्थम् ॥

प्रतिगृहीयाच्च ॥ २ ॥

एषां धनम् । एतान्ध्यापयेद्याजयेच्चेत्येवमर्थश्चकारः ॥

एवमपि—

**एधोदकयवसमूलफलमध्वभयाभ्युद्यतशय्या-
सनावसथयानपयोदधिधानाशफरिप्रियङ्गुस्रङ्मार्ग-
शाकान्यप्रणोद्यानि सर्वेषाम् ॥ ३ ॥**

एधः काष्ठं, उदकं कुम्भाद्यवस्थितमपि, यवसं तृणानि,
मूलफले प्रसिद्धे, मधु माक्षिकम्, अभयं परित्राण, अभ्युद्यत-
शय्यासनानि प्रसिद्धानि, आवसथ प्रतिश्रयादि., यानादीनि
प्रसिद्धानि, शफरी मत्स्यविशेषः, प्रियङ्गु. धान्यविशेष, स्रक्
ग्रथितानि कुसुमानि, मार्गं मृगमांसं, शाकं प्रसिद्धम्, अप्रणो-
द्यानि अप्रत्याख्येयानि, अयाचितानि, अप्रणोद्यग्रहणात् । अस्मिन्
सूत्रे अभ्युद्यतशब्देन प्रतिग्रहीतृसकाशं यदानीयते तदुच्यते ।
तत्र जातिविशेषो नास्ति । तथाऽऽह मनु --

उद्यतामाहतां भिक्षां पुरस्तादप्रवेदिताम् ।

भोज्यां प्रजापतिर्मेने अपि दुष्कृतकर्मणः ॥

इति । अस्यापवादः—

श्रद्धाधानस्य भोक्तव्य चोरस्यापि विशेषतः ।
न त्वेव बहुयाज्यस्य यश्चोपनयते बहून् ॥

इति । तथा चापरम्—

चिकित्सकस्य मृगयोः शल्यहर्तुश्च पाशिनः ।
षण्डस्य कुलटायाश्च उद्यताऽपि न गृह्यते ॥

इति । तत्रापि भोज्यद्रव्यमेव द्रष्टव्यम् । 'भोज्यां प्रजाप्रतिर्मेने'
इति लिङ्गात् । एवञ्चाभ्युद्यनमपि भोज्य, न प्रतिग्राह्यम् । अप्र-
णोद्यग्रहणात् प्रणोदने दोषः । तथाच वसिष्ठ —

नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च ।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥

इति । तत्रापि भोज्यद्रव्यमेव प्रतिगृह्णीयात् अप्रशस्तेभ्या द्वि-
जातिभ्यः पृथग्रहणात् । सर्वग्रहणात् शूद्रादपि । सर्वेभ्य इति
वक्तव्ये सर्वेषामित्युपादानमात्मसम्बन्धिज्ञापनार्थम् । एवञ्च पर-
कीयं मुषित्वा यो ददाति तस्याग्रहणे न दोषः ॥

पितृदेवगुरुभृत्यभरणे चान्यत् ॥ ४ ॥

भरणवचनमावश्यककर्तार्यम् । पितृभरणमेकोदिष्टादि, अवि-
च्छेदेन श्राद्धकरणम् । देवभरणं सायंप्रातरग्निहोत्रहोमादि ।
गुरवः पित्रादयः । भृत्याः पुत्रदासादयः । एतेषां भरण भक्ता-
च्छादनादीनां दानम् । एतेषु निमित्तेष्वन्यदप्यग्रहणम् । च-
शब्दादेधोदकादि च । भरणमित्युक्तत्वात् न स्वयं ततो गृही-
त्व पुष्टो भवेत् । केचिच्चकारमातिथ्यार्थमाहुः । तथाऽऽह
वसिष्ठः—

गुर्वर्थे दारमुज्जिहीर्षन्नार्चिष्यन् देवतातिथीन् ।

सर्वत प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत् स्वयं ततः ॥

इति । आपदि तु 'याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः सर्वेषाम्' इत्यनेन याचित्वा प्रतिग्रहणमुक्तम् । इह तु लभ्यमानस्याप्रणोदः । एवञ्चापद्ययाचितालाभ एव याचित्वा प्रतिग्रहणमिति प्रदर्शितम् । आपद्विषयत्वादनापादि न ग्राह्यमिति द्रष्टव्यम् ॥

वृत्तिश्चेन्नान्तरेण शूद्रात् ॥ ५ ॥

अप्रणोद्यमिति वर्तते । न तु पूर्वेण वृत्तिश्चेदिति । यदि जीवनं शूद्रप्रतिग्रहणमन्तरेण न निर्वर्तते तत्र शूद्रात् प्रतिगृह्णीयात् । न तु याजनभोजनप्रवचनानि कुर्यात् । तथाऽऽह मनुः—

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्न विद्वानाशौचिनोपि वा ।

आममेवाददीतास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥

इत्यादि । तथाच वसिष्ठः—

शूद्रान्नेनोदरस्थेन योऽधिगच्छति मैथुनम् ।

यस्यान्नं तस्य ते पुत्रा अन्नाच्छुक्लं प्रवर्तते ॥

इति । याजने तु वक्ष्यति — 'शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं' इत्यादि । तथाऽध्यापने तु 'शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव' इत्यादि ॥

अस्यापवाद —

पशुपालक्षेत्रकर्षककुलसङ्गतकारयितृपरिचारका भोज्यान्नाः ॥ ६ ॥

पशुपालः पशूनां संरक्षिता स पशुस्वामिनो भोज्यान्न ।
तथा क्षेत्रकर्षकश्च । तथाऽऽहोशना—‘स्वगोपालो भोज्यान्नः स्व-
क्षेत्रकर्षकश्च’ इत्यादि । कुलसङ्गतः पारपर्येण मित्ररूपेणागत ।
कारयिता नापितः । परिचारको दासः । एतस्माल्लिङ्गान्नापितस्य
शूद्रत्वमध्यवसीयते । तथा चाह मनुः—

क्षेत्रकः कुलमित्रश्च गोपालो दासनापितौ ।

एते शूद्रेषु भोज्यान्नाः यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥

इत्यादि । प्रकरणाद्यदि शूद्रान्नभोजनमन्तरेण प्राणधारण न
स्यात् तत एतेषामन्नमदनीयम् । कुतः कुलसङ्गतकारयितृपरि-
चारकाणामन्नं भोज्यमिति वक्तव्ये भोज्यान्ना इति लिङ्गात्तत् भोक्त-
व्यमिति द्रष्टव्यम् ॥

वाणिकचाशिल्पी ॥ ७ ॥

भोज्यान्न इत्यनुषङ्गः । वाणिज्योपजीवी च शूद्रो भोज्यान्न ।
स चेदशिल्पी कुम्भकारादिको न भवति । चशब्दादशूद्रोऽपि शि-
ल्पी भोज्यान्न ॥

अनेनैव प्रसङ्गेनान्यदप्यभोज्यमाह—

नित्यमभोज्यम् ॥ ८ ॥

यत्राहरहरनाथाय दीयते तन्नित्यं न भोक्तव्यम् । नित्यं वा
सर्वदा परशुहे अनापद्यभोक्तव्यम् । यथाऽऽह मनु—

उपासते गृहस्था ये परपाकमबुद्धयः ॥

इत्यादि—

केशकीटावपन्नम् ॥ ९ ॥

केशग्रहण सर्वगात्रलोमोपसङ्ग्रहणार्थम् । कीटग्रहणमप्यशु-

द्धप्राणिप्रदर्शनार्थम् । अवपन्न पचनकाल एव सिद्धमित्यभिप्रायः ।
अभोज्यं च । एवञ्च ब्रुवता पचनोत्तरकालं कृतप्रायश्चित्तं भोक्त-
व्यमिति ज्ञापि । तथाच वसिष्ठ — ‘काम तु केशकिटानुद्ध-
त्याद्भि प्रक्षाल्य भस्मनाऽवकीर्य वाचा प्रशस्तमुपयुज्जीत भो-
ज्यम्’ इति । बह्वन्नस्य पचनकाल एव सम्बन्धस्यापि प्रायश्चित्तं
द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह मनुः—

पक्षिजग्धं गवाघ्रात अवधूतमवक्षुतम् ।

दूषित केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥

इति । अत्र पक्षिग्रहणं काकादन्यत्र द्रष्टव्यम्, तस्य प्रायश्चि-
त्तान्तरदर्शनात् । यथाऽऽह पराशर —

शृतं द्रोणाधिक चान्नं श्वकाकैरुपपादितम् ।

न त्याज्यं तस्य शुद्ध्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत् ॥

गायत्र्यष्टसहस्रेण मन्त्रपूतेन वारिणा ।

भोज्यं तत्प्रोक्षितं विप्रैः पर्यग्निकृतमेव च ॥

इति । बहुत्वमपि देशकालाद्यवस्थया द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह
व्याघ्र —

देशं कालं तथा मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ।

उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत् ॥ इति ॥

रजस्वलाकृष्णशकुनिपदोपहतम् ॥१०॥

अभोज्यमिति सर्वत्रानुवर्तते । रजस्वलाग्रहणं सर्वाशुचि-
प्रदर्शनार्थम् । कृष्णशकुनिः काकः । तद्ग्रहणमशुचिपक्षिप्रदर्श-
नार्थम् । पदग्रहणमप्यशुचिशरीरावयवप्रदर्शनार्थम् । एतैरुपहतं
स्पृष्टम् ॥

भ्रूणघ्ना प्रेक्षितं गवोपघ्रातं भावदुष्टम् ॥११॥

भ्रूणहा ब्रह्महा । तथाच वसिष्ठः—‘ब्राह्मणं हत्वा भ्रूण
हा भवति’ इति । तद्ग्रहणं श्वचण्डालपतितानामप्युपलक्षणम्,
‘श्वचण्डालपतितावेक्षणे दुष्टं’ इति सहोपदेशात् । ननु च
यद्येवं सहोपदिष्टानामपि ग्रहणं स्यात् तदा ‘चण्डालप-
तित’ इत्येतस्मिन् सूत्रे सहनिर्देशात् ‘श्वचण्डाल’ इत्येतस्मिन्
सूत्रे चण्डालपतितयोरन्यतरोपदेशेन इतरस्यापि लक्षणया सि-
द्धत्वादुभयोरुपादानमनर्थकमिति । अत्रोच्यते—नियमार्थं आर-
म्भः, अवेक्षणे त्रयाणामेव प्रतिषेधः, न पतितसूत्रोपात्तानां सू-
तिकादीनामपीति । तस्मादिह भ्रूणहग्रहणेन श्वादीनामपि ग्र-
हणमित्युक्तं युक्तमेव । एव सति विरोधाभावात् ‘रजस्वला-
कृष्णशकुनि’ इत्यस्मिन् सूत्रे रजस्वलाग्रहणेनाप्येकसूत्रोपात्तानां
पतितादीनामपि ग्रहणम् । ततश्च रजस्वलादिभिः स्पृष्टमेव
नावेक्षितम्, भ्रूणहादिभिरवेक्षितं स्पृष्टं चेति द्रष्टव्यम् । गवा
च सामीप्येनाघ्रातं, मावदुष्टं भोजयित्रा अपध्यानेन दत्तं, भो-
क्तुर्मनसोतुष्टिकरं वा ॥

शुक्तं केवलमदधि ॥ १२ ॥

यदांम्लरस भवति तच्छुक्तं, न तु स्वभावत एवांम्लम्,
अदधीत्यपवाददर्शनात् । केवलं द्रव्यान्तरासस्पृष्ट काञ्जिकादि-
वत्, तदभोज्यम् । अदधि दधि केवलमपि द्रव्यान्तरेण[र]
तक्रादिना संस्पृष्टमपि भोज्यम् ॥

पुनस्सिद्धम् ॥ १३ ॥

यत्पूर्वपाकतुल्यतामापद्यते, न तु शीतलत्वादपक्त्वाद्वा,
पुनर्ग्रहणात् ।

पर्युषितमशाकभक्षस्नेहमांसमधूनि ॥ १४ ॥

पर्युषितं रात्र्यन्तरितं शाकादिवर्जम् । पर्युषितमपि शा-
कगदि भोज्यम् । शाकमस्नेहसयुक्तमपि, भक्षाः पिष्टादयः, स्नेहो
घृतादि तत्ससृष्टमपि द्रष्टव्यं स्मृत्यन्तरदर्शनात्, यथाऽऽहमनुः—

यत्किञ्चित्स्नेहसयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।

तत्पर्युषितमप्याद्यं हविश्शेषं च यद्भवेत् ॥

इति । मांसं चास्नेहसंयुक्तमपि । स्नेहग्रहणेनैव मधुनः सिद्धे
पृथग्ग्रहणमपर्युषितस्यापि मधुनः स्त्रियाः प्रतिषेधार्थम् । तथा
च कल्पकाराणामप्युपनिषत्—‘तस्मादुत स्त्रियो मधु नाश्न-
न्ति’ इति ॥

संसर्गदुष्टं कालदुष्टं चोक्त्वा सांप्रतमाश्रयदुष्टमाह—

उत्सृष्टपुंश्चल्यभिः शस्तानपदेश्य दार्ण्डिकतक्षकद-
र्यबन्धनिकचिकित्सकमृगयूनिषु चार्युच्छिष्टभोजिग-
णविद्विषाणानाम् ॥ १५ ॥

उत्सृष्ट अस्वामिकम् । पुंश्चली व्यभिचारिणी । अनेनैव
गणिका चार्थसिद्धा, तथाऽऽह वसिष्ठः—‘गणान्नं गणिकान्नं च’
इति । अभिशस्तः दोषेणाभिख्यातः । अनपदेश्य स्त्रीलिङ्गेन पुं-
लिङ्गेन वा अनिर्देश्यः तृतीयाप्रकृतिरित्यर्थः । दार्ण्डिको राजा निग्रह-
नियुक्तः । तक्षो रथकारः । कदर्यः असभ्यभाषणरतः, ‘नास्त्री-
लं कीर्तयेद्यस्त्रीलं कीर्तयेत्त कदर्यमाहुः’ इति ब्राह्मणदर्शनात् ।
बन्धनिको गुप्तिपालः । चिकित्सको वैद्यो ब्राह्मणः, ‘तस्मा-
द्ब्राह्मणेन भेषजं न कार्यं’ इति तैत्तिरीयाणां ब्राह्मणे दर्श-

नात् । तथाच वसिष्ठोऽपि 'नानृजुर्ब्राह्मणो भवति न वाणिङ्ग-
कुशीलवो न शूद्रप्रेषणां कुर्वन्न स्तेनो न चिकित्सक' इति ।
स्तेनोपजीवक इत्येके, शल्यहर्तेत्यपरे, 'चिकित्सकस्य मृगयो
शल्यहर्तुश्च पाशिनः' इति दर्शनात् । मृगयुर्लब्धक, स चेदनि-
षुचारी वागुरिकः । उच्छिष्टभोजी उच्छिष्टान्नभोजकः । गणो
जनसमुदाय । विद्विषाण शत्रु । एषामन्नमभोज्यम् । प्रशस्ता-
नामप्रशस्तानामभोजनोपदेशात् आपद्येषामन्न न भोज्यम् ॥

अपाङ्क्त्यानां प्राग्दुर्वालात् ॥ १६ ॥

ये चापाङ्क्ताः प्रागुपदिष्टाः स्तेनादयस्त्यक्तात्मपर्यन्तास्ते
षामकृतप्रायश्चित्तानामन्नमभोज्यम्, ब्रह्महादीनां तु कृतप्रायश्चित्ता-
नामपि, 'नास्यास्मिन्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते कल्मषं तु निर्हण्यते'
इत्यापस्तम्बवचनात् ॥

वृथान्नाचमनोत्थानव्यपेतानि ॥ १७ ॥

वृथान्नं यदातिथ्याद्यनुद्देशेनात्मार्थं पच्यते । तथा बहुच्चा-
नामृक्—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः । सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायम् । केवलाघो भवति केवलादी ॥

इति । आचमनव्यपेत, यदर्थं भुक्त्वा आचम्य पुनस्तदेव भुङ्क्ते
उत्थानव्यपेत, यदर्थं भुक्तमेवोत्थाय भुङ्क्ते एतद्विविधमप्यभो-
ज्यम् । आचमनोत्थानव्यपेतमिति वक्तव्ये बहुवचनमेकपङ्कावन्यत-
रेणाचमने उत्थाने च कृते अन्यतरस्याभोज्यमिति । तथाऽऽहो-
शना — 'अगुरुभिराचमनोत्थाने कृतं च' इति । एवं गुरुभिः कृते
न दोषः ॥

समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः ॥१८॥

समेन विद्याकुलादितुल्येन सह विषमां पूजामासनपरि-
चरणादिकां कृत्वा असमेन च समां कृत्वा यत्राद्यं दीयते तत्र
पूजातः विषमे च समे च सति न भोक्तव्यम् ॥

अनर्चितं च ॥१९॥

अन्नमन्त्रेणानमस्कृतम् । यथाऽऽह वसिष्ठः - 'रोचत इति
साय प्रातरशनान्याभिपूजयेत्' इति । चकारात् 'को भोक्ष्यते'
इत्यभिकृष्टम् । तथाच वसिष्ठः 'को भोक्ष्यत इति चाकृष्टम्' इति ॥

गोश्च क्षीरमनिर्दशाहायास्सूतके ॥२०॥

गोः प्रसूताया अनतिक्रान्तदशाहाया क्षीरमभोज्यम् । च-
शब्दाद्दध्यादि च ॥

अजामहिष्योश्च ॥२१॥

अनिर्दशाहयोरजामहिष्योः क्षीरमपेयं सदध्यादि । अजा
नामधिकारार्थश्चशब्दः । पृथग्रहणं गोक्षीरस्य कदाचित् सप्त-
रात्रादूर्ध्वमदोषार्थम् ॥

नित्यमाविक्रमपेयमौष्ट्रमैकशफं च ॥ २२ ॥

नित्यग्रहणं न केवलं दशाह एवेति । विकारप्रत्ययनिर्दे-
शात् सूत्राद्यप्यासामपेयमिति । एवच पूर्वेषां सूत्रादेः पेयत्व-
मवगम्यते । एकशफाः एकखुरा बडबादयः । इतरे प्रसिद्धाः ।
विसमासो मृगादीनामारण्यानां सर्वेषामुपसङ्गहार्थः । तथाच
मनुः—

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषं विना ॥

इति । चकारान्मानुषस्त्रीक्षीरं च । प्रकृतमप्यपेयग्रहणं नित्यार्थं क्रियते । ततश्चाजामहिष्योरत्यन्तापद्यनिर्दशाहयोरप्यनुग्रहः सिद्धः ।

स्यन्दिनीयमसूसन्धिनीनां च ॥ २३ ॥

नित्यं सदध्यादि क्षीरमपेयमित्यनुषङ्गः । स्यन्दिनी नितान्तग्रन्थिस्तनी । यमसूः यमलापत्या । सन्धिनी एकां वेलामन्तरीकृत्य दुह्यते वत्सान्तरेण वा । गर्भिणी या दुह्यते सा सन्धिनीत्येके । चशब्दाद्व्याधितानां च ॥

विवत्सायाश्च ॥ २४ ॥

याश्च व्यपेतवत्साः याश्च नाशमरणाभ्यां वत्सैर्वियुक्ताः तासामपेयम् । पृथग्रहणं दध्यादीनां प्रतिषेधाभावार्थम्, क्षीरमात्रस्यैव प्रतिषेधः स्यादिति । अजामहिष्योरप्युपसङ्गार्थश्चकारः ॥

सांप्रतं ये स्वरूपत एवाभक्ष्यास्त उच्यन्ते—

पञ्चनखाश्चाशल्यकशशशवाविज्ञोधाखङ्गकच्छपाः ॥ २५ ॥

अभक्ष्या इत्युत्तरत्र वक्ष्यति । तस्येहानुकर्षः । पञ्च नखा येषां हस्तचरणयो, पञ्च पञ्चनखाः सृगालवानरादयः, ते चाभक्ष्याः शल्यकादि वर्जयित्वा । चशब्दः पयोमूत्रोच्छिष्टानामुपसङ्गार्थः । शल्यकः कण्टकवराहः । शशः प्रसिद्धः । शवाविद् उलूकः । गोधा प्रसिद्धः । खड्गः शृङ्गमृगः । कच्छपः प्रसिद्धः । ये अभक्ष्यास्तेषां मूत्राद्यपेयं द्रष्टव्यम्,

अभक्ष्याणां तु यन्मूत्रं तदुच्छिष्टं तथैव च ।

अभोज्यमिति निर्दिष्टं विष्टा चैव तथैव च ॥

इति वत्सवचनात् । पञ्चनखाश्चेति प्रथमानिर्देशः शरीरावयवानां सर्वेषां ग्रहणं यथा स्यादिति । यदि मांसमेव अभीष्टं तदा षष्ठ्या निर्देशो युक्त इति । एवञ्च रुधिरादयोऽप्यपेया एव । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥

उभयतोदत्केऽयलोमैकशफकलविङ्कप्लवचक्रवा
कहंसाः ॥ २६ ॥

उभयतोदतः मनुष्यादयः । तेषां पञ्चनखत्वादेव प्रतिषेधे सिद्धे प्रायश्चित्तगौरवार्थं पुनरभिधानम् । एवमन्यत्रापि विशेष-निर्देशो द्रष्टव्यम् । केशिनः केशातिशययुक्ताश्चमर्यादयः । अलो-मा. सर्पादयः । एकशफाः अश्वादयः । कलविङ्को ग्रामचटक । प्लवः शकटविलः । चक्रवाकहंसौ प्रसिद्धौ ॥

काककङ्कगृध्रशयेना जलजा रक्तपादतुण्डा ग्रा-
म्यकुक्कुटसूकरौ ॥ २७ ॥

काकादयः पक्षिणः प्रसिद्धाः । जलजा सर्व एवाविशेषे-ण । रक्तपादाः पारावतादयः । रक्ततुण्डाश्चकोरादयः । ग्राम्यश-ब्दः कुक्कुटसूकराभ्यां सम्बध्यते । एवंचारण्यानामप्रतिषेधः । विसमासः अन्येषां क्रव्यादादीनामपि प्रतिषेधार्थः ॥

धेन्वनडुहौ च ॥ २८ ॥

धेनुः पयस्विनी गौ । अनडुहान् बलीवर्दः । तयोर्ग्रहणं व-त्सादीनामप्युपलक्षणम् । एवं तर्हि गौश्चेति वक्तव्यमिति चेद-त्रोच्यते—भक्ष्यत्वसयुच्चयार्थश्चकारः । तस्मिन्भक्ष्यत्वपक्षे तयोरेव ग्रहणं यथा स्यात् न वत्सादीनामपीत्येवमर्थः उपदेशः । तथा

च वसिष्ठ.—‘भक्ष्यौ तु धेन्वनडुहौ मेध्यौ वाजसनेयके विज्ञायते’ इति । तत्रातिथिरूपेणागतस्य धेन्वनडुहौ भक्ष्यौ इतरेषामभक्ष्याविति द्रष्टव्यम्, वसिष्ठलिङ्गात्, यथा—‘पितृदेवातिथेपुजायामप्येवं पशून् हिंस्यादिति मानवं, अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वाऽभ्यागताय महोक्षाणं महाजं वा पचेदेवमेवास्मा आतिथ्यं कुर्वन्ति’ इति ॥

अपन्नददवसन्नवृथामांसानि ॥ २९ ॥

अपन्नदत् अपतितदन्तः । अवसन्नो व्याधित, स्वयं मृत इत्यपरे । वृथामांसं आत्मार्थमेव पक्कम् । वृथाग्रहणादेव सिद्धे प्रायश्चित्तगौरवार्थः पुनरुपदेशः । एतच्च भक्ष्यविषय द्रष्टव्यम्, अभक्ष्ये प्राप्त्यभावात् ॥

किसलयक्याकुलशुननिर्यासा लोहिताः ॥ ३० ॥

किसलयं सर्वेषामग्रप्ररोहः । क्याकु आहिच्छत्रं छत्राकम् । लशुनं प्रसिद्धम् । निर्यासा लोहिताश्चेत् । तथाच मनु ‘लोहितान्वृक्षनिर्यासान्’ इत्यादि । एवञ्च हिङ्गादीनामप्रतिषेधः ॥

ब्रश्चनाश्च ॥ ३१ ॥

ब्रश्चनप्रभवाः वृक्षाणामनुजा इत्यर्थः । ते लोहिताश्चालोहिताश्चाभक्ष्याः । एवंचाब्रश्चनप्रभवत्वादलोहितत्वात् कर्पूरादीनामप्रतिषेधः । केचित् ‘लोहिता ब्रश्चनाश्च’ इति सूत्रभेदं कुर्वन्ति । तेषामपि पक्षे कर्पूरादीनामप्रतिषेधः । अन्ये निर्यासा लोहिता वाक्षा इति व्याचक्षते । तेषां हिङ्गादीनां प्रतिषेधः । चशब्दात् पलाण्डुगृज्जनादीनि स्मृत्यन्तरोपदिष्टानि गृह्यन्ते ॥

निचुदारुबकबलाकाशुकमद्गुटिद्विभमान्धालन-
क्तंचरा अभक्ष्याः ॥ ३२ ॥

निचुदारुः दार्वाघाटः, मद्गुः जलनिमज्जनशीलः, दिद्विभः
दिद्विभशब्दानुकरणशीलः, मान्धालो वाग्गुदः, नक्तंचराः उलू-
कादयः, अन्ये प्रसिद्धाः । अभक्ष्या इति क्रियापदं पञ्चनखा इत्या-
रभ्य सम्बध्यत इत्युक्तम् ॥

भक्ष्याः प्रतुदविष्किराजालपादाः ॥ ३३ ॥

अन्यतरोपदेशादेवान्यतरस्य सिद्धे. उभयवर्गोपदेशो येषां
विधिः प्रतिषेधो वा नास्ति तेषामापद्यनुग्रहार्थः । प्रतुदाः प्र-
तुद्य प्रतुद्य मुखेन ये भक्षयन्ति मयूरादयः । विष्किराः विकीर्य
विकीर्य ये भक्षयन्ति लावकादयः । अजालपादाः ये जालपादा
न भवन्ति तुम्बकादयः ॥

मत्स्याश्चाविकृताः ॥ ३४ ॥

विकृता. प्राण्यन्तररूपा । सशलकसमुच्चयार्थश्चकारः । स-
शलकाश्चाविकृताश्चेति उभयविशेषणयुक्ता एव भक्ष्याः, नैक-
विशेषणयुक्ता इत्यर्थः । पूर्वमजालपादा इत्युक्तत्वात् जालपादा-
नामत्र चैकविशेषणयुक्तानां च प्रतिषेधो द्रष्टव्यः । एवमुत्तर-
त्रापि द्रष्टव्यम् ॥

वध्याश्च धर्मार्थे ॥ ३५ ॥

यज्ञादौ धर्मनिमित्ते ये हता पूर्वमभक्ष्या अपि भक्ष्याः ।
चकारात् प्राणानामत्यये च । तथाच मनुः—

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।

यथाविधि नियुक्तस्य प्राणानामेव चात्यये ॥

इति । ननु च यज्ञादौ हतानां श्रुतिविधानादेव सिद्धत्वादिहो-
पदेशोऽनर्थक इति । अत्रोच्यते—ये अदृष्टमेवोद्दिश्य क्रियन्ते
तच्छिष्टभक्षण एव प्रायश्चित्ताभावः न तु दृष्टप्रयोजने शिष्ट-
भक्षण इति । अत एव यज्ञार्थे इत्यनुक्त्वा धर्मार्थे इत्युक्तम् ।
अनेनैवावकीर्णपशोरपि मांसभक्षणं निरस्तं, तस्य प्रायश्चि-
त्तार्थत्वात् न त्वदृष्टार्थत्वमिति । एवं च यथा दृष्टप्रयोजन-
मांसभक्षणे स्मार्तप्रायश्चित्तानुप्रवेशः तथा तद्विषयहिंसायामपि
भवतीति गम्यते । अनेनैवाभिप्रायेण मनुनाऽप्युक्त—‘कुर्यात्
घृतपशुं संगे कुर्यात् पिष्टपशुं तथा’ इत्यादि ॥

व्यालहतादृष्टदोषवाकप्रशस्तान्यभ्युक्ष्योपयुञ्जी-
तोपयुञ्जीत ॥ ३६ ॥

व्यालैः सिंहादिभिः हतस्य पशोर्मांसमभ्युक्षणमात्रं कृत्वा
भक्षयेत् । अदृष्टदोषे व्यालहनविशेषणं, तथा वाकप्रशस्ते च ।
व्यालहतस्य पशोर्मांसं भक्ष्यं तच्चेददृष्टदोषं वाकप्रशस्तं च भ-
वतीति । अदृष्टदोषमभक्ष्यवर्गे चानुपदिष्टं, भक्ष्यत्वोपदेशादेव
सिद्धत्वात् । वाकप्रशस्तं चान्यैः । एवंच यद्भक्ष्यवर्गे अभक्ष्यवर्गे
चानुपदिष्टमापदि विहितं तस्यानापद्यनेन प्रकारेणाभ्यनुज्ञानम् ।
बहुवचनमपि विशेषणत्रययुक्तस्यैव शुचित्वं नैकविशेषणयुक्त-
स्येति । एवं ‘वैष्कमप्युपयुञ्जीत’ इत्यत्राप्यदृष्टदोषत्वादि द्रष्ट-
व्यम् । अश्रीयादिति वक्तव्ये उपयुञ्जीतेति भक्षणाद्वर्जनमेव श्रेय
इति । तथाच मनुः—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ इति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये सप्तदशोऽध्यायः

सामान्या विशिष्टाश्चाश्रमधर्मा उक्ताः । स्त्रिय इदानीं वक्तव्या इत्याह —

अस्वतन्त्रा धर्मै स्त्री ॥ १ ॥

अस्वतन्त्रा परार्थीना धर्मै पारलौकिके भर्त्रा सहास्या धर्माधिकारः, न तु पुरुषवत् स्वातन्त्र्येण । तथाऽऽह मनु.—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।

पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥

इति । शङ्केनाप्युक्तं—‘न च व्रतोपवासनियमेज्यादानधर्मो वाऽनुग्रहकरः स्त्रीणामन्यत्र पतिशुश्रूषायाः कामं तु भर्तुर्नुज्ञाया व्रतोपवासनियमादीनामभ्यासः स्त्रीधर्मः’ इति । ननु च श्रौतस्मार्तानां पुरुषोद्देशेन विहितत्वात् स्वातन्त्र्येण स्त्रियाः प्राप्यभावात् प्रतिषेधानुपपत्तिः । अथोच्येत अस्वातन्त्र्यवचनं सहधर्मक्रियायां स्त्रिया अपि फलमस्तीत्येवमर्थमिति, तदयुक्तम्, सहधर्मचारिणीत्वादेवास्यार्थस्य लब्धत्वात् । तथा अस्वतन्त्रेति न ज्ञायते कितन्त्रया अनया भवितव्यमिति । भर्त्राधीनयेति चेत् न, उपरिष्ठात् ‘नातिचरेद्भर्तारम्’ इत्यनेन भर्तु परतन्त्रत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तेनाव्यभिचारो वक्ष्यत इति चेत् न, (च) अतिचारस्य धर्मार्थकामविषयस्य प्रतिषिद्धत्वादिति । तत्रोच्यते—उपवासदानादेर्धर्मसाधनस्य भर्तुर्नुज्ञायां

सत्यां स्त्रियाः प्रापणार्थोऽयमारम्भः, आश्रमधर्मस्य भर्तृद्वारेण प्राप्तत्वात् । तथाच शङ्खवचनं यद्दर्शितं 'कामं तु भर्तुरनुज्ञया' इत्यादि । तथा दानविषयेऽपि नारद आह—

स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि कार्याण्याहुरनापदि ।

विशेषतो गृहक्षेत्रदानाधमनविक्रयाः ॥

एतान्येव प्रमाणानि भर्ता यद्यनुमन्यते ।

इत्यादि । इदं भर्तृधनविषयं,

स्त्रीधनस्येशिनी स्त्री स्याद्भर्ता च तदनुज्ञया ।

भोक्तुं रक्षयितुं योग्यो भर्तुं नाशयितुं न च ॥

इति कण्ववचनादिति चेत् न, स्मृत्यन्तरदर्शनात् । तथाऽऽह व्याघ्रः—

न दातव्यं न होतव्यं स्त्रीधनं जातु केनचित् ।

पत्यनुज्ञातपूर्वं चेत् स्त्रिया दातव्यमेव तत् ॥

इति । तथाच लोकाक्षिः—

ईशाना स्त्री धनस्योक्ता नाधिदानक्रयेषु च ।

आध्यादि तत्कृतं तस्मान्न सिध्यति कदाचन ॥

इति । एवं कण्ववचनेऽपि दानाधमनविक्रयं वर्जयित्वैव स्वाम्यं द्रष्टव्यम् । यत्तूक्तं किं तन्त्रया भवितव्यमिति तत्रापि भर्तृपुत्र-पित्रधीनया यथाकालम् । तथाऽऽह मनुः—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।

पुत्रस्य स्थविरीभावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

इति । तथाच तत्रैवापरमापि—

बालया वा युवत्या वा स्थविर्या वाऽपि योषिता ।

न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं कार्यं किञ्चिद्गृहेष्वपि ॥

इति । एवंच धर्मादन्यत्र कामचारे प्राप्त आह—

नातिचरेद्भर्तारम् ॥ २ ॥

भर्तृरनुज्ञया विना तत्प्रतिषिद्धा वा न कचिदपि प्रवर्ते-
तेत्यर्थः । पतिमिति वक्तव्ये यो यो भरणं करोति तं तं प्र-
त्येवमिति भर्तृग्रहणम् ॥

किञ्च—

वाक्चक्षुःकर्मसंयता ॥ ३ ॥

स्यादिति शेषः । यावदर्थसम्भाषिणी वाक्संयता । अकार्य-
कृतामीक्षकादीनामप्रेक्षणी चक्षुस्संयता । गृहव्यापारयुक्ता कर्म-
संयता ॥

अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात् ॥ ४ ॥

अपतिरविद्यमानभर्तृका अयोग्यपतिर्वा । तथाच बृहस्पतिः—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबेऽथ पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

इति । अपत्यलिप्सुः यद्यनपत्या सत्यपत्यमिच्छति पुनर्देवरादु-
त्पादयेदित्यर्थः । देवरो भर्तृर्ज्येष्ठो यवीयान्वा ॥

केन विधिनोत्पादयेदित्याह—

गुरुप्रसूता नर्तुमतीयात् ॥ ५ ॥

गुरुभिरनुज्ञाता, भर्तृपक्षे पितृपक्षेच नियुक्तेत्यर्थः । ऋतु
नातीयात् ऋतुकालादन्यत्र न युज्येतेत्यर्थः । तत्राप्येकस्मिन्दिने

यदि गर्भोत्पत्तिर्भवति तत्रैव भवति, नो चेत्तस्मिन् ऋतौ न भवतीति । तथा तलवकाराणां ब्राह्मणं—‘ यद्वा प्रथममहो रेतः सिच्यते स गर्भः सम्भवाति, अतो यत्तत सिच्यते मुधैव तत्परासिच्यते ’ इति । तत्रापि घृतेनाभ्यज्येति द्रष्टव्यम् । यथाऽऽहोशना—‘ नियुक्तां सर्वाङ्गघृताभ्यक्तां घृतेन सर्वाङ्गमात्मानमभ्यज्य गच्छेत् ’ इति ॥

पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धेभ्यः ॥ ६ ॥

उत्तरसूत्रे वाशब्दस्याभाववैकल्पिकार्थस्यानुकर्षः । ततश्चाधिकाराद्देवराभावे सपिण्डमात्रादप्यपत्यलिप्सुः स्यात् । तदभावे सगोत्रमात्रात् । अत्र सगोत्रशब्देन समानोदको द्रष्टव्यः, ‘ सनिकृष्ट सनिकृष्टं गृह्णीयात् ’ इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । ऋषिसम्बन्धात् ऋषिसम्बन्धाः स्वकुल्याः ॥

योनिमात्राद्वा ॥ ७ ॥

सर्वाभावे ब्राह्मणजातिमात्राद्वा । मात्रशब्दो धर्मवाची ततश्च गुणवदभावे निर्गुणादिति द्रष्टव्यम् । पृथग्रहणं कुलीने सति परगामित्वप्रतिषेधार्थम् । तथाच वसिष्ठः—‘ न खलु तत्कुलीने विद्यमाने परगामिनो स्यात् ’ इति ॥

नादेवरादित्येके ॥ ८ ॥

अदेवरात् सपिण्डादे सकाशादपत्यं न जनयेदित्येके मन्यन्ते । देवराभावे अन्यतोपीत्याचार्यः ॥

नातिद्वितीयं जनयितुरपत्यम् ॥ ९ ॥

द्वितीयमतीत्य तृतीयं नोत्पादयेत् । एवं च द्वितीयमनु-
ज्ञातं भवति, यदि तृतीयमुत्पादयति जनयितुर्देवरादेर्भवति न
क्षेत्रिणः ततश्च तदयोग्यं भवतीत्येतावदत्र विवक्षितम् ॥

समयादन्यस्य ॥ १० ॥

समयः तव रतिर्ममापत्यमित्येवरूपः समयः कृतश्चेदन्य-
स्य क्षेत्रिणो भवति तृतीयमपि । अतस्तदुष्टमित्यभिप्रायः ॥

जीवतश्च क्षेत्रे ॥ ११ ॥

अन्यस्येत्यनुकर्षणार्थश्चकार । जीवत प्रजननासमर्थस्य
पत्युः क्षेत्रे भार्यायां यदपत्यमुत्पद्यते तत् क्षेत्रिण एव भवति
विनाऽपि समयेन द्वितीयादधिकमपीत्याभिप्रायः ॥

परस्मात्तस्य ॥ १२ ॥

परस्मात् देवरादिव्यतिरिक्तात् व्यतिक्रमाद्वा यदि जीव-
तोप्यपत्यमुत्पद्यते तत् द्वितीयादधिकमपि तस्यैव जनयितुरेव
भवति न क्षेत्रिणः ॥

द्वयोर्वा ॥ १३ ॥

एवमुत्पन्नमपत्यं बीजिक्षेत्रिणोर्वा भवति । द्वयामुभयायणो
भवतीत्यर्थः ॥

रक्षणात् भर्तुरेव ॥ १४ ॥

रक्षणे भरणपोषणसंस्कारादौ क्रियमाणे भर्तु, परस्मात्
छिद्रेण यदपत्यमुत्पद्यते तद्भर्तुरेव भवति । तुशब्दो विशेषा-
र्थः । प्रव्रजितनष्टपतितादेः अरक्षितोपि भवति । य एव रक्षण-
समर्थः तस्य विशेषेण भवतीति ॥

मृते भर्तारि विधिरुक्तः, इदानीं नष्टे आह—

नष्टे भर्तारि षड्वार्षिकं क्षपणम् ॥ १५ ॥

देशान्तरतिरस्कृते भर्तारि षड्वर्षाण्यपत्योत्पत्तिरनया न कर्तव्या । ततःपरमिच्छन्ती गुरुनियोगं कारयित्वा अपत्यमुत्पादयेदित्यभिप्रायः । कुतः ? 'अनियुक्तायामुत्पन्न उत्पादयितुः पुत्रो भवतीत्याहुः' इति वसिष्ठस्मृतिदर्शनात् ॥

श्रूयमाणेऽभिगमनम् ॥ १६ ॥

षड्वर्षादूर्ध्वं यदि भर्ता श्रूयमाणो भवति तस्मिन् श्रूयमाणे तमेवाभिमुख्येन गच्छेत्, नान्यस्मादपत्यमुत्पादयेदित्यभिप्रायः ॥

प्रव्रजिते तु निवृत्तिः प्रसङ्गात् ॥ १७ ॥

यदि प्रव्रजितो भर्ता भवति तस्मिन् प्रसङ्गात् प्रति गमनान्निवृत्तिः त प्रति न गच्छेदित्यर्थः । अथवा प्रसङ्गादपत्योत्पादनान्निवृत्तिः, अपत्यं नोत्पादयेत् । तुशब्दो विशेषार्थः । यदि भर्तुरपत्योत्पादनाभिलाषोस्ति तदानीमपत्यमुत्पादयेत् । अभिलाषाभावे नोत्पादयेत् संयतया भवितव्यमित्येके वर्णयन्ति । प्रव्रजिते अपत्यं नोत्पादयेत् । तुशब्दात् स्वयमपि प्रव्रजेत्, देशान्तरस्थस्याभिप्रायो ज्ञातुमशक्य इति ॥

द्वादश वर्षाणि ब्राह्मणस्य विद्यासम्बन्धे ॥ १८ ॥

विद्याधिगमार्थं प्रोषितस्य ब्राह्मणस्य भार्या द्वादश वर्षाणि क्षपयेत् अपत्योत्पत्तिं तदाभिमुखगमनं च, प्रव्रजिते

तु निवृत्तिं च कुर्यादिति द्रष्टव्यम् । अत्र ब्राह्मणग्रहणात् पूर्वं क्षत्रियादिविषयमिति गम्यते । अथवाऽत्र विद्याग्रहणादर्थार्थं गतस्य ब्राह्मणस्यैव । स्मृत्यन्तरसामर्थ्यात् कामविषये क्षपणं नास्तीति । यथाऽऽह वसिष्ठ — ‘प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाण्युपासीतोर्ध्वं पञ्चभ्यो वर्षेभ्यो भर्तृसकाशं गच्छेद्यदि धर्मार्थाभ्यां प्रवसेदथ तु कामाद्यथा प्रेते एवं वर्तितव्यं स्यात्’ इति । एवंच क्षत्रियादेर्विद्यार्थं गतस्यापि ब्राह्मणादिभ्योऽर्धमर्धं परिकल्प्यम् । अर्थार्थं गतस्य वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह वसिष्ठ. — ‘एवं ब्राह्मणी पञ्चाप्रजाता षट् प्रजाता, चत्वारि राजकन्याऽप्रजाता पञ्च प्रजाता, त्रीणि वैश्या अप्रजाता चत्वारि प्रजाता, द्वे शूद्रा अप्रजाना त्रीणि प्रजाता’ इति । अनेनैव न्यायेन विद्यासम्बन्धेऽप्यप्रजाताया एकवर्षन्यूनभावो द्रष्टव्यः ॥

भ्रातरि चैवं ज्यायसि यवीयान्कन्याग्न्युपय-
मेषु ॥ १९ ॥

भ्रातृकृतदारे अनाहिताग्नौ च प्रोषिते ज्येष्ठे कनीयानेवमेव कुर्यात् । एवंशब्दात् समस्तातिदेशः श्रूयमाणे तदभिगमनं, प्रव्रजिते तु तदभिगमननिवृत्तिश्च ततो द्रष्टव्या । एवं तर्हि प्रव्रजिते संयतत्वमपि प्राप्नोतीति चेत् न, स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यथाऽऽहोशना — ‘प्रव्रजति ज्येष्ठे क्षपणं नास्ति सद्य एव निविशेत्’ इत्यादि । एवमप्यर्थार्थं गतस्य षड्वार्षिकं प्राप्नोतीति चेत्, न तत्रापि स्मृत्यन्तरसामर्थ्यात्, यथाऽऽह वसिष्ठः—

द्वादशैव तु वर्षाणि ज्यायान् धर्मार्थयोगतः ।

न्याय्यः प्रतीक्षितुं भ्रात्रा श्रूयमाणः पुनःपुनः ॥

इति । चकारात् स्मृत्यन्तरोक्तानामप्युपसङ्गहः, यथाऽऽह व-
सिष्ठः—‘अष्टौ दश द्वादश वर्षाणि ज्येष्ठं भ्रातरमनिविष्टमप्रती
क्षमाणं प्रायश्चित्ती भवति’ इति । तत्र बहुशः श्रूयमाणे द्वा-
दश, पुनःपुनरित्युक्तत्वात् । किञ्चिच्छ्रूयमाणे दशवर्षाणि, स-
र्वथा अश्रूयमाणे अष्टाविति द्रष्टव्यम् । क्षत्रियादेः पूर्ववदर्थ-
मर्थं परिकल्प्यम् । अस्यापवादः —

उन्मत्तः किल्बिषी कुष्ठी पतितः क्लीब एव च ।

राजयक्ष्मामयावी च न न्याय्यः स्यात्प्रतीक्षितुम् ॥

इत्यादिस्मृत्यन्तरोक्तो द्रष्टव्यः । ज्येष्ठग्रहणादेव कनीयसोऽर्थतः
सिद्धेः सम्बन्धिशब्दत्वादेकमातृकस्यैव दोष इति ख्यापनार्थम् ॥
स्मार्तस्याप्यग्रेरुपसङ्गहार्थं बहुवचनम् ॥

षडित्येके ॥ २० ॥

षडेव वर्षाणि प्रतीक्षेतेत्येके मन्यन्ते । तत्र प्रोषितोऽत्य-
न्तवृद्धश्चेत् षड्वर्षाणि क्षपयेत्, नो चेद्द्वादशवर्षाणीति द्रष्टव्यम् ॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा स्त्रीधर्ममेवाह—

त्रीन्कुमार्यृतूनतीत्य स्वयं युज्येतानिन्दितेनो-
त्सृज्य पित्र्यानलङ्कारान् ॥ २१ ॥

त्रीनृतून् कुमारी कन्या अतीत्य यद्येतां पित्रादिर्न दद्यात्
स्वयमेव भर्तारं प्रतिपद्येत अनिन्दित कुलाभिजनादिसमन्वित-
मित्यर्थः । उत्सृज्य पित्रादिदत्तालङ्कारान् । पितृग्रहणं प्रदर्श-
नार्थं, तथा चाह मनुः—

अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंचरा ।

मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेय स्याद्यदि तं हरेत् ॥ इति ॥

कस्मिन्काले पित्रादिभिर्द्वादित्येत्यत आह—

प्रदानं प्रागृतोः ॥ २२ ॥

ऋतुदर्शनात् प्रागेनां दद्यात् ॥

यतः—

अप्रयच्छन्दोषी ॥ २३ ॥

न केवलमप्रयच्छतो दाननिमित्तगुणाभावः । किं तर्हि ?
दम्पत्योः ब्रह्महत्यासमं पापं भवति । यथाऽऽह वसिष्ठः—

यावन्तः कन्यामृतव स्पृशन्ति
तुल्यैः सकामामभियाच्यमानाम् ।
भ्रूणानि तावन्ति हतानि ताभ्यां
मातापितृभ्यामिति धर्मवादः ॥ इति ॥

प्राग्वाससः प्रतिपत्तेरित्येके ॥ २४ ॥

दुर्विज्ञेयत्वाद्गतोः वासस प्रतिपत्तेः प्राग्दद्यात्, यदैव ल-
जिता तदैव दद्यादित्यर्थः । एवमेके मन्यन्ते । वरसम्भवतो विक-
ल्पः ॥

यदा पित्रादिर्दद्यात् तदा आच्छाद्यालंकृतां दद्यादित्युक्तम् ।
तत्र द्रव्याभावे कथमित्यत आह—

द्रव्यादानं विवाहसिद्ध्यर्थम् ॥ २५ ॥

द्रव्यस्य परकीयस्यादानं अनुज्ञातस्य स्वीकरणं विवाह-
सिद्ध्ये यावता विवाहो निर्वर्तते आत्मीयाभावे तावदपहृत्य
दद्यादित्यर्थः ॥

किंच—

धर्मतन्त्रसंगे च ॥ २६ ॥

धर्मतन्त्रस्याग्निहोत्रादे प्रवृत्तस्य विच्छेदः संगः, तस्मिंश्च सति परस्वापहरणं कुर्यात् । तन्त्रग्रहणं यत् प्रक्रान्तमवश्य-
कर्तव्यं तस्यैव संगे, न त्वप्रवृत्तस्य प्रवृत्तार्थम् । सिद्धार्थ-
मित्यस्यानुकर्षणार्थश्चकारः । यावता निर्वर्तते तावदेव गृह्णी-
यात् न ततोऽधिकमिति । एवंचाधिकग्रहणे स्तेयमेव भवति ॥
कुतस्तदादेयमित्यत आह—

शूद्रात् ॥ २७ ॥

यन्नार्थं हि धनम् । न च शूद्रस्य वैदिकेषु कर्मस्वधि-
कारः । अतः प्रथमं तावच्छूद्रादाददीत ॥
तदलाभे—

अन्यत्रापि शूद्रात् ॥ २८ ॥

अन्यत्रापीति वक्तव्ये शूद्रग्रहणं वैश्यक्षत्रियप्रापणार्थं, त-
दलाभे वैश्यात् । तदलाभे क्षत्रियादिति ॥
तत्रापि—

बहुपशोर्हीनकर्मणः ॥ २९ ॥

हीनकर्मा यः अनुरूपं कर्म करोति, किञ्चिदपि न क-
रोतीति वा स हीनकर्मा । तत्सकाशादाददीत ॥

शतगोरनाहिताग्नेः ॥ ३० ॥

अन्यकर्मकृतोपि शतगोः अग्न्याधानमकुर्वतः । शतग्रहणं
द्रव्यपरिमाणोपलक्षणार्थं, शतनिष्कस्येत्यर्थः । एवं सर्वत्र ॥

सहस्रगोश्वासोमपात् ॥ ३१ ॥

यश्चाहिताग्निरपि सहस्रगुः सोम न पिबति तस्मादप्या-
ददीत । चशब्दादन्यतोपि । यः प्रभूतधनत्वे सति तदनु-
रूपं कर्म न करोति तस्मादप्याददीत ॥

न केवलं निमित्तद्वयमेव परद्रव्यादाने । किञ्च—

सप्तमीं चाभुक्त्वाऽनिचयाय ॥ ३२ ॥

सप्तमी वेलामभुक्त्वा धनक्षयात्, परद्रव्यादानं कुर्यात् ।
तथाऽऽह मनुः—

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ।

अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥

इति । हीनकर्माधिकारार्थः चकारः । तथोदाहृतं च मनुव-
चनम् । अनिचयाय उदरपूरणमात्रम् ॥

अप्यहीनकर्मभ्यः ॥ ३३ ॥

अस्यामवस्थायां यथाविहितकर्मकारिभ्योपि । अपिशब्दा
दाहिताग्नेः सोमपाञ्च ॥

यद्याददानो राजपुरुषेण नृपसमीपं नीयते चौर्यनिमित्तं च
पृच्छ्यते तदा—

आचक्षीत राज्ञा पृष्टः ॥ ३४ ॥

आचक्षीत कथयेत् न तु भयादपहृवीत पृष्टः सन् । न
तु स्वयं गत्वा कथयेत् ॥

यस्मात्—

तेन हि भर्तव्यः श्रुतशीलसम्पन्नश्चेत् ॥ ३५ ॥

हिशब्दो यस्मादर्थे । यस्मात्तेन हि भर्तव्यः, 'बिभृयात्

ब्राह्मणान् श्रोत्रियान्' इति वचनात् । श्रुतशीलसम्पन्नो यदि भवति । श्रुतेन वेदार्थविज्ञानेन, शीलेन तच्चोदितकर्मानुष्ठानेनापि सम्पन्नः सम्यक्स्तुत । 'बिभृयात् ब्राह्मणान् श्रोत्रियान्' इति श्रोत्रियाणां भरणोपदेशात् भर्तव्यवचनेनैव श्रुतशीलसम्पन्नता सिद्धेति चेत्, उच्यते—अश्रोत्रियाणामपि भरणोपदेशात् 'निरुत्साहांश्च ब्राह्मणान्' इति । एव च परस्वापहरणे अब्राह्मणो न भर्तव्य इति प्रदर्शितम् । तेनेति वचनं राज्ञो धर्मार्थमेवास्य भरणं न वृत्त्यर्थमिति ॥

धर्मतन्त्रपीडायां तस्य करणेऽदोषोऽदोषः ॥३६

यस्माद्भर्तव्यस्तस्मादस्य धर्मतन्त्रपीडायां—धर्मशब्देनाग्निहोत्रादय उच्यन्ते, तन्त्रशब्देन विवाहः, पीडाशब्देनात्मपीडा सप्तमीं चाभुक्त्वेत्यनेनोक्ता । धर्मविच्छेदे विवाहसिद्धये आत्मपीडायां चेत्यर्थः । तस्य चौर्यस्य करणे अदोषः दण्डो नास्तीत्यर्थः । राज्ञ उपेक्षया धर्मतन्त्रपीडायां सत्यां चौर्यं कृत्वा स्वदोषादागते चौर्ये ब्राह्मणस्य दण्डपातनं न युक्तमित्यभिप्रायः । केचिद्व्याचक्षते—श्रुतशीलसम्पन्नश्चेत् भर्तव्यत्वादाचक्षीत । अश्रोत्रियोऽप्याचक्षीत । यस्मात्तस्मादश्रोत्रियस्यापि धर्मतन्त्रपीडायां दण्डो नास्तीति । अपरे व्याचक्षते—बिभृयाच्छ्रोत्रियानिति योसौ भर्तव्यः सोऽस्मिन्नपराधेऽपि भर्तव्य एव । हिशब्द एवशब्दार्थः, तदनुरूपोऽर्थः अस्यापि दातव्य इत्यर्थः । अश्रोत्रियमपि न दण्डयेत् यतस्तस्यापि तस्मिन्नपराधे दण्डो नास्तीति । कुतः ? धर्मतन्त्रपीडायामित्यस्य सूत्रस्याश्रोत्रियार्थत्वादारम्भस्येति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये अष्टादशोऽध्यायः.

पञ्चविंशो धर्मो व्याख्येयतया प्रक्रान्तः । तत्र चतुर्विध उक्तः । इदानीं पञ्चमो धर्मो नैमित्तिको वक्तव्यः । तदभिधानार्थमुक्तोपसंहारं करोति—

उक्तो वर्णधर्मश्चाश्रमधर्मश्च ॥ १ ॥

किं पुनरनेन सूत्रेण क्रियते ? अनुक्तप्रकरणोपन्यसार्थमुक्तां नुवादः क्रियत इति चेत्, अयुक्तं, अनुपसंहारेऽप्युत्तरस्याभिधातुं शक्यत्वात् । तर्हि श्रोतृणामधिकाकाङ्क्षानिवृत्तिः क्रियत इति चेत्तदप्ययुक्तं, नैमित्तिकारम्भादेव तत्सिद्धेः । किञ्च वर्णाश्रमग्रहणं न कर्तव्यम्, तत्सम्बन्धेनैव धर्माभिधानात्, उक्तो धर्म इत्येतावताऽपि तदुपसंहारः कृतो भवतीति, कृत्स्नोपसंहारेण हि वर्णाश्रमधर्मगुणधर्मयोरप्यभिधानं कर्तव्यमिति । निष्प्रयोजनत्वाच्चकारावप्यनर्थकौ । तस्मादिदमसमञ्जसं सूत्रमिति । अत्र ब्रूमः—केचित्तावद्दर्शयन्ति, आधार प्रसिध्यर्थमिति । इदमयुक्तं, 'वर्णा आश्रमाश्च' इति सूत्रारम्भादेव ज्ञायमानत्वात् । अपरे पुनर्वर्णयन्ति, शूद्रस्याभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्ताभावार्थमिदमिति । तदप्ययुक्तम्—'प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां' इत्यत्र ब्राह्मणग्रहणं द्विजातिप्रदर्शनार्थमुक्तं न शूद्रप्रदर्शनार्थमपि । कुतः ? स्मृत्यन्तरदर्शनात्, यथाऽऽह मनुः—

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषत ॥

इति शूद्रस्य भक्ष्याभक्ष्याधिकाराभावात्प्रायश्चित्ताभावोऽर्थसिद्ध इति । अन्ये वर्णयन्ति—उपनयनात्प्रागपि कौश्रिद्वर्णधर्मैरधिकागर्थमिदमिति । तदप्यसम्यक्, 'वर्णा आश्रमाश्च' इत्यत्रैवोक्तत्वात् । अपरे वर्णयन्ति—वर्णाश्रमधर्माणां स्त्रिया अपि प्राप्त्यर्थमिति ।

तदप्ययुक्तम्, विवाहात्प्रागनुपनीता सा भवतीति वर्णा आश्रमा-
श्चेत्यत्र वर्णग्रहणेनैव सिद्ध, उत्तरकालमप्युपनीतेत्याश्रमग्रहणादा-
श्रमधर्मैरधिक्रियत इति । तत्राह मनुः—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनयनिक स्मृत ॥

इत्यादि । अतस्तत एव सिद्धे किमनेन सूत्रेण क्रियत इति ।
अपर आहुः—उत्तरार्थोऽयमनुवादः । येषा वर्णविभागेन धर्मा
उक्तास्तेषामेव वक्ष्यमाणोपीति । ततश्च शूद्रस्यापि प्रायश्चित्त-
सिद्धिरिति । तदप्ययुक्त, द्वयमेव प्रायश्चित्तानां निदान विहि-
ताकरणं प्रतिषिद्धसेवनं च । तत्र विहिताकरणे मनुराह—

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणामतिवर्तने ।

स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥

इति । प्रतिषिद्धसेवायां च बृहस्पतिराह—

प्रतिषिद्धं तु यः कुर्याद्ब्राह्मणस्तु विशेषतः ।

एकरात्रमनादेश आदिष्टे तु पृथक्पृथक् ॥

इति । ततश्च यस्य विधिप्रतिषेधयोरधिकारस्तस्य प्रायश्चित्तेऽ-
धिकारोऽर्थसिद्ध । ततश्च शूद्रस्याप्यर्थसिद्धत्वात् न तत्प्रापणार्थ-
मिदमारब्धव्यमिति । अत्रोच्यते—आशङ्कानिवृत्त्यर्थमिदं—उपरिष्ठा-
द्वैदिकानि पुनस्स्तोमादीन्युदाहरिष्यन्ते तानि शूद्रस्य न भवन्ति
अतस्तद्वदितरेषामपि तन्निवृत्तिर्मा भूदित्याशङ्काऽपनीयत इति ।
वयोऽवस्थाविशेषापेक्षया वा प्रायश्चित्तस्यानुग्रहार्थं वर्णग्रहणम् ।
यथाऽऽह भृगुः—

अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोडशः ।

प्रायश्चित्तार्थमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च ॥

इति । बलविशेषापेक्षया वा, यथाऽऽह भृगुः—

दुर्बलस्यापि यत्प्रोक्त तदुक्त बालवृद्धयोः ।

संकोचवृत्तिना वाऽपि तथा कालविपर्यये ॥

इति । व्यासोऽपि—

देशं कालं वयः शक्तिं ज्ञानं बुद्धिकृतं तथा ।

अबुद्धिकृतमभ्यास ज्ञात्वा निष्क्रयण वदेत् ॥

इति । चशब्दोप्यवान्तरजोपसङ्गहार्थः । तदुपसङ्गहश्च तेषामपि प्रायश्चित्तार्थप्राप्त्यर्थः । ततश्च मातृजतिवत् परिकल्प्यम् । आश्रमग्रहणं प्रायश्चित्तानां सम्भवप्रापणार्थम्, यथैव पापक्षयार्थं प्रायश्चित्तानां कल्पना क्रियते एवमाश्रमापेक्षयाऽपि । ततश्च जपादीनां सम्भवतो निवेशः, न हि होमदानयोः भिक्षुके सम्भवः, अनग्नित्वादपरिग्रहत्वाच्च । तथा ब्रह्मचारिणां दाने । द्वितीयश्चकारः स्त्रीधर्मानुकर्षणार्थः । वर्णाश्रमग्रहणेनैव तस्य सिद्धेः पुनरप्यनुवादः प्रायश्चित्तकल्पनार्थः । तत्रोदाहृतं च भृगुवचनम्—‘अशीतिर्यस्य वर्षाणि’ इत्यादि । तथाचाङ्गिराः—

नार्यप्यकामतः प्राप्ता पापमर्धं समाचरेत् ।

अर्वाकतु द्वादशाद्वर्षात् पुरुषोप्यर्धभागभवेत् ॥

इति ॥

इदानीं प्रायश्चित्तकारणमाह—

अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते॥

ननु च शिष्टस्याक्रिया प्रतिषिद्धसेवनं च प्रायश्चित्तकारणं, तच्चोपरितनसूत्रे प्रतिपादयिष्यत इत्यनर्थकमेवैतत्सूत्रमिति । अत्रोच्यते—आत्मानमज्ञात्वा यः कर्म करोति तस्यैव कर्मसम्बन्धः, न त्वात्मज्ञानिनः विहिताकरणे प्रतिषिद्धसेवने वा ले-

पसम्बन्धोस्तीनि अनात्मज्ञानिन एव प्रायश्चित्ताधिकारार्थमिदम्,
तथा चाथर्वोपनिषत्—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

इति । ततश्चाज्ञानिन इदम् । अथ कर्मानुष्ठानान्तरम्, खल्वित्यवधारणे अयमेव पुरुष इति, अयमिति प्रत्यक्षेण शरीरिणं क्षेत्रज्ञं व्यपदिशति, अवधारणया परमात्मानं निवर्तयति । तथा चोपनिषत्—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

इति । पुरि शयनात्पुरुषः । तथाचोपनिषत्—‘यो वेद निहित गुहायां परमे व्योमन्’ इति । याप्येन गह्वरेण कर्मणा लिप्यते सम्बध्यते । यद्यप्ययं धर्मेणापि लिप्यते । तथाऽपि धर्मसम्बन्धे प्रायश्चित्ताभावादधर्मस्यैवोपादानम् । खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यत इत्युक्ते कृतस्य कर्मणोऽवश्यसम्बन्धात् अथशब्दोऽनर्थक इति चेन्न, अनुपलक्षितेऽपि प्रायश्चित्तनिमित्ते जपादेरनुष्ठानार्थः । तथाच मनुः—

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।

अज्ञातभक्तशुद्धचर्तुं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥

इति । एवञ्चाबुद्धिपूर्वकेऽपि प्रायश्चित्तमस्तीति ज्ञापितम् । तथाच मनुः—

अकामत कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।

कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥

इति । ततः बुद्धिपूर्वे गुरुतरं अबुद्धिपूर्वे लघुतरमिति द्रष्ट-

व्यम् । तथाच वक्ष्यंति—‘अन्तावसायिनीगमने कृच्छ्राब्द अ
मत्या द्वादशरात्रः’ इत्यादि । पूर्वजन्मकृतस्यापि सम्बन्धज्ञाप-
नार्थं कर्मग्रहणम् । तथाच मनुः—

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा ।

प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥

इति । तत्रैवाह—‘ब्रह्महा क्षयरोगित्वम्’ इत्यादि । एव च क्षया-
दिलिङ्गदर्शने पूर्वजन्मकृतस्यापि प्रायश्चित्तविधानं कर्तव्यमित्ये-
वमर्थमुपदेशः कर्तव्य इत्यर्थः । पापेन कर्मणा लिप्यत इति
वक्तव्ये याप्यग्रहणं धर्मोपि लोकनिन्दितश्चेदधर्माय भवतीति
ज्ञापनार्थम् । तथाच मनुः—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।

धर्मं चाप्यसुखोदकं लोकसंकुष्टमेव च ॥

इति । याप्येनेति विसमासः, यद्यप्यात्मना न कृतं तथाऽपि
परैर्गर्हितत्वाद्भिशसनमात्रेणापि प्रायश्चित्ती भवतीति ज्ञापना-
र्थम् । तथाच वसिष्ठः—‘ब्राह्मणमनृतेनाभिषस्य पतनीयेनोपप-
तनीयेन वा मासमभक्षः शुद्धवतीरावर्तयेत् पूतो भवतीति
विज्ञायते । एतेनाभिषस्तो व्याख्यातः’ इति ॥

कथं याप्येन कर्मणा लिप्यत इति चेत् तत्साधनसेव-
नात् । किं तत्साधनमिति चेत् तदाह—

यथैतदयाज्ययाजनमभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं
शिष्टस्याक्रिया प्रतिषिद्धसेवनमिति ॥ ३ ॥

यथैतदिति दृष्टान्तार्थम् । अयाज्ययाजनं अयाज्यानां पति-
तानां याजनम् । अभक्ष्यभक्षणं लशुनादीनां भक्षणम् । अवद्य-
वदनं अनृतादीनां वदनम् । शिष्टस्य विहितस्य सन्ध्योपासना-

देरक्रिया अकरणम् । प्रतिषिद्धस्य हिंसादे सेवन करणम् ।
 इतिकरणं परिसमाप्त्यर्थं, एतावद्धर्मसाधनमिति । ननु च प्र-
 तिषिद्धग्रहणादेवायाज्ययाजनादेरपि सङ्ग्रहणात् पुनरभिधानमन-
 र्थकमिति । उच्यते—अनुज्ञातानामप्येतेषामकार्यत्वज्ञापनार्थं स्व-
 शब्देनोपादानमिति । ततश्चाप्यविद्यस्याप्यापद्यनुष्ठाने प्रायश्चित्तं
 सिद्धं, तत्र ह्यभ्यनुज्ञात 'याजनाध्यापनप्रतिग्रहास्सर्वेषाम्' इति ।
 तथा ह्यभक्ष्याणां भक्षणमपि भक्ष्यवर्गानुपदिष्टानामप्यापद्यनुज्ञा-
 तम् । तथा आपद्यनृतमपि स्मृत्यन्तरे अभ्यनुज्ञातम् । यथाऽऽ-
 ह व्याघ्रः—

यस्योक्तौ वाङ्मनःपीडा नित्यं भवति चेत्ततः ।

तत्र वक्तव्यमनृत व्याघ्रस्य वचनं यथा ॥

इत्यनुज्ञानसामर्थ्याल्लघुतरप्रायश्चित्तमिति । तदपि प्रथमकल्पि-
 तात् चतुर्भागरूपम् । यथाऽऽहोशना 'आपद्विहितैः कर्मभि
 आपदं तीर्त्वा पुनस्तेषां प्रायश्चित्तं चतुर्भागं कुर्यात्' इति ॥

तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसन्ते ॥

तस्मिन् याप्यकर्मसम्बन्धे तन्निर्यातनार्थं प्रायश्चित्तं कर्त-
 व्यमुत न कर्तव्यमिति मीमांसन्ते विचारयन्ति ब्रह्मवादिनः ॥

न कुर्यादित्याहुः ॥ ५ ॥

एके तावदुपपत्तिबलान्न कुर्यादित्याहुः ॥

आपत्कल्पविषये तावद्विधीयमानत्वाददोषः । अनापद्यपि
 विहिताकरणेप्रतिषिद्धसेवने वा प्रायश्चित्तमनर्थकम् । कुतः—

न हि कर्म क्षीयत इति ॥ ६ ॥

हिशब्दो यस्मादर्थे । यस्मात्कृतं कर्म फलप्रदानमन्तरेण न क्षीयते प्रायश्चित्तै, ततश्चात्मसंस्थं कर्म आविनाशात् फलं ददाति । तथाऽऽह शङ्ख —

यथा पृथिव्यां बीजानि रत्नानि च पयोनिधौ ।

एवमात्मनि कर्माणि तिष्ठन्ति प्रभवन्ति च ॥

इति । तत्फलप्रदानोत्तरकालं स्वयमेव विनश्यति । बीजवीर्यमिवाङ्कुरे । तथा श्रुतिः—‘पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन’ इति । न चेह केवलस्सुखोपभोगः कस्यचिदुपलभ्यते येनानुमीयेतास्य प्रायश्चित्तनाशुभ कर्म हीयत इति । यानि तु श्रौतानि प्रायश्चित्तानि तानि ‘भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति’ इत्येवमादीनि निमित्ते कर्माङ्गानि न दोषनिर्हरणार्थानि । लोकेऽपि च घटस्य छिद्रस्य जत्वादिना कार्यसामर्थ्याधानमात्रं क्रियते न पूर्ववत् प्रत्यापत्तिः । न चाशुभस्यात्मान व्याप्यावस्थितस्यापनोदः शक्यते कर्तुं, उदकव्यापिन इव लवणस्य । प्रायश्चित्तजनितेन धर्मेणाधर्मोऽभिभूयते न तु विनाश्यते । औष्येनेवोदकशीतत्वं, पुनरपि शीतभावदर्शनात् ॥

कुर्यादित्यपरम् ॥ ७ ॥

कुर्यात् प्रायश्चित्तमित्यपर दर्शनम् । न विद्यते अस्मात्परमित्यपरं सिद्धान्त इत्यर्थः । आपत्कल्पधर्मानुष्ठाने तावद्वचनेन विधीयमानस्य वचनान्तरेण प्रायश्चित्तमपि दर्शितम् । अनापद्यपि प्रायश्चित्तमर्थवदेव । कथम्? जपादिनिमित्तदुःखोपभोगेनैव क्षीयते, तत्करणत्वाज्जपादिनिमित्तस्य दुःखानुभवस्य, दीर्घकालिकोऽल्पकालिकेन क्षीयत एव, यथा दीर्घकालिको रोगो लोकेऽल्पकालिकव्यथेनौषधपानेन क्षीयते ॥

कथं पुनरिदमवगम्यते यथा प्रभूतदुःखफलोऽधर्मोऽल्पेन दुःखोपभोगेन क्षीयत इति । आगमादवगम्यते । तं च दशयति — ‘पुनस्स्तोमेनेष्ट्वा पुनस्सवनमायन्तीति विज्ञायते, ब्राह्म्यस्तोमैश्चेष्ट्वा, हरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते, अग्निष्टुताऽभिशस्यमान याजयेत्’ इति च ॥

अयमस्याभिप्राय — आगमगम्य एवायमर्थः इदं धर्मसाधनमिदमधर्मसाधनमिति । अस्मिन् कृते अधर्मः क्षीयत इति नोपपत्तिगम्यः, प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तराविषयत्वात् । तेन यावत् उषपत्तय उक्ताः प्रायश्चित्ताकरणे, तास्सर्वा आगमविरोधादेव निरस्यन्ते । यदुक्तं न हि घटस्य छिद्रितस्य जत्वादिप्रतिपूरणेन प्रत्यापत्तिरस्तीति, तत्रोच्यते—तत्र हि योग्यतापादनमेव विवक्षितं, न हि घटोत्पत्तिरित्यविरोधः । प्रायश्चित्तेनापि चाधर्मक्षयद्वारेण पुरुषस्य योग्यतैव क्रियत इति । यत्तूदकव्यापिलवणवदात्मव्याप्यधर्मापनयनमशक्यमिति, तद्वस्त्ररागस्येव क्षारादिभिरपनयनमित्यविरुद्धम् । यस्त्वभिभव उक्तः, असावपि सर्वं पाप्मानं तरतीत्यनेनैव श्रुतिवचनेन निरस्तः । यद्यभिभवमात्रं क्रियते तदा तरतीति वाचोयुक्त्यनुपपत्तिः । यत्तु कर्माङ्गानि प्रायश्चित्तानीति, तन्न सर्वत्र, यत्र हि निमित्तं विहिताकरणं प्रतिषिद्धसेवनं वा तत्र तद्दोषनिर्घाताय, यथा ‘तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते’ इति । यत्र नदुभयं नास्ति तत्र निमित्ते कर्माङ्गमिति ग्राह्यम् । ननु च यद्ययमर्थः आगमेन साध्यते तदा एकमेवोदाहरणं युक्तं, उदाहरणबहुत्वे प्रयोजनं वक्तव्यमिति । उच्यते विषयभेदप्रदर्शनार्थोऽनेकोदाहरणोपन्यासः । पुनस्स्तोमोदाहरणेन तावदेतत्प्रदर्शयति अप्रतिग्राह्यप्रतिग्रहदोषो नश्यतीति, ‘अप्रतिग्राह्यात्तु बहु प्रतिगृह्य पुन-

स्तोमेन यजेत इति श्रुतेः । अप्रतिग्राह्यप्रतिग्रहवचनमभक्ष्यभक्षणावद्यवदनयोरपि प्रदर्शनार्थम् । 'अभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं पुनस्तोमेन तरति' इति श्रुत्यन्तरदर्शनात् ॥

ततश्च तैर्यदा सर्वकर्मानधिकृता भवन्ति तदा—

पुनःस्तोमेनेष्ट्वा पुनस्सवनमायन्तीति विज्ञायते ॥ ८ ॥

सवनशब्देन कर्मोच्यते । पुनस्तदापत्तिः पुनरपि श्रौतस्मार्तकर्मयोग्यो भवतीत्यर्थः । आयन्तीति बहुवचनमभक्ष्यभक्षणावद्यवदनं प्रदर्शनार्थम् । विज्ञायत इति श्रुतिसंस्मरणार्थम् ॥

ब्रात्यस्तोमैश्चेष्ट्वा ॥ ९ ॥

चकारः पुनः सवनमायन्तीत्यस्यानुकर्षणार्थः । ब्रात्यस्तोमैरिति बहुवचनं चत्वारो ब्रात्यस्तोमाः श्रुतिप्रसिद्धा इति । ब्रात्या नाम अतीतोपनयनकाला, तैः यक्ष्यमाणत्वाद्ब्रात्यस्तोमाः । तथा च वसिष्ठः 'पतितसावित्रीक उद्दालकव्रतं चरेत् द्वौ मासौ यावकेन वर्तयेत् मासं पयसाऽर्धमासमामिक्षयाऽष्टरात्रं घृतेन षड्रात्रमयाचितं हविष्यं भुञ्जीत त्रिरात्रमभक्षणमहोरात्रमुपवसेदश्वमेधावभृत्यं वा गच्छेत् ब्रात्यस्तोमेन वा यजेत' इति । ब्रात्यग्रहणमप्युपपातकोपलक्षणम् । 'अपाङ्क्यानां प्राग्दुर्वालाद्गोहन्तृब्रह्मोज्झतन्मन्त्रकृदवकीर्णपतितसावित्रीकेपूपपातकम्' इति ब्रात्यस्योपपातकमध्ये पाठात् । 'ब्रात्यस्तोमेनोपपातकं विनश्यति' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । एवं चानेनोपपातकदोषा विनश्यन्तीति प्रदर्शितम् ॥

तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्व-
मेधेन यजत इति च ॥ १० ॥

सर्वं पाप्मानमित्यनेन विहिताकरणे प्रतिषिद्धसेवने च य-
त्पाप तस्य विनाश दर्शयति । ब्रह्महत्यामापि तरति महापात-
कस्यापि ब्रह्महत्यायाः सर्वार्धमगरीयस्त्वज्ञापनार्थं पृथगभिधा-
नम्, अन्यथा प्रतिषिद्धसेवनेन गृह्यमाणत्वात् न वक्तव्यम् ।
तथाच व्यास —

ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोः ॥ इति ॥

अग्निष्टुताऽभिज्ञस्यमानं याजयेदिति च ॥ ११

अग्निष्टुदाहरणेन देहान्तराधर्मनिमित्तदोषक्षय दर्शयति, अ-
भिज्ञंसनं हि न विना पुरुषापचारेण भवतीति । चकार वि-
ज्ञायत इत्यस्यानुकर्षणार्थं । इतिकरणं पृथक्पृथक् श्रुत्यन्तर-
सूचनार्थम् । एवं हि सर्वत्र विषयेऽपि श्रुतिदर्शनात् प्रायश्चित्त-
कर्तव्यमेव ।

ननु च वचनगम्यर्थे कोऽयं विचारः करणाकरणयोः प्राय-
श्चित्तस्व—स च नोपपद्यते । यदि क्रियते ‘उपनयनं ब्राह्मणस्य’
इत्यतः प्रभृति कर्तव्यमिति । उच्यते—महापातकानामभ्यासे स-
मुच्चये च प्रायश्चित्ताभावज्ञापनार्थोऽयं विचारः । महापात-
कानामभ्यासे समुच्चये च प्रायश्चित्तं न कर्तव्यं, ‘न हि कर्म
क्षीयते’ इति श्रुतिदर्शनात्, पृथक्पृथक्कर्तव्यमिति । एवंचान्येषां
मुपपातकादीनामभ्यासे समुच्चये च प्रायश्चित्तं भवति । एके
ब्रुवते—प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थोऽयं विचार इति । अपरे ब्रुवते—अका-
मकृत एव प्रायश्चित्तं न कामकृत इति । तदयुक्तम्—‘अन्ता-

वसायिनीगममे कृच्छ्राब्दोऽमत्या द्वादशरात्रः, ज्ञानपूर्वं चेत्त्रि-
रात्रं, दोषवति च कर्मण्यभिसन्धिपूर्वं' इत्यादिभिर्विरोधप्रसंगात्
अन्ये ब्रुवते—कामकृतस्य गुरुत्वख्यापनार्थोऽयं विचार इति ।
तदयुक्तम्, 'अथ खल्वयं पुरुष' इत्यत्रैव ज्ञापितत्वात् ॥

तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम् ॥ १२ ॥

तस्य याप्यकर्मण निष्क्रयणानि संशोधनानि, यथैव लोके
कांस्यादीनां भस्मादीनि संशोधनानि एवमेते अधर्माणामीति ।
तस्येत्यसति सन्देहः स्यात् किं पुनस्तोमादीन्युत जपादीनीति ।
जपो वक्ष्यमाणस्योपनिषदादेरभ्यास प्रकाशोपांशुमानसलक्षणः ।
यथाऽऽह मनु.—

विधियज्ञाजपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।

उपांशुः स्याच्छतगुण सहस्रो मानसः स्मृतः ॥

इति । तपो वक्ष्यमाणं ब्रह्मचर्यादि । होम आज्यादेर्द्रव्यस्य व्याहृ-
त्यादिमन्त्रपूर्वोऽग्नौ प्रक्षेप । उपवासः इन्द्रियाणां सर्वेषां संय-
म । तथाच पौराणिका —

व्यावृत्तिश्चैव दोषेभ्यः सहवासो गुणैरिह ।

उपवासः स विज्ञेयो न शरीरस्य शोषणम् ॥

इति । यत्तु तपोमध्ये अनाशक पठन्ति तदत्यन्तभक्तपरि-
त्यागः, क्लेशकरैः सहोपदेशात् अनाशक इत्युक्तत्वाच्च । दानं
हिरण्यादेर्द्रव्यस्य पात्रे प्रतिपादनम् । विसमास एकैकस्य नि-
ष्क्रयणत्वज्ञापनार्थः ॥

तत्र तावज्जपस्वरूपमाह—

उपनिषदो वेदान्ताः सर्वच्छन्दस्सु संहिता म-
धून्यधमर्षणमथर्वशिरो रुद्राः पुरुषसूक्तं रा-
जनरौहिणे सामनी बृहद्रथन्तरे पुरुषगति-
महानाम्नयो महावैराजं महादिवाकीर्त्यं
ज्येष्ठसाम्नामन्यतमद्वहिष्पवमानंकूश्माण्डा-
नि पावमान्यः सावित्री चेति पावनानि ॥

उपनिषदो रहस्यब्राह्मणानि । वेदान्ता आरण्यकानि । सर्व-
च्छन्दस्सु सर्वप्रवचनेषु संहिता, न पदानि क्रमो वा । सर्व-
च्छन्दस्स्विति विशेषणं न स्वशाखायामेवेति ज्ञापनार्थम् । मधूनि
'मधु वाता ऋतायते' इत्यादीनि मधुशब्दसंयुतानि । अघर्षणं 'ऋतं
च सत्यं च' इत्यादि । अथर्वशिरोऽथर्ववेदे प्रसिद्धम् । रुद्राः
'नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्यादिरुद्रशब्दयुक्ताः । पुरुषसूक्तं 'स-
हस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि । राजनरौहिणे 'इन्द्रं नरो नेमधि-
ता हवन्ते' इत्यस्यामृचि गीते सामनी । यजुषोरप्येवनामत्वात्
सामग्रहणम् । बृहत् 'त्वामिद्धि हवामहे' इत्यस्यामृचि गीतम् ।
रथन्तरं 'अभि त्वा शूर नोनुमः' इत्यस्यामृचि गीतम् । पुरुष
गतिः 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य' इत्यस्यां गीतम् । महा-
नामन्यः 'विदा मघवन्' इत्यस्यां साम । महावैराज 'पिवा
सोमम्' इत्यस्यामृचि गीतम् । महादिवाकीर्त्यं 'विभ्राड्बृहत्पि-
बत्' इत्यस्यां साम । ज्येष्ठसाम्नां अन्यतमत् 'शनो देवीः' 'चित्रं
देवानाम्' इत्यनयोः तृचेष्वेकं साम । बहिष्पवमानं 'उपास्मै

गायता नरः' इत्याद्याः । कूटमाण्डानि 'यद्देवा देवहेलनम्' इत्यादीनि यजूंषि । पावमान्य, पवमानलिङ्गानि 'स्वादिष्टया मदिष्टया' इत्यादीनि । सावित्री प्रसिद्धा । चशब्दोऽनुक्तोपसङ्गार्थः, ततश्च सामादीनि स्मृत्यन्तरोक्तानि द्रष्टव्यानि । इति-शब्दः प्रकारवाची एवंप्रकारा एवेति । तथाच स्मृत्यन्तरपठितानां शिवसकलपादीनामेव ग्रहणं द्रष्टव्यम्, न चापठितानां श्रीसूक्तादीनाम् । विसमासः एकैकस्यैव पावनार्थः । ननु च जपस्य निष्क्रयत्वेनोक्तत्वात् तत्साधनत्वाच्चैषां पावनत्वं सिद्धमेवेत्यनर्थकं पावनग्रहणम् । उच्यते—निमित्तादन्यत्राप्येषां पवित्रत्वज्ञापनार्थं पावनग्रहणमिति ॥

इदानीं जपादिप्रवृत्तस्थाहारनियममाह—

पयोव्रतता शाकभक्षता फलभक्षता प्रसृतयावको हिरण्यप्राशनं घृतप्राशनं सोमपानमिति मेध्यानि ॥ १४ ॥

पयोव्रतता क्षीराहारता । व्रतग्रहणादुपवासन्यायो द्रष्टव्यः । शाकं प्रसिद्धम् । फलं आम्रफलादि । प्रसृतयावकः, प्रकरणात् प्रसृतयावकाशनमिति वक्तव्ये एवमभिधानं स्मृत्यन्तरोक्तविध्युपसङ्गहणार्थम् । तथाऽऽहोशना—'स्नातः शुचिर्भूत्वोदितेषु नक्षत्रेषु ताम्रभाजने प्रसृतयावकं श्रपयेत् यथा यवागूर्भ-वति । तस्मिन् श्रपणकाले रक्षां कुर्यात् नमो रुद्राय भूतानां पतये पर्वतानां पतये त्वमिमां रक्षस्वेत्यनेन मन्त्रेण । ततः प्रणवेनावरोप्य देवस्य त्वा सवितुरित्यादिनोत्पूय सावित्र्याऽभिघार्थं ततोऽभिमन्त्रयते—

यवोसि धान्यराजोसि वारुणो मधुसंयुतः ।
 निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतः ॥
 वाचा कृत कर्मकृतं मनसा दुर्विचिन्तितम् ।
 अलक्ष्मी कालकण्ठी च सर्व पुनीत मे यवाः ।
 महापातकसंयुक्त दारुणं राजकिल्बिषम् ॥
 स्त्रीबालवृत्तधर्म च सर्व पुनीत मे यवा ।
 सुवर्णस्तैन्यमवत्यमयाज्यस्य च याजनम् ॥
 ब्राह्मणानां परीवादं सर्व पुनीत मे यवाः ।
 श्वसूकरावधूतं च काकायुच्छिष्टमेव च ॥
 मातापित्रोरशुश्रूषां सर्व पुनीत मे यवाः ।
 गणान्नं गणिकान्नं च शूद्रान्न शवसूतके ॥
 चोरस्यान्नं तथाऽभक्ष्यं सर्व पुनीत मे यवाः ।

इत्येतैः षड्भिः, ततो 'ब्रह्मा देवानाम्' इति प्राश्य 'प्राणाय त्वा'
 इत्यादिभिस्ततो यथाकामं सर्वं प्राश्नीयात् षड्रात्रं ततो निय-
 मातिक्रमजात्प्रतिषिद्धसेवनजात् अभक्ष्यमक्षणजादुपपातकजाञ्च
 सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते । सप्तरात्रं पीत्वा ब्रूणहत्यां गुरुतल्पसुव-
 र्णस्तैन्यसुरापानादि पुनाति । एकादशरात्रं पीत्वा पूर्वकृतानि पा-
 पानि नुदति । एकविंशतिरात्रं पीत्वा गणान् पश्यति गणाधिपतिप-
 श्यति विद्याः पश्यति विद्याधिपति पश्यति । एवमहरहरनत्याहारो
 यवाग्नं प्राश्नीयात्' इति । हिरण्यादीनि प्रसिद्धानि । इतिकरणेन
 प्रकारवाचिनाऽन्येषां पञ्चगव्यादीनामपि प्राशनं द्रष्टव्यम् । पुनः-
 पुनः क्रियापदाभ्यासः एकैकस्य मेध्यत्वज्ञापनार्थः ॥

इदानीं जपादीनां स्थानमाह—

सर्वे शिलोच्चयाः सर्वाः स्रवन्त्यः पुण्या हृदा-

स्तीर्थानि ऋषिनिवासगोष्ठपरिष्कन्दा इति देशाः॥

सर्वे शिलोच्चया पर्वताः, उपारेष्टात्पुण्या इत्युपादानाद-
पुण्यानामपि ग्रहणार्थं सर्वग्रहणम् । पुण्याः कैलासादयः, अपु-
ण्याः अविवाक्षिता । पुण्या नद्यः गङ्गादयः, अपुण्याः क्षुद्रनद्यः ।
पुण्या हृदाः अशाण्याः श्रीपुष्करादयः । तीर्थानि कन्यातीर्थादीनि ।
ऋषिनिवासाः वसिष्ठाद्याश्रमाः । गोष्ठं प्रसिद्धम् । परिष्कन्दः दवा-
लयः ॥

सुराणां च परिष्कन्दः ब्राह्मणं च वनस्पतिम् ।

कुर्यात्प्रदक्षिणं नित्यं वाराहं वामनं तथा ॥

इति शिष्टस्मरणात् । इतिकरणमन्येषां पुण्यारण्यादीना-
मुपलक्षणम् । एवञ्च नैमिशारण्यादयो द्रष्टव्याः । विसमास उक्त-
प्रयोजनः ॥

इदानीं तपस्स्वरूपमाह—

ब्रह्मचर्यं सत्यवचनं सवनेषूदकोपस्पर्शनमार्द्र-
वस्त्रताऽधश्शायिताऽनाशक इति तपांसि॥

ब्रह्मचर्यादि प्रसिद्धम् । सवनशब्देन पूर्वाह्णमध्यदिनापराह्ण-
उच्यन्ते, बहुवचनात् । इतिकरणं प्राणायामादीनामुपसङ्गार्थम् ।
तथाऽऽह कवचम्—‘उपस्थपायुमनोवाक्श्रोत्रत्वग्घ्राणचक्षुर्जिह्वाक-
तानां पापानामहरहः सायंप्रातस्त्रीन् प्राणायामान् धारयेत् ।
शूद्रान्नभोजनतत्स्त्रीगमनतत्प्रतिग्रहेषु समुच्चितेषु सप्ताहं सप्त
प्राणायामान् धारयेत् । पृथक्पृथक् त्रयहम् । अभक्ष्याभोज्यापेयाले-
ह्यानां प्राशने अपुण्यानां मधुमांसघृततैललाक्षालवणदाधेश्वारक्षी-

रवर्जितानां विक्रये च द्वादशाहं द्वादशद्वादश प्राणायामान्
धारयेत् । उपपातकेष्वर्धमास द्वादशद्वादश प्राणायामान् धारये-
त् । पातकसमानां चतुर्मासं द्वादशद्वादश प्राणायामान् धारयेत् ।
अथ पतनीयेषु षण्मास द्वादशद्वादश प्राणायामान् धारयेत् ।
गुरुतल्पसमानां संवत्सरं द्वादशद्वादश प्राणायामान् धारयेत् ।
अथाप्युदाहरन्ति -

सव्राहृतिका. सप्रणवा प्राणायामास्तु षोडश ।

अपि ब्रूणहन मासात्पुनन्त्यहरह कृताः ॥

इति । एवमन्येषामाजस्रिकाणां जपादीनां कालविशेषो विज्ञा-
तव्यः, इति । तथाच पौर्णिका —

प्राणायामा. ब्रह्मचर्य मौन चैव निराशनम् ।

इत्येतत्तपसो रूप ध्यान च परमेष्ठिनः ॥ इति ॥

होमाः कूश्माण्डगणहोमादयः स्मृत्यन्तरे प्रसिद्धाः । यथाऽऽ
होशना—‘अगम्यागमने सुवर्णस्तेये निक्षेपहरणे गर्हितान्नादि
भोजने अभक्ष्यभक्षणे पर्वमैथुने रजस्वलागमनेऽयाज्ययाजने पौ-
र्णमास्या लुप्तकेशनखश्मश्रुः स्नातः ततः प्रभृति कूश्माण्डैर्जुहुया-
च्चतुर्भिः सकृद्धृत सप्ताहं द्वादशाहमर्धमास मासम्’ इति ।
यथाऽऽह व्याघ्रः—‘पातकोपपातकमहापातकानामन्येषां च स-
र्वेषां पापानां पूर्वं कृतानामपि गणहोमं कुर्यात् सकृत्कृतेनापि
सर्वं तरति किं पुनरभ्यासनेति । अथाप्युदाहरन्ति -

वैश्वानरी व्रातपती पवित्रेष्टि तथैव च ।

ऋतावृतौ प्रयुज्जानः पुनाति दशपौरुषम् ॥

इति विज्ञायते विज्ञायते’ इति प्रसिद्धत्वादेव त्रानुपादानम् । त-
थैवोपवासस्यापे ॥

इदानीं दानसाधनं दर्शयति—

हिरण्यं गौर्वासोऽश्वो भूमिस्तिला घृतमन्नमि-
ति देयानि ॥ १७ ॥

हिरण्यादीनि प्रसिद्धानि । इतिकरण रत्नादीनामुपस-
ङ्गार्थम् ॥

कालमिदानीमाह —

संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चतुर्विं-
शत्यहो द्वादशाहः षडहस्त्रयहोऽहारात्र
इति कालाः ॥ १८ ॥

इतिकरणात्केवला रात्रिरहश्च गृह्यते ॥

इदानीं प्रतिपादयमान्त्यात्प्रायश्चित्तोपदेशो न शक्यत इत्यत
आह—

एतान्येवानादेशो विकल्पेन क्रियेरन्, एनस्सु
गुरुषु गुरूणि लघुषु लघूनि ॥ १९ ॥

एतान्येव जपादीनि । एवेत्यवधारणार्थः । यदि हि ‘एता-
न्यनादेशो’ इत्येतावदुच्येत ततो यत्र स्वशब्देन प्रायश्चित्तानि
नोपदिष्टानि तत्रैव जपादीनां कल्पना स्यात् । एवकारादुपदि-
ष्टेऽप्यभ्यासान् प्रतिपूरणसिद्धिः । अनादेशो यत्रान्यत्प्रायश्चित्तं
नोपदिष्टमित्यर्थः । अनादेश इत्यसति उपदिष्ट एव तैः सह
भवतीति । विकल्पेन विविधाभिः कल्पनाभिरित्यर्थः । क्वचिज्जप
एव क्वचित्तप एवेत्यादि । क्रियेरन् । एतस्मिन्नसति यथोपदिष्टानां
जपादीनां द्विसमुच्चयत्रिसमुच्चयादिकल्पनं न स्यात् । सति तु

तस्मिन् कचिज्जपः कचित्तपश्च दानं चेत्यादिकल्पनासिद्धिः ।
 क पुनरेषां कल्पनेत्यत आह—एनसि पापे गुरुणि गुरुणि महान्ति
 प्रायश्चित्तानि लघुनि अल्पे लघूनि अल्पानि प्रायश्चित्तानि । कथम-
 धर्मस्य गौरवलाघव विज्ञायत इति चेदुच्यते—अभिसन्ध्यनभिस-
 न्ध्यभ्यासादिभिः । यथाऽऽह आपस्तम्बः—‘यः प्रमत्तो हन्ति प्राप्त
 दोषफलं, सह सङ्कल्पेन भूय’, एवमन्येष्वपि दोषवत्सु कर्मसु,
 तथा पुण्यफलेषु यथा कर्माभ्यासः’ इति । यत्र तु प्रतिषेध एव
 केवलः, तत्रापि राजदण्डापेक्षया, स्मृत्यन्तरे वा निन्दार्थवादफल-
 विपाककथनेन पीडाद्यतिशयापेक्षया वा गुरुत्वादि वेदितव्य-
 मिति॥

**कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चि-
 त्तं सर्वप्रायश्चित्तम् ॥ २०॥**

कृच्छ्रादिस्वरूप वक्ष्यति । सर्वप्रायश्चित्तं न केवलमनादे-
 शेऽपीत्यर्थः । सामर्थ्याद्यपेक्षया गुरुणि लघुनि वा प्रकाशे
 रहस्ये चेति । चान्द्रायणस्य पृथगभिधानं कृच्छ्रातिकृच्छ्रयो-
 रस्थाने चान्द्रायणस्यैव केवलस्य कल्पनार्थम् । एव च त-
 स्यापि स्थाने तयोरपि कल्पनासिद्धिः । व्यस्तानामपि कल्प-
 नार्थमिति करणम् । ततश्च कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ सम्भूय सर्वप्राय-
 श्चित्तं, केवलं चान्द्रायणमपि सर्वप्रायश्चित्तमिति । एकवचन-
 समस्तानामपि कल्पनार्थम् । केचिदितिकरणं पराकस्याप्युप-
 सङ्गहार्थमिति व्याचक्षते । यथाऽऽह मनु —

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।

पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापप्रणाशनः ॥

इति । प्राजापत्यचान्द्रायणयोः स्थाने पराको द्रष्टव्यः । कुतः ?
तुल्यदण्डदर्शनात् । यथाऽऽह लोकाक्षिः—

त्रयस्त्रिंशत्पणानां तु प्राजापत्यस्य दापयेत् ।
शत सपादं दाप्यं स्यात् तथा सान्तपनस्य तु ॥
अतिकृच्छस्य तु तथा सप्तषष्टिश्चतुःशतम् ।
कृच्छ्रातिकृच्छयोश्चैव पणपञ्चशतं तथा ॥
दापयेच्च पराकस्य पणपञ्चशतं तथा ।
त्रयस्त्रिंशाधिकं दण्डमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ॥

इति । प्रायश्चित्तं निष्क्रयणमित्यर्थः । एवंच सति सर्वनिष्क्रय-
णमिति वक्तव्यमिति चेत्, अत्रोच्यते—यन्निष्क्रयणार्थं क्रियते तस्य
प्रायश्चित्तमिति संज्ञा भवतीति ज्ञापनार्थम् । अन्वर्थसंज्ञार्थं
गुरुसंज्ञाकरणं । तथाऽऽह व्याघ्रः -

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं संयम उच्यते ।
तपः संयमसंयुक्तं प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ॥

इति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये एकोनविंशोऽध्यायः.

याप्यकर्मसम्बन्धे प्रायश्चित्तविधिरुक्तः । तत्र यदि पिता
याप्यकर्मसम्बन्धी भवति तदा पुत्रः किं कुर्यादित्यत आह—

त्यजेत्पितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थया-
जकं वेदविष्ठावकं भ्रूणहनं यश्चान्तावसा-
यिभिः सह संवसेदन्तावसायिन्याम् ॥ १ ॥

त्यजेत् वक्ष्यमाणेन विधिना । पितरमिति पितृवचनाद्-
ण्डापूपिकया पुत्रादीनामर्थसिद्धस्त्यागः । राजघातक राजान
न्यायवृत्तमभिचारेण यो हिनस्ति स त्यक्तव्यः । एवञ्चान्यायवृ-
त्तमाभिचारेण प्रमापयतो नास्ति त्यागः । तथा पुराण उक्तम् —

चातुर्विद्य हतं तेन यो हिनस्ति महीपतिम् ।

बहिष्कार्यं स सर्वेण पापकर्मा न मन्त्रतः ॥

इति । यत्तु वक्ष्यति 'न कर्हिचित् मातापित्रोरवृत्तिः' इति, त-
दन्यत्र द्रष्टव्यम् । शूद्रयाजक शूद्रस्य यो निषादस्थपतीष्टि
कारयति, तस्येष्टिविधानात् । एव तर्हि भ्रूणहत्यायां सर्वस्य
चोदनावद्द्रष्टव्यम् । शूद्रार्थयाजक यः शूद्रार्थमधिगम्य यागं
करोति । तथाऽऽह मनुः—'ये शूद्रादधिगम्यार्थम्' इति । वेद
विप्लावक अनध्याप्याध्यापकम् । भ्रूणहा ब्रह्महा, तद्ब्रह्मण प-
तितोपलक्षणम् । यथाऽऽह मनुः—

पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहि ।

निन्दितेऽहनि सायाहे ज्ञात्यृत्विग्गुरुसनिधौ ॥

इति । यश्चान्तावसायिभिः सह संवसेत् । अन्तावसायिन चाण्डा-
लादयः । यथाऽऽहङ्गिराः—

चण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहकस्तथा ।

मागधायोगवौ चैव सप्तैतेऽन्तावसायिनः ॥

इति । तैः सहैकत्रावस्थाने वसति, चकाराच्चाक्रिकादिभिश्च ।
यथाऽऽह कण्व —

चाक्रिकः पुलकसो जम्भ खरजीवी प्रदीपकः ।

एते च शूद्रप्रभवाः अस्पृश्याः परिकीर्तिताः ॥

इति । अन्तावसायिन्यां संवसेदिति सम्बन्धः, तथा सह मै-
थुनमाचरतीत्यर्थः । अथ किमेतेषु राजघातकत्वादिषु निमित्तेषु

सत्सु पतितत्वं भवति उत न भवतीति सन्देहः । किञ्चातः ? यदि तावद्भवति ततो 'ब्रह्महा सुराप' इत्यत्रैवेषां पाठं कृत्वा 'त्यजेत्पतितं पितरम्' इत्येतावदेव वक्तव्य, एवंचेह भूण हनमिति न वक्तव्य भविष्यति । अथ न भवति, ततस्त्यागो न युज्यते । स्मृत्यन्तरेऽपि पतितत्वसयोग एव त्यागविधिरुक्त । तथाच दर्शतो मानवश्लोक — 'पतितस्योदक कार्यम्' इत्यादि । अत्रोच्यते—पतितत्व तावत् भवत्येषु निमित्तेषु । तथाऽपि पातकिमध्ये न पाठित प्रायश्चित्तलाघवार्थम् । भूणहग्रहण तत्साम्यापादनेन तत्समप्रायश्चित्तज्ञापनार्थम् । यत्र समीक्रियते तत्र हीनताऽपि गम्यते यथा राजसमो मन्त्रीति । एषां मध्ये केषांचित्प्रायश्चित्तं श्रूयते 'राजन्यवधे षड्वार्षिकम्' इत्यादि । तथा—'अन्तावसायिनीगमने कृच्छ्राब्दः' इत्यादि । येषां नोपलभ्यते तेषां सर्वप्रायाश्चित्तं कल्प्यम् । एवं सर्वत्र समीकरणविषये सर्वप्रायश्चित्तमेव द्रष्टव्यम् । एवं तर्हि तुल्यप्रायश्चित्तत्वात् कौटसाक्ष्यादीनामिह पाठं प्रसज्येतेति चेत्, उच्यते—एतेष्वेव पतितेषु पिता त्यक्तव्यो न त्वन्यत्रेति भेदारम्भः । अत्र राजघातादिष्वबुद्धिपूर्वेष्वपि पतितत्व द्रष्टव्यम् । कुत ? सहोपादष्टानां मध्ये एकस्याबुद्धिपूर्वविषयेऽपि पतितत्वदर्शनात् । यथाऽऽह मनुः —

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ इति ॥

अयेदानीं तस्य त्यागविधिरुच्यते—

तस्य विद्यागुरुन्योनिसम्बन्धांश्च सन्निपात्य स-
र्वाण्युदकादीनि प्रेतकर्माणि कुर्युः ॥ २ ॥

तस्य त्याज्यस्य, नात्मनः विद्यागुरवः आचार्यगुरूपाध्या-
याः बहुवचनप्रयोगात् त्रीनपि । योनिसम्बन्धाः मातुलमाताम-
हादयः । तत्रापि बहुवचनमुक्तप्रयोजनम् । चकारादृत्विग्याज्या-
दयश्च । सन्निपात्य एकीकृत्य अयमेवकर्मा त्यक्ष्याम्यहमेनमिति
प्रकाश्य पुत्रादयो ज्ञातयो जीवत एव सर्वाण्युदकदानश्राद्धा-
दीनि प्रेतकर्माणि कुर्यु ॥

पात्रं चास्य विपर्यस्येयुः ॥ ३ ॥

अस्य त्याज्यस्य पात्रं च विपर्यस्येयुः त एव ज्ञातयः ।
विपर्यासोऽनुदकीकरणम् । उदकदानेन समुच्चयार्थश्चकार । श्रा-
द्धकर्मानन्तरं मा भूदिति ततश्चोदकदा । कृत्वा पात्रविपर्यासं
च कृत्वा श्राद्धं कुर्यादिति द्रष्टव्यम् ॥

कथं विपर्यस्येयुरित्यत आह—

**दासः कर्मकरो वाऽवकरादमेध्यपात्रमानीय
दासीघटात्पूरयित्वा दक्षिणामुखः पदा वि-
पर्यस्येदमुमनुदकं करोमीति नामग्राहम् ॥**

दासो ध्वजाभृतादि ।

ध्वजाभृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदात्रिमौ ।

पैतृको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥

इति । कर्मकरो भृतकः । सम्भवतश्चानयोर्विकल्पः । अवकरात्
वर्चस्थानात् अशुचि पात्रं किञ्चिदादाय दासी परिचारिणी
तस्या घटात् पूरयित्वा । अनेनैवाऽन्यत्र दासीघटस्याशुचित्वं
द्रष्टव्यम् । दक्षिणामुखो भूत्वा पदा पादेन विपर्यस्येत् अपस-

व्यमुत्सृजेत् 'अमु देवदत्तमनुदक करोमि' इति मन्त्रमुक्त्वा ।
अमुमित्यनेनैव नामग्रहणस्य सिद्धत्वात् नामग्राहमिति विस्पष्टार्थः,
न तूपांशु जपेदिति ॥

तं सर्वेऽन्वालभेरन्प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखाः ॥

त दास कमकरं वा सर्वे सपिण्डा न केवल पुत्र अ-
न्वालभेरन् सस्पृशेयुरित्यर्थः । प्राचीनावीतिनः अपसव्ययज्ञोपवी-
तिनः । मुक्तशिखा शिखा विकीर्य । अनेनैव ज्ञापकेनान्यस्मि-
न्नाचमनादौ शुभकर्मणि मुक्तशिखस्यायोग्यत्व द्रष्टव्यम् ॥

विद्यागुरवो योनिसम्बन्धाश्च वीक्षेरन् ॥ ६ ॥

न तु स्पृशेयुरित्यर्थः । चकारादृत्विगादयश्च ॥

अप उपस्पृश्य ग्रामं प्रविशन्ति ॥ ७ ॥

एवमिदं कर्म कृत्वा ततः स्नात्वा गृहान् गच्छन्ति । एक-
स्मिन्नेवाहनि श्राद्धादीनि गम्यन्ते । ग्रामप्रवेशोपदेशाच्च बहिरद-
कर्तव्यमिति ॥

अत ऊर्ध्वं तेन सम्भाष्य तिष्ठेदेकरात्रं जप-
न्सावित्रीमज्ञानपूर्वम् ॥ ८ ॥

अतस्त्यागादूर्ध्वं तेन त्यक्तेन सह सम्भाष्य सम्भाषणं कृत्वा ।
अज्ञानादिदं प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । तिष्ठेदित्येकवचनात् ज्ञात्यादेर-
न्योऽपि, अधिकारात् ज्ञातय एव । एकरात्रमहोरात्रं न भुञ्जी-
तेत्यर्थः । सावित्रीं जपन् ॥

ज्ञानपूर्वं चेन्निरात्रम् ॥ ९ ॥

यस्तु बुद्धिपूर्वम्नेन सम्भाषेत स त्रिरात्रमेवविधोक्तं वि-
धिमातिष्ठेत् । तावच्चैतदेव यावदसावकृतप्रायश्चित्तः । कार्या-
न्तरसम्भाषण इदं, न पथि प्रश्नादौ । तत्र पराशरोक्तं द्रष्टव्य—

श्रुते निष्ठीविते चैव दन्तस्पृष्टे तथाऽनृते ।

पतितानां भाषणे च दक्षिण श्रवण स्पृशेत् ॥ इति ॥

यस्तु प्रायश्चित्तेन शुद्धयेत्तस्मिन् शुद्धे शात-
कुम्भमयं पात्रं पुण्यतमाद्भूदात्पूरयित्वा
स्रवन्तीभ्यो वा तत एनमप उपस्पर्श-
येयुः ॥ १० ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थः । यस्तु प्रायश्चित्तेन शुद्धयेत् न राज-
दण्डेन । एवञ्च ब्रुवता अन्यत्र राजदण्डस्यापि शुद्धिकारणत्व
मुक्तम् । ततश्चान्यत्र राजदण्डितस्यापि शुद्धिवैदितव्या । तस्मिन्
शुद्धे लोकसमक्ष चरितप्रायश्चित्त इत्यर्थः । शातकुम्भमयं पात्रं
सौवर्णं पात्रं अतिशयेन पुण्याद्भूदात् अशोष्यप्रायात् पूरयित्वा
स्रवन्तीभ्यो वा सदाप्रवाहाभ्यो नदीभ्यः । बहुवचनात् बह्वी-
भ्यः । सम्भवतो विकल्पः । ततस्तस्मात् पात्रादेनं कृतप्रायश्चित्तं
स्नापयेयु वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैः । सामर्थ्यात् पूर्वं परित्यक्तार ॥

अथास्मै तत्पात्रं दद्युस्तत्प्रतिगृह्य जपेच्छान्ता
द्यौश्शान्ता पृथिवी शान्तं शिवमन्तरिक्षं
यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्येतैर्यजुर्भिः पा-
वमानीभिस्तरत्समन्दीभिः ॥ ११ ॥

अथ अनन्तरमस्मै स्नाताय तत् पूर्णपात्र दधुः । तत्प्रति-
गृह्ये मन्त्रं जपेत् । कैर्मन्त्रैः ? शान्तेति वक्ष्यति । एतैरेवोक्तैः
शान्ता द्यौरित्यादिभिर्ह्यजुर्मिः । पावमानीभिः । 'पवमानः सुवर्जनः'
इत्यष्टाभिः तरत्समन्दीभिश्चतसृभिः ॥

कूश्माण्डैश्चाज्यं जुहुयात् ॥ १२ ॥

जुहुयादित्येकवचननिर्देशादेक एव जुहुयात्, न सर्वे ज्ञा-
त्यादयः । तेषां मध्ये योग्यस्येदं द्रष्टव्यम् । कूश्माण्डैः 'यदेवा'
देवहेडन' इत्यादिभिराज्यं जुहुयात् । चशब्दान्महाव्याहृतिभिश्च ॥

हिरण्यं ब्राह्मणाय दद्याद्गां वाऽऽचार्याय च ॥

होमान्ते सुवर्णं ब्राह्मणाय दद्यात् गुणातिशययुक्ताय, ब्रा-
ह्मणस्यैव प्रतिग्रहाधिकारे ब्राह्मणग्रहणात् । कृतप्रायश्चित्तस्येदं,
न होमकर्तुः । गां वा आचार्याय च । चकारो हिरण्याधिकारार्थः ।
आचार्याय होमकर्त्रे गां वा हिरण्यं वा दद्यात् । एतस्य द्वय
मुख्यं, गौर्हिरण्यमपि द्रष्टव्यम्, समविकल्पोपदेशात् ॥

यस्य तु प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं मृतशुद्ध्येत् ॥

यस्य तु प्राणान्तिकं मरणान्तिकं प्रायश्चित्तमुपदिष्टम्,
यतमानो म्रियेत, असौ मरणादेव शुद्ध्यति । ज्ञायमानमप्येत-
दुच्यते--प्रत्युद्धारे सत्यपि सपिण्डताप्रतिषेधार्थम् । तुशब्दो
विशेषार्थः । प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तमध्यवस्य प्रायश्चित्तमध्ये यदि
म्रियेत तदाऽपि शुद्ध्यति विशेषतः कृतप्रायश्चित्तो मृत इति ।
तथाऽऽह व्यासः—

यतमानस्सदा धर्मे म्रियते यदि मध्यतः ।

प्राप्नोत्येव हि तत्सर्वं अत्र मे नास्ति संशयः ॥ इति ॥

सर्वाण्येव तस्मिन्नुदकादीनि प्रेतकर्माणि कुर्युः॥

सर्वाण्येवोदकश्राद्धादीनि यावन्ति प्रेतसंस्कारकर्माणि तानि सर्वाणि तस्मिन्त्यो मरणान्तिकप्रायश्चित्तक पूतो यश्च प्रत्युद्ध-
नो यश्चान्तरा म्रियते । अर्थादेतद्व्यतिरिक्तस्य न कार्याणि ।
सर्वशब्दादाशौचमपि सपिण्डाः कुर्युः ॥

एतदेव शान्त्युदकं सर्वेषूपपातकेषूपपातकेषु ॥

एतदेव यदनन्तरमुक्त शान्त्युदकमिति शान्ता द्यौरित्या-
दिभिरभिमन्त्रित स्नानाय यज्जलमुक्तं तदेव सर्वेषु, सर्वशब्दा-
न्महापातकसमेष्वप्युपपातकेषु वक्ष्यमाणेषु तत्प्रायश्चित्तादावेत-
दपि कर्तव्यमिति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये विंशोऽध्यायः

पतितानां त्यागविधिरुक्तः । के पुनस्ते? इत्यत आह—

ब्रह्महसुरापगुरुतल्पगमातृपितृयोनिस्सम्बन्धाग-
स्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासिपतिता-
त्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः ॥ १ ॥

ब्रह्महा ब्राह्मणवधकृत् । सुरापः त्रिप्रकारायां सुरायां यस्य
या प्रतिषिद्धा तां पीतः । यथाऽऽह मनु.—

गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।

यथैवैका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमै ॥

इति । गुरुतल्पगः—गुरोराचार्यस्य । तल्पशब्देन शयनवा-
चिना भार्या लक्ष्यते, तां मैथुनाय यो गच्छति । मातृस-

म्बन्धागं मातृपक्षे अर्वाक् पञ्चमात् या कन्या तां वरयिता ।
पितृसम्बन्धागः पितृपक्षेऽपि सप्तमादर्वाक् । योनिसम्बन्धाग भगि-
नीभर्ता । स्तेनः सुवर्णचोरः । नास्तिक परलोकाद्यभाववादी ।
निन्दितकर्माभ्यासी निन्दितस्य प्रतिषिद्धस्य बुद्धिपूर्वं सांतत्येन
सेवकः । कर्मग्रहणात् कार्याकस्यैवेद, न वाङ्मनसयोरपचारे-
ण । ब्रह्महादीनां पतितानां यस्त्यागं न करोत्यसौ पतिता-
त्यागी । अपतितानां द्वेषादिना यः परित्याग करोत्यसावपति-
तत्यागी । एते ब्रह्महादयः पतिताः ॥

पातकसंयोजकाश्च ॥ २ ॥

ये पातकेषु प्रयोजयन्ति । चशब्दादनुमन्ता च ॥

तैश्चाब्दं समाचरन् ॥ ३ ॥

तै. सह संवत्सरं समाचरन् यानासनशयनैः । तथाच
कण्व.—

संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन् ।

यानासनशयैर्नित्यमित्याहुर्ब्रह्मवादिन ॥

इति । चकाराद्याजनादिभिः सद्योपि । तथाच वृद्धयाज्ञवल्क्य—

याजन योनिसम्बन्ध स्वाध्यायं सहभोजनम् ।

कृत्वा सद्यः पतत्येव पतितेन समाचरन् ॥

इति । अविशेषात् बुद्धिपूर्वेऽबुद्धिपूर्वे च । तत्र अबुद्धिपूर्वं लघु-
तर प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह वसिष्ठ - 'पतितसंप्रयोगं च
ब्राह्मेण वा यौनेन वा यास्तेभ्यः सकाशान्मात्रा उपलब्धास्तासां
परित्यागस्तैश्च न संवसेदुदीची दिशं गत्वाऽनश्नन् संहिताऽध्य-
यनमधीयान पूतो भवतीति विज्ञायते' इति । तत्र ब्राह्मेण वा
यौनेन वेति द्वितीयो वाशब्दो यानासनशयनानामप्युपसङ्गहार्थः ।

अधीतवेदस्यैव संहिताध्ययनसंभवात्, अनधीतवेदस्य यावता कालेन स्वशाखायाः संहिताध्ययनं समाप्यते तावन्तं कालं सावित्र्या जपो द्रष्टव्यः, 'संहिताध्ययनमधीयीत तावन्तं कालं सावित्रीं जपेत्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । तथाच तैत्तिरीयाणां स्वाध्यायब्राह्मणलिङ्गं—'अनश्नन् त्रिस्स्वाध्यायं वेदमधीयीत त्रिरात्रं वा सावित्रीं गायत्रीम्' इत्यादि । एव ब्राह्मणलिङ्गदर्शनात् वासिष्ठे अविशेषितेऽपि त्रिस्संहिताध्ययनं द्रष्टव्यम् । एकस्याध्ययनस्यैकं प्राजापत्यं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह कण्वः—

एकमध्ययनं कुर्यात् प्राजापत्यमथापि वा ।

दद्याद्वा दशसाहस्रं गवां मुष्टिं विचक्षणः ॥

इति । बुद्धिपूर्वे तु मनुनोक्तं द्रष्टव्यम्—

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।

स तस्यैव व्रतं कुर्यात् तत्संसर्गविशुद्धये ॥

इति । संवत्सरादर्वाक् व्याघ्रोक्तं द्रष्टव्यम्—

पतितेन तु संसर्गमज्ञात्वा कुरुते यदि ।

उत्सर्गं तस्य लब्धस्य कृत्वा सान्तपनं चरेत् ॥

इति । बुद्धिपूर्वे तु कण्वोक्तं द्रष्टव्यम्—

पतितेन तु संसर्गस्त्वभिसन्धिकृतो यदि ।

कृत्वा लब्धसमुत्सर्गं चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ॥

इति । सहभोजने तु लोकाक्षिराह—

पतितैस्सह भुक्त्वाऽन्नं पराकेण विशुध्यति ॥

ज्ञात्वा तु तद्रूतं कुर्यादिति धर्मविदो विदुः ॥ इति ॥

किमेषां पतितत्वमित्याह—

द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम् ॥ ४ ॥

द्विजातिकर्मभ्यः श्रौतेभ्योऽग्निहोत्रादिभ्यः स्मार्तेभ्यश्चाष्टका-
दिभ्यः हानिः तैरनधिकार इत्यर्थः कर्मभ्यो हानिरिति व
क्तव्ये द्विजातिग्रहणाच्छूद्रवदवस्थान दर्शयति । शूद्रस्यापि च
पतितत्वं प्रतिलोमवर्णवदवस्थानम् ॥

न केवल पतनम् । किञ्च —

परत्र चासिद्धिः ॥ ५ ॥

पतनीयसेवायाः प्रागपि च यदेतेन श्रेय समाचरितं
तत्फलेनासम्बन्ध इति परत्र चासिद्धिः । चशब्दादिह चाकीर्तिः ।
तदेतत्पातकपदार्थस्वरूपावधारणं द्विजातिकर्मभिरनधिकारार्थं प्रा-
यश्चित्तानुष्ठानप्ररोचनार्थं च ॥

तमेके नरकम् ॥ ६ ॥

तं कर्मभिरनधिकार परत्र च शुभस्यानुपभोग नरक म-
न्यन्ते सुहृद्भातिवर्जितस्यातीव दुःखात्पत्ते नरकोपि दुःख-
कारणत्वात् । यथाऽऽह निरुक्तभाष्यकारः—‘नरक न्यक्करण नी-
चैर्गमनं नास्यास्मिन् रमणं विद्यते’ इति । गौतमस्तु नरक-
भागिति मन्यते ॥

त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यानि मनुः ॥ ७ ॥

एषां पातकानामाद्यानि त्रीणि ब्रह्महत्यासुरापानगुरुतल्पग-
मनानि पातकान्यनिर्देश्यानि । अनिर्देश्यप्रायश्चित्तत्वात् । मनु-
राह—

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥

इति । तथा सुरापानेऽपि—

मतिपूर्वमनिर्देश्य प्राणान्तिकमिति स्मृतम् ।

इत्येवमादि द्रष्टव्यम् । प्रत्यापत्त्यभावाद्वा अनिर्देश्यानीत्युक्तम् ।
यथाऽऽह पस्तम्ब.—‘नास्यास्मिन् लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते कलमष
तु निर्हण्यते’ इति । मनुग्रहण स्मृत्यर्थस्य समस्तस्य मनुः
स्मर्तेति प्रदर्शनार्थम् । तदाहुः पौराणिकाः—

ऋचो यजूषि सामानि मन्त्रा आथर्वणाश्च ये ।

सप्तर्षिभिस्तु यत्प्रोक्तं स्मार्तं तन्मनुरब्रवीत् ॥ इति ॥

न स्त्रीष्वगुरुतल्पः पततीत्येके ॥ ८ ॥

स्त्रीषु प्रवर्तमानस्य अगुरुतल्प गुरुदारान्वर्जयित्वा अन्य-
स्त्रीगमनात् न पततीत्येके मन्यन्ते । गौतमस्तु सर्वत्र पतती
त्येवेति । सोऽयं बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वभेदेन विकल्पो द्रष्टव्यः ।
नागुरुतल्प इत्येव सिद्धे स्त्रीग्रहणं चातुर्वर्ण्यस्त्रीणामुपसङ्गह-
णार्थम्, प्रतिलोमासु पतितत्वं यथा स्यादिति । तथाऽऽह मनु.—

चण्डालान्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥

इति । एतन्नयं कृत्वा पतति न गमनमात्रेणेति चेत्, तदयुक्तम्—
गमनमात्र एव प्रायश्चित्तोपदेशात् । यथाऽऽह वसिष्ठ.—‘अ-
थापर भ्रूणहत्यायां द्वादशरात्रमभक्षो द्वादशरात्रमुपवसेदश्वमे-
धावभृथ वा गच्छेदेतेनैव चण्डालीव्यवायो व्याख्यातः’ इति ।
इदमबुद्धिपूर्वं सकृद्गमने द्रष्टव्यम् । तत्रैवाभ्यासे गुरुतल्पप्राय-
श्चित्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह मनु.—

गुरुतल्पव्रतं कुर्यात् रेतस्सिक्त्वा स्वयोनिषु ।

सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥

इति । तस्मादभ्यासे सकृद्गमने च पतितप्रायश्चित्तातिदेशात्

गमनमात्रेणापि पतत्येवेति । स्त्रीष्विति बहुवचन पूजार्थम् । स्त्री-
षु अपतितस्त्रीषु पतत्येव । यथाऽऽह कवचः—

पतितां च स्त्रियं गत्वा पतत्यज्ञानतो द्विज ।

तल्पव्रत तदभ्यासे ज्ञानतस्तद्व्रत चरेत् ॥

इति । अत्राबुद्धिपूर्वेऽभ्यासे गुरुतल्पव्रतातिदेशात् सकृद्गमने व-
सिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्—‘गुर्वीसखीं गुरुसखीं अपपात्रां पतितां च
गत्वा कृच्छ्राब्दपादं चरेत्’ इति । बुद्धिपूर्वे सकृद्गमनेऽपि त-
द्व्रतं चरेदिति द्रष्टव्यम् ॥

भ्रूणहनिहीनवर्णसेवायां च स्त्री पतति ॥९॥

यच्चैतत् ब्रह्महत्याद्युपदिष्टं एतत्पुरुषवत् स्त्रिया अपि द्रष्ट-
व्यम् । यत्तु तस्या अधिकं तदुच्यते—भ्रूणहन सेवमाना
पततीति । भ्रूणहग्रहण पतितोपलक्षणम् । हीनवर्ण शूद्रः ।
केचिदुपसर्गप्रयोगात् प्रतिलोममाहुः । यथाऽऽह वसिष्ठः—

चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या ।

पतिघ्नी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च या ॥

इति त्यागोपदेशात्, पतितात्यागे पतितत्वप्रसङ्गात् । चकारो
ब्रह्महत्यादिभिः समुच्चयार्थः । केचिद्गर्भपतनमाहुः । यथाऽऽह
वसिष्ठः—

त्रीणि स्त्रियाः पातकानि लोके धर्मविदो विदुः ।

भर्तुर्वधो भ्रूणहत्या स्वस्य गर्भस्य पातनम् ॥

इति । तत्र पतितप्रतिलोमयोः संसर्गे पुरुषवत् प्रायश्चित्तं द्रष्ट-
व्यम्—

एतमेव विधिं विद्याद्योषित्सु पतितास्वपि ॥

इति मनुवचनात् । शूद्रं सेवमाना शूद्रस्य संसर्गे कुर्वाणा

यद्यपि पतति, तथाऽऽपि आप्रजोत्पत्तेः प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् ।
यथाऽऽह वसिष्ठः—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेण सगताः ।

अप्रजाता विशुध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥

इति । तथा तत्रैव प्रायश्चित्तमप्युक्तम्—

प्रतिवर्णं चरेयुस्ता कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् ।

इति । चान्द्रायणमुत्तरं चान्द्रायणे उत्तरे चान्द्रायणान्युत्तरा-
णीति ब्राह्मणीक्षत्रियावैश्यानुक्रमेण योज्यम् । ‘शूद्रसंगताः अ-
प्रजाता विशुध्यन्ति’ इत्युक्तत्वात् क्षत्रियवैश्यसङ्गताः प्रजाता
अपि विशुध्यन्तीति द्रष्टव्यम् । तत्र क्षत्रियेण संगतायाश्चान्द्रा-
यणमुत्तरं वैश्येन सङ्गतायाश्चान्द्रायणे उत्तरे इति कल्प्यम् ।
तथा क्षत्रियायां वैश्येन सगतायां चान्द्रायणमुत्तरमिति क-
ल्प्यम् । पुरुषाणां तु प्रतिलोमगमने ‘शूद्रो ब्राह्मणी’ इ-
त्यादि वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । अनुलोमगमने तु वक्ष्यति—‘द्वे
परदारे’ इत्यादि । अत्र पतितास्वपि चतस्र एव परित्याज्याः ।
कुतः ? चतस्रस्त्विति तुशब्देन नियमवाचिना चतसृणामेव
परित्यागस्य वसिष्ठेन प्रतिपादितत्वात् । इतरेषां तु मनूक्तं
द्रष्टव्यम्—

एतमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।

वस्त्रान्नमासां देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके ॥

इति । अयमपि वक्ष्यति—‘स्त्री चातिचारिणी’ इत्यादि ॥

कौटसाक्ष्यं राजगामि पैशुनं गुरोरनृताभिर्शं-
सनं पातकसमानि ॥ १० ॥

कौटसाक्ष्यं साक्ष्ये अनृतवादित्वं ‘अन्यत्र नानृतवचने दोषः’ इ-

त्यपवादात् । राजगामि पैशुनं राजकुले परदोषकथनम् । राज-
नीति वक्तव्ये गामीति वचनाद्राजकुलादन्यत्रापि यत्पारंपर्येण
राजानं गच्छति तदपि गृह्यते । गुरोराचार्यस्य केनचिदनृत-
दोषेणाभिमुख्येन शसनमाख्यानम् । एतानि पातकतुल्यानि म
हापातकतुल्यानीति द्रष्टव्यम्, 'गुरोश्चाळीकनिर्बन्धः समानि
ब्रह्महत्यया' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । बुद्धिपूर्वव्यतिक्रम एवैषां
पातकसमत्वं, न प्रमादमोहादिभिरिति विस्मासकरणम् । एवच
प्रमादादिभिर्न दोषः ॥

अपाङ्क्त्यानां प्राग्दुर्वालाद्गोहन्तृब्रह्मोज्झतन्मन्त्र
कूदवकीर्णपतितसावित्रीकेषूपपातकम् ॥

दुर्वालात् प्राग्य उपदिष्टा अभोज्यान्नाः पतितकूटसाक्षि-
वर्जिताः । नास्तिकास्तु पातकात् पृथग्भूता एवाभोज्यान्नानां
मध्ये पठिताः । कुतः ? त्रिविधा नास्तिकाः । तथाऽऽहुः पौ-
राणिकाः—

नास्तिकास्त्रिविधा. प्रोक्ता धर्मज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः ।

क्रियादुष्टो मनोदुष्टो वाग्दुष्टश्च तथैव च ॥

उपपातकस्तु वाग्दुष्टो मनोदुष्टस्तु पातकः ।

अभ्यासात्तु क्रियादुष्टो महापातक उच्यते ॥

इति । अत्र वाग्दुष्ट उपपातकमध्ये पठितः, मनोदुष्ट पात-
कमध्ये, क्रियादुष्टो 'निन्दितकर्माभ्यासि' इत्यनेन वोक्त इति । अत्र
य उपपातकमध्ये पठितः तस्य वसिष्ठोक्त प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्—
'नास्तिकः कृच्छ्रं द्वादशरात्र चरित्वा विरमेन्नास्तिक्यात्' इति ।
यस्तु पातकमध्ये पठितः तस्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्—'एतदे-
वान्येषामपि पतनीयानामपि' इति । यस्तु महापातकः तस्या-

भ्यासात् प्राक् सर्वप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । अभ्यासे तु ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं वसिष्ठोक्तं 'अथापरं भूणहत्यायाः' इत्यादि द्रष्टव्यम् । अलमतिप्रसङ्गेन, प्रस्तुतं व्याख्यास्यामः । गोहन्ता गोघातकः । ब्रह्मोज्झः यो वेदमधीत्य प्रमादाद्विस्मरति स गृह्यते । यस्तु बुद्धिपूर्वमेव परित्यजति नास्तिक एव स, तस्य विशिष्टतरो दोष इति । एवंचात्र यः प्रमादाद्विस्मरति तस्य वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्—'ब्रह्मोज्झः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनरुपयुञ्जीत वेदमाचार्यात्' इति । इतरस्य मनूक्तं द्रष्टव्यम्—

ब्रह्मोज्झ वेदनिन्दा च कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।

गर्हितान्नाद्ययोजग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥

इति । तन्मन्त्रकृत् यो गोहन्तृब्रह्मोज्झयोः याजनादि करोति । अवकीर्णी विष्णुतब्रह्मचर्यो ब्रह्मचारी । अस्यापाङ्क्यत्वेन गृहीतत्वात् पुनर्वचनं यो ब्रह्मचारी प्रजामुत्पादयत्यसौ कृतप्रायश्चित्तोऽपि यावदसौ पुनरप्युपातकप्रायश्चित्तं न करोति तावदसौ उपपातकित्वेन वर्जनीय इति । केचिदेवं वर्णयन्ति—नैष्ठिकानैष्ठिकत्वेन गुरुलघुप्रायश्चित्तार्थं पुनर्वचनं उपकुर्वाणस्य लघु नैष्ठिकस्य गुर्विति । तदपि द्विगुणं नैष्ठिकस्य 'अवकीर्णिनो द्विगुणो दण्डः' इति कवषधर्मे द्विगुणदण्डदर्शनात् । पतितसावित्रीको ब्राह्मणः । एतेषु निमित्तेषु उपपातकं भवति । संज्ञाकरणं प्रायश्चित्तविधिनार्थम् ॥

अज्ञानाध्यापनादृत्विगाचार्यो पतनीयसेवायां

च हेयौ ॥ १२ ॥

अज्ञानादृत्विक्, अध्यापनादाचार्यः, एतयोर्निमित्तयोरपि

परित्यागः । अनभिज्ञस्यार्त्विज्यासम्भवात् तं त्यजतो यजमानस्य नास्ति दोषः । एवमाचार्योप्यालस्यादिभिः सम्यङ्नाध्यापयति तमपि त्यजतो नास्ति दोषः शिष्यस्य । पतनीयसेवायां च पतनीयस्य कर्मणः पतितेन सह यानासनादेः सेवायामाचरणे । कुतः^१ पतितौ हेयाविति वक्तव्ये पतनीयसेवायामित्युपादानात् । पतितस्यापतितत्यागिन इत्येव सिद्धत्वात् प्रागप्यब्दात् परित्यागार्थमिदं व्याख्यानम् । अत्राप्यपतितत्यागदोषः प्रसज्येतेति चेत्, अत्रोच्यते—नैव सहासनादेस्त्यागो विधित्सितः । किं तर्हि^२ ऋत्विगन्तरोपादानं आचार्यान्तरगमनं चेति । तत्र सहासनादेः त्यागं कुर्वतः स दोषः, नर्त्विगाचार्यान्तरगमनं कुर्वत इति । चकारावुपपातकिनावपि ॥

अन्यत्र हानात्पतति ॥ १३ ॥

अन्यत्र पूर्वोक्तादज्ञानाध्यापननिमित्तादन्यत्र हानात् त्यागात् पतति । ततस्तयोरन्यत्र त्यागो न कर्तव्यः ॥

तस्य च प्रतिग्रहीतेत्येके ॥ १४ ॥

तस्य च ऋत्विजमाचार्यं वा त्यजतो यः प्रतिग्रहीता ऋत्विगाचार्यो वा तस्यार्त्विज्यमध्यापनं वा यः करोतीत्यर्थः । चकारात्तेन सहाध्यायी च पततीत्येके मन्यन्ते । ज्ञानात् पतति न त्वज्ञानादिति गौतमः ॥

न कर्हिचिन्मातापित्रोरवृत्तिः ॥ १५ ॥

न कस्यांचिदप्यवस्थायां पतितावस्थायामपीत्यर्थः । अवृत्तिरशुश्रूषा सा न कर्तव्या । तस्यामप्यवस्थायां शुश्रूषितव्यावित्यर्थः । शुश्रूषा नमस्कारादिः ॥

दायं तु न भजेरन् ॥ १६ ॥

दायं तदीयं धनं न भजेरन् न गृह्णीयुरित्यर्थः । मातु-
र्दायं स्त्रीधनम् । दायाभावे आत्मीयादपि द्रव्यादशनाच्छादने
दातव्ये इति तुशब्दोपादानम् । निस्स्वयो. पतितावस्थायाम-
प्यशनाच्छादनचोदनादपतितयोरप्यर्थसिद्धम् । अत्र पतिताया
अपि मातुस्त्यागो नास्तीति द्रष्टव्यम् । कुतः ? स्मृत्यन्तरद-
र्शनात् । यथाऽऽह वसिष्ठ — ‘माता तु पुत्रं प्रति न पतति’
इत्यादि । पतितावस्थायामपि पुत्रेण माता न त्यक्तव्येत्यभिप्रा-
येण तदुक्तमिति ॥

ब्राह्मणाभिर्शंसने दोषस्तावान् ॥ १७ ॥

यो दोषेण ब्राह्मणमभियुङ्क्ते इदमेनस्त्वया कृतमित्येवमभियोगे,
यावांस्तस्य अधर्मो भवति अभियोक्तुरपि तावानेवेति । तद्यथा
पतित इत्यभियोगे पतित एव भवति । स यथा लोकैः परि-
हरणीयः तथा अभियोक्ताऽपि परिहरणीयः । तदीयेनापि प्रा-
यश्चित्तेनाधिक्रियत इति ॥

द्विरनेनसि ॥ १८ ॥

यस्त्वनृतेनाभिर्शंसनं करोति तस्य द्विगुणोऽभयोक्तुर्दोषो
भवति अनृताभिर्दनादभिर्शंसनाच्चेति । ब्राह्मणग्रहणं चात्र द्वि-
जानिप्रदर्शनार्थम् । तथा अविशेषेणैव स्मृत्यन्तरं पठितम्—

पतितं पतितेत्युक्त्वा चोरं चोरेति वा पुनः ।

वचनात्तुल्यदोषः स्यात् मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत् ॥

इति । तत्रापि पतितग्रहणमुपपातकस्याप्युपलक्षणम् । स्मृत्यन्तरे—

‘ब्राह्मणमनृतेनाभिर्शस्य पतनीयेनोपपतनीयेन वा मासमब्धक्षः

शुद्धवतीरावर्तयन् पूतो भवतीति विज्ञायते, एतेनैवाभिशास्तो व्याख्यातः' इति लिङ्गात् । एवं चात्र पातकोपपातकाभिशांसन एव दोषा न सर्वत्रेत्यत्रापि द्रष्टव्यम् । पूर्वमाख्यातुरेवायं दोष न सर्वैर्व्यवहृतस्य । तथाऽऽहापस्तम्बः—'दोषं बुध्वा न पूर्वः परेभ्यः पतितस्य समाख्याता स्यात्' इति ॥

दुर्बलहिंसायां चाविमोचने शक्तश्चेत् ॥ १९ ॥

यत्र दुर्बलस्य हिंसा विनाशो भवति तत्र तद्विमोचने विमोक्षणे शक्तश्चेत् तदविमोचने यावान् हन्तुर्दोषस्तावानस्यापि भवति । चशब्दात् श्रुद्ध्याध्यादिपीडितस्यापि भक्तौषधाच्छादनाद्यदाने शक्तौ सत्यां तद्धनने यावान् दोषस्तावानेवास्यापि भवति । ननु चाहारार्थं यः प्रमापयति तद्विच्छेदेऽपि दोष प्राप्नोतीति । उच्यते—अतुल्यत्वादाहारप्राणविच्छेदयोः । आहारविच्छेदे मूलादिभिरपि क्षुन्नवृत्तिः शक्या कर्तुं, प्राणविच्छेदे तु न कश्चिदस्ति प्रतीकार इति ॥

**अभिक्रुद्धावगोरणे * ब्राह्मणस्य वर्षशतमस्व-
ग्यम् ॥ २० ॥**

अभिक्रुद्धेन, न परिहासादिना, अवगोरणे प्रहरणोद्यमने ब्राह्मणस्यानपराधिनः । अपराधिनः आततायित्वप्रसङ्गेन न दोष इति । वर्षशतमस्वग्यं नरकपतनम् । समानजातीयविषयमिदम् । क्षत्रियादिभिः कृते—

द्विगुणं त्रिगुणं चैव चतुर्गुणमथापि वा ।

क्षत्रविद्वृद्धजातीनां ब्राह्मणस्य वधे कृते ॥

इति प्राजापत्यस्मृतिलिङ्गात् । वर्षाणामपि द्विगुणत्रिगुणत्वादि कल्प्यम् । अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणेन कृते क्षत्रविद्वृद्धजातीनां त्रिपादमर्धं पादमिति द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणक्षत्रियवत् क्षत्रियवैश्य-योरपि, एवं क्षत्रियवैश्यवद्वैश्यशूद्रयोरपि कल्प्यम् । एवं सर्वस्योत्तमस्योत्तमस्य नीचं नीचेन वधे कृते द्रष्टव्यम् ॥

निघाते सहस्रम् ॥ २१ ॥

आयुधेन पाणिना वा निघाते सहस्र वर्षाणामस्वर्ग्य, अधिकृतत्वात् ॥

**लोहितदर्शने यावतस्तत्प्रस्कन्द्य पांसून् सङ्गृ-
हीयात्सङ्गृहीयात् ॥ २२ ॥**

रुधिरोत्पादने कृते तद्रुधिरं ब्राह्मणादवसृत्य यावतः पांसून् संगृहीयात् पिण्डीकुर्यात् तावन्ति वर्षसहस्राणि नरकपतनं, अपरिमितकालमित्यर्थः । दोषविशेषकथनं प्रायश्चित्तविशेषज्ञापनार्थम् । यथाऽऽह कण्वः—

अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्र निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥

इति । प्रायश्चित्तविशेषात् दण्डविशेषो द्रष्टव्यः ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये एकविंशोऽध्यायः..

प्रायश्चित्तनिमित्तान्युक्तानि । अथेदानीं प्रतिपापं प्रायश्चित्तानि वक्तव्यानि । तत्राद्यस्य तावदाह—

प्रायश्चित्तमग्नौ सक्तिर्ब्रह्मघ्नस्त्रिरवच्छातस्य ॥१॥

प्रायश्चित्तमित्यधिकारार्थं, प्रायश्चित्तमेवैतन्नादृष्टार्थमिति ।
अग्नौ सक्तिः सङ्गः पतनमित्यर्थः । त्रिरिति पतनविशेषणम् ।
पतने अवाकिञ्छरस्त्वंच द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह मनु.—

प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाकिञ्चराः ॥

इति । कस्येदं प्रायश्चित्तं? ब्रह्मघ्नः ब्राह्मणहन्तु । अवच्छातस्य
अवशीर्णस्य भक्त्यागेन कर्षितदेहस्येत्यर्थः । तथाच काठक-
श्रुतिः—‘अनशनेन कर्षितोऽग्निमारोहेत्’ इति ॥

लक्ष्यं वा स्याज्जन्ये शस्त्रभृताम् ॥ २ ॥

लक्ष्यं शरवेध्यं, तद्वा भवेज्जन्ये सेनामध्ये । शस्त्रभृता-
मिति धनुःप्राये युद्धे, नान्यशस्त्रप्राये इति ॥

खट्वाङ्गकपालपाणिर्वा द्वादश संवत्सरान् ब्रह्म-
चारी भैक्षाय ग्रामं प्रविशेत्कर्माचक्षाणः ॥

खट्वाङ्गं प्रसिद्धम् । कपालं शवशिरः । यथाऽऽह मनु—
‘कृत्वा शवशिरो ध्वजम्’ इति । तद्धारणं च चिह्नार्थम् ।
द्वादशसंवत्सरानेवं चरेत् । ब्रह्मचारी मैथुनवर्जितः । भैक्षार्थ-
मेव ग्रामं प्रविशेत् । तदेव चास्याहारः । भैक्षचरणमपि मृ-
न्मयेन पात्रेण । यथाऽऽह शङ्खः—‘मृन्मयं पात्रम्’ इति । अ-
न्यदा अरण्य एवावस्थानम् । ब्रह्मचर्यभैक्षोपदेशाच्च व्रतत्वमपि
द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह कण्वः—

पवित्रपाणिर्दण्डी च पङ्कदन्तो रजस्वलः ।

तीर्थवासी कुशाच्छादी जटिलो ब्रह्महा भवेत् ॥

इति । कर्माचक्षाणः ब्रह्महाऽस्मीति सर्वदा कथयन् ॥

पथोऽपक्रामेत्संदर्शनादार्यस्य ॥ ४ ॥

पथो मार्गादपेयात् दृष्टिपातादार्यस्य द्विजाते । अनेनैव न्यायेन पृष्ठतः पार्श्वतश्च दूरत एव परिहरेदिति द्रष्टव्यम् । तत्र गोवालव्यजनादर्वाक् सन्निकृष्टे सचेलस्नानं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह व्याघ्र —

चण्डालं पतितं चैव दूरतः परिवर्जयेत् ।

गोवालव्यजनादर्वाक् सचेल स्नानमाचरेत् ॥

इति । शूद्रमपि संस्पर्शनात् परिहरेदिति द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह लोकाक्षिः—

महापातकिसस्पर्शं वर्णानां स्नानमुच्यते ।

अस्नात्वा भोजने चैव तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥

त्रिरात्र तु पिबेदम्बु शङ्खपुष्पीश्रितं पयः ।

एवमार्तवचण्डालशवानामपि कीर्तितम् ॥ इति ॥

स्थानासनाभ्यां विहरन् सवनेषूदकोपस्पर्शीं शुध्येत् ॥ ५ ॥

अन्यत्र विरोधिभ्य आचमनादिकालेभ्यः कृत्स्नमहस्तिष्ठेत् । एव रात्रिमासनेन नयेदिति । त्रिषवणस्नानं च कुर्वन् ब्रह्महत्यानिमित्तादेनसो मुच्यते । शुध्येदित्युपसंहारार्थम्* ॥

प्राणलाभे वा तन्निमित्ते ब्राह्मणस्य ॥ ६ ॥

ब्राह्मणस्य वा तद्धेतुके प्राणलाभे सति शुध्येत्, चोर-
व्याघ्रादिभिः प्रमाप्यमानं मोचयित्वेत्यर्थः । एकस्य विच्छिन्नाः

प्राणाः अन्यस्मै दत्ता इति । अनेनैव न्यायेन सर्वेषां हनने तज्जातीयप्राणविच्छेदे विमोक्षणात् शुद्धिः द्रष्टव्या ॥

द्रव्यापचये वा त्र्यवरं प्रतिराद्धः ॥ ७ ॥

प्रकरणात् ब्राह्मणस्य यत् द्रव्य हिरण्यादि तदपि यज्जीवनाय पर्याप्तं,—द्रविणमपि प्राणरूप 'प्राणा ह्येते बहिश्चरा' इति दर्शनात्—तस्य दस्युभिरपह्रियमाणस्यापहतस्य वा अपचये प्रतिमोचने शुद्ध्यत् । मोचनासम्भवे त्रिः प्रतिराद्ध त्रिःकृत्व-पुरुषकार इत्यर्थः । यथाऽऽह मनु —

त्र्यवरं प्रतिराद्धो वा सर्वस्वमपजित्य वा ।

विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणलाभे विमुच्यते ॥

इति । अस्मादेव लिङ्गात् दरिद्रस्याक्लेशेनानुभवपर्याप्तस्य धनस्य प्रदानादपि शुद्धिर्ज्ञातव्या ॥

अश्वमेधावभृथे वा ॥ ८ ॥

अवभृथग्रहण क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थम् । वचनसामर्थ्यादेनमप उपस्पर्शयेयुः । शुध्येदिति वर्तते । वाशब्दग्रहणात् उपसंहृतस्याभिधानाच्च एतानि स्वतन्त्राण्येव प्रायश्चित्तानीति । केचित् प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्येत्याहुः । तथाच शङ्खो द्वादशवर्षे शुद्धिमाप्नोतीत्युक्त्वा आह—'अन्तराले वा ब्राह्मण मोचयित्वा गवां द्वादशानां परित्राणात्' इति । तत्राभ्यासे प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य समाप्तिविशेषणत्वेन द्रष्टव्यम्, अनभ्यासे तु स्वतन्त्राण्येवेति ॥

अन्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तश्चेत् ॥ ९ ॥

अन्यो यज्ञो यस्य तदिदमन्ययज्ञमवभृथ स च यज्ञाय-

दाग्निपुदन्तो भवति अग्निपुन्मध्य इत्यर्थः । स च सर्वमेध. सत्रं वा, तत्रापि स्नात्वा शुद्धयेत् ॥

न केवल ब्राह्मणानां प्राणविच्छेदेनैव ब्रह्महा भवति, किं तर्हि ?

सृष्टश्चेद्ब्राह्मणवधेऽहत्वाऽपि ॥ १० ॥

सृष्टो निश्चितोऽध्यवसित इत्यर्थः । ब्राह्मणो हन्तव्य इत्येवं येनाध्यवसायः कृतो भवति ब्राह्मणहननविषये असावहत्वाऽपि ब्रह्महा भवति तस्याप्येतदेव प्रायश्चित्तं तत्सङ्कल्पस्य दृष्टत्वादित्यभिप्रायः । अननैव न्यायेन सर्वप्राणिवधे तदीयमेव प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । अत्र ब्राह्मणग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वादिति ॥

आत्रेयां चैवम् ॥ ११ ॥

आत्रेयी ऋतुमती ब्राह्मणी, यथाऽह वसिष्ठः— “रजस्वला-मृतुस्नातामात्रेयीमाहु । अत्र ह्येष्यदपत्यं भवतीति” तस्यां च हतायां ब्रह्महा भवति । क्षत्रियवैश्ययोरपि सवनगतयोरुपसङ्ग-हार्थश्चकार. । यथाऽऽह मनु --

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रत चरेत् ।

राजन्यवैश्यौ चेजानौ आत्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥

इति । एवमिति समस्तप्रायश्चित्तोपदेशार्थम् । अन्ये तु अत्रि-गोत्रामात्रेयीमाहु. । आत्रेयीग्रहणादनात्रेयां न ब्रह्महा भवतीति द्रष्टव्यम् ॥

गर्भे चाविज्ञाते ब्राह्मणस्य ॥ १२ ॥

ब्राह्मणस्य गर्भे स्त्रीपुनपुसकत्वेनाविज्ञाते हते औषधादिना ब्रह्महा भवति यदि ब्राह्मण्यामेवाहितं भवति । विज्ञाते तु यथालिङ्गमेवति द्रष्टव्यम् । प्रायश्चित्तातिदेशार्थश्चकार. । तदेतत्

ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तमनेकप्रकारं हन्तु हन्यमानस्य चाभिसन्ध्य-
नभिसन्ध्याद्यपेक्षया योजनीयम् । अत्र केचित् ब्रुवते—हन्तु-
स्तावद्युक्तं कुर्यान्न कुर्यादित्यत्र कामाकामकरणे गुरुलाघवरयो-
क्तत्वात्, 'निन्दितकर्माभ्यासि' इत्यनेनाभ्यासेऽपि दोषगुरुत्वश्र-
वणात् । यत्तु हन्यमान प्रति गुरुलघुभावकल्पन तदयुक्तं ज्ञाप-
काभावात् । अपिच ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यत्र ब्राह्मणोद्देशेन
हननप्रतिषेधो विधीयते । न चोद्दिश्यमानस्य विशेषणं विव-
क्ष्यते गुणवान्निर्गुणो वेति यथा 'दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टि'
इत्यत्रैकत्वमविवक्षितम् । तस्मात् ब्राह्मणत्वजातिनिबन्धन एव
प्रतिषेधः नाङ्गीकृतो गुण इति । तदेतदयुक्तं—हन्यमानगुणापे-
क्षया दोषगुरुत्वप्रख्यापकस्य विद्यमानत्वात् । यथाऽऽह मनुः—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

इति । अत्राततायिवधाभ्यनुज्ञानेनैव बहुश्रुतादीनामपि वधे सिद्धे
बहुश्रुतादीनां वधे विशिष्टतरो दोष इति ज्ञापनार्थं तेषामुपा-
दानम् । यथा प्रशस्तकर्मापेक्षया च गुरुत्वमवगम्यते येन
राजन्यवैश्ययोरपि सवनगतयोः प्रमापणे ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तमु-
पदिष्ट 'राजन्यवैश्यौ चेजानौ' इत्यनेन । यथा—

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।

प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥

इति वृत्तस्थवैश्यप्रमापणे पृथगुक्तं, इतरस्य तु 'स्त्रीशूद्रविट्-
क्षत्रवधः' इत्यनेनोपपातकप्रायश्चित्तमिति । यत्तूक्तमुद्दिश्यमानस्य
विशेषणमविवक्षितमिति, तदप्ययुक्तं—प्रायश्चित्तविधिनैव ब्राह्म-
णवधप्रतिषेधोऽनुमीयते न हि ब्राह्मणवधप्रतिषेधकं वचनमस्ति

यस्मिन् विशेषणमविवक्षितमित्युच्येत । यद्यपि विद्यते, तथाऽपि विशेषणं शक्यत एव विवक्षितु उक्तज्ञापकसामर्थ्यादेव । अपिच यथा विशेषणमविवक्षितं तथा सख्याऽप्यविवक्षितैव प्राप्नोति, ततश्चैकस्मिन् हते द्वयोश्च तुल्यमेव प्रायश्चित्तं प्राप्नोति । न चैतदिष्टम् । तस्मात् 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यत्रापि गुणवतो हनने विशिष्टतरो दोष इति ज्ञातुं शक्यत एवेत्युक्तं सर्वमुपपन्नमेवेति ॥

राजन्यवधे षड्वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् ॥ १३ ॥

क्षत्रियवधे कृते षट्सु वर्षेषु भवं षड्वार्षिकं ब्रह्मचर्यं तदपि प्राकृतं स्वाभाविकं खट्वाङ्गादिरहितमित्यर्थः । ततश्च ब्रह्म हत्याप्रायश्चित्तमेव षड्वर्षाणि कर्तव्यमित्यर्थः । बुद्धिपूर्वविषयमिदं वृत्तवतश्च हाने । अवृत्तवतां हनने 'स्त्रीशूद्रविद्वक्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम्' इत्युपपातकप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । एवमुत्तरत्रापि । तत्र बुद्धिपूर्वहनने यद्वक्ष्यति 'अग्न्युत्सादिनिराकृत्युपपातकेषु चैवम्' इति तत् द्रष्टव्यम् । अबुद्धिपूर्वं तु मनुनोक्तं द्रष्टव्यम्--

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।

अवकीर्णीं विशुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥

इति । ब्राह्मणस्येत्यधिकारात् ब्राह्मणविषयमिदम् । क्षत्रियजातेस्तु द्वादशवर्षं, द्रष्टव्यम् । वैश्यस्याष्टादशवर्षं, शूद्रस्य चतुर्विंशतिवर्षमित्येवमुत्तरत्रापि कल्प्यम् ॥

वृषभैकसहस्राश्च गा दद्यात् ॥ १४ ॥

वृत्तवतः । पूर्ववत् अबुद्धिपूर्वविषयमिदं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह मनुः—

तुरीयो ब्रह्महत्याया क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।
वैश्येऽष्टमाशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥

इत्युक्त्वा पुनरप्याह—

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।
ऋषभैकसहस्रा गा दद्याच्छुद्धचर्थमात्मनः ॥
ज्यब्दं चरेद्वा नियतो जटिलो ब्रह्महव्रतम् ।
वसन् दुरतरे ग्रामाद्रक्षमूलनिकेतनः ॥

इति द्रष्टव्यम् । एव सर्वत्र चकारादानसहितं षड्वार्षिकं प्राकृत-
ब्रह्मचर्यमपि द्रष्टव्यम् । यथाऽऽहोशना—‘राजन्यवधे षड्वार्षिकं
ब्रह्महव्रतं तस्यान्ते ऋषभैकसहस्रगोदान च’ इति । अभिषेकगु-
णयुक्तस्य बुद्धिपूर्वहनने इदम् । अबुद्धिपूर्वे तु स एवाह—
‘अष्टौ वर्णाणि वा चरेत्’ इति ॥

वैश्ये त्रैवार्षिकम् ॥ १५ ॥

प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । क्षत्रियवद्विषयो द्रष्टव्यः ॥

ऋषभैकशताश्च गा दद्यात् ॥ १६ ॥

पूर्वबुद्धिपूर्वविषयमिदम् । तथाच मनुनोक्तमुदाहृतं च—
‘एतदेव चरेदब्दम्’ इत्यादि । चकारात् पूर्वेण समस्तमपि ।
तदप्यत्यन्तगुणवतो बुद्धिपूर्वहनने । अबुद्धिपूर्वहनने तु ‘एतदेव
व्रतं कुर्यु’ इत्येतदेव द्रष्टव्यम् । क्षत्रियवैश्ययोस्तुल्यप्रायश्चित्त-
स्यान्याय्यत्वादवृत्तवतो न स्यादिति । एव तर्हि ‘अग्न्युत्सादि-
निराकृत्युपपातकेषु चैवम्’ इत्यत्रावृत्तवतो । क्षत्रियवैश्ययोस्तु-
ल्यत्वं प्राप्नोतीति चेत्, अत्रोच्यते—तपः । पूरणं कर्तव्यमिति ।
तथा च मनु—

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसस्स्यादलाघवम् ।

तस्मिस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥

इति । एवं सर्वत्र कल्पयितव्यम् । एवं स्थिते वृत्तवतो वैश्य-
स्याबुद्धिपूर्वहनने स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽहोशना—
'वैश्यं हत्वा सप्त मासान् ब्रह्महत्याव्रतं चरेत्' इति । सर्वत्र
गुणाधिक्येऽभ्यासे च जपादीनामप्यधिककल्पना कर्तव्या । द-
द्यादित्यधिकारादेव सिद्धे पुनर्दद्याद्ग्रहणं गवामभावे अन्यस्या
पि द्रव्यस्य प्रापणार्थम् । तथाच व्याघ्रः—

गवामभावे निष्कं वा निष्कार्धं पादमेव वा ।

यद्वा स प्रतिगृह्णीयात्तद्दद्याच्छ्रोत्रियाय तु ॥

शूद्रे संवत्सरम् ॥ १७ ॥

द्विजातिदासस्य बुद्धिपूर्वहनने इदम् ॥

तस्यैवाबुद्धिपूर्वे आह—

ऋषभैकादशाश्च गा दद्यात् ॥ १८ ॥

गवामधिकृतत्वात् पुनर्गोग्रहणं शुक्लवर्णविशिष्टगोदानार्थम् ।
तथाच मनुः—

प्रमाप्य शूद्रं षण्मासानेतदेव व्रतं चरेत् ।

ऋषभैकादशाश्चापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥

इति । चकारान् पूर्वयुक्तमपि तस्यैव वृत्तवतो बुद्धिपूर्वहनने
द्रष्टव्यम् । अबुद्धिपूर्वे तु 'अग्न्युत्सादि' इत्यादि । अदारास्य
बुद्धिपूर्वहनने एतदेव व्रतं कुर्युरिति । अबुद्धिपूर्वे तु तप्तकृच्छ्रं
द्रष्टव्यम् । यथाऽऽहोशना—'शूद्रं हत्वा तप्तकृच्छ्रम्' इति ।
अत्रानुलोमप्रतिलोमयोः स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह व्याघ्रः

अनुलोमानां तु सर्वेषां तन्मातृहनने च यत् ।

तदेव निर्दिशेद्विद्वान् स्त्रीणामर्धं तथैव च ॥

आत्रेयीहनने ब्रूयाद्यन्मातुरुपदिश्यते ।

गर्भे चैव तथाऽज्ञाते व्याघ्रस्य वचनं यथा ॥

इति । एवमेव प्रतिलोमस्त्रीणां द्रष्टव्यम् । तत्र पुरुषाणां त्वङ्गिरा
आह —

अन्त्यजानां तु गमने भोजने च प्रमापणे ।

पराकेण विशुद्धिं स्यात् भगवानङ्गिरोऽब्रवीत् ॥

इति । शूद्रप्रभवानामिदं बुद्धिपूर्वं । अबुद्धिपूर्वं तु चान्द्रायणं
द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह लोकाक्षिः—

हनने प्रतिलोमेषु शूद्रजानां कथं भवत् ।

ज्ञानपूर्वं पराकं स्यादज्ञाते त्वैन्दवं तथा ॥

इति । शूद्रप्रभवाणां 'असमानायां तु शूद्रात्पतितवृत्तिः' इति
समगुणत्वात् प्रायश्चित्तसाम्यमपि युक्तमेव । इतरेषामपि तत्रैवाह—

इतरेषां चतुर्भागं पितुरुक्तं मनीषिभिः ॥

स्वजातीनां वधे यद्वच्छूद्रस्य विधिरुच्यते ॥

इति । अनुलोमप्रतिलोमयो वधे शूद्रस्य यत्प्रायश्चित्तमुक्तं त-
देव स्वजातिहननेऽपि द्रष्टव्यमिति तत्रार्थः । शूद्रस्य तु तत्रै-
वोच्यते—

सर्वमर्धं त्रिपादं च पादं चैव व्रतं भवेत् ।

वर्णमात्राभ्यन्तरजहिसागमनभोजने ॥ इति ॥

अनात्रेय्यां चैवम् ॥ ११ ॥

चकारादेवातिदेशे सिद्धे एवंकारकरणराजन्यवधप्रायश्चित्त-
आतिदेशार्थं, अनन्तरोक्तमाभूदिति । तथाऽऽह वसिष्ठः—

‘अनात्रेयी राजन्यहिसायां राजन्यां वैश्यहिंसायां’ इत्यादि । तर्हि तत्रैव वक्तव्यमिति चेत्— उच्यते । अन्तैऽभिधानं कृते प्रायश्चित्तेऽपि न सवसेदित्येवमर्थम् । तथाच मनुः—

ब्रह्मघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।

शरणागतहन्तृश्च स्त्रीहन्तृश्च न संवसेत् ॥ इति ॥

गां च वैश्यवत् ॥ २० ॥

गां हत्वा वैश्यवत् प्रायश्चित्तं कुर्यात् । तत्र वृत्तवत्या हनन इदम् । बुद्धिपूर्वत्वं च प्रकरणादधिक्रियते । तत्र बहु-
क्षीरगुणयुक्ताया बुद्धिपूर्वहनने वैश्योक्तं त्रैवार्षिकं ब्रह्मचर्यं द्र-
ष्टव्यम् । तत्र च धनवत ऋषभैकसहस्रगोदानम् । कुत ? रा-
जवधे वर्षत्रय ब्रह्मचर्यरक्षणस्य गोसहस्रदानस्य प्रतिनिधिरू-
पेण दृष्टत्वात् । तथैवोदाहृतं च मनुवाक्यं ‘ऋषभैकसहस्रा
गा.’ इत्यादि ॥

बहुक्षीरयुक्तायां गुरुनरो दोष इति कस्मादवगम्यत इति चेत्, उच्यते—‘क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः’ इति । तत्र क्षुद्रपशुशब्देन अल्पप्रयोजनानां गवां ग्रहणं, नाजा विकानां, ‘गर्दभाजाविकानां तु दण्डं स्यात् पञ्चमाषक’ इति तेषां पृथग्दण्डदर्शनात् । तस्मात्तद्विषये दण्डलघुत्वदर्शनात् बहु-
प्रयोजनानां गुरुनरो दोष इति गम्यते । तस्या एवाबुद्धिपूर्व-
हनने ऋषभैकशताश्च गा दद्यादिति द्रष्टव्यम् । तदसम्भवे अब्द-
वा ब्रह्मचर्यम् । यद्वैश्यस्य दानतपसो समुच्चितयोरुक्तं तद-
त्रापि द्रष्टव्यम् । तस्यापि विषयः अस्या एव ब्राह्मणपरिगृ-
हीतायाः बुद्धपूर्वहनने । ब्राह्मणपरिगृहीतायां गुरुत्वमपि ‘गोषु
ब्राह्मणसंस्थासु स्थूरिकायाश्च भेदने’ इति लिङ्गात् । अत्र

गोदानाशक्तौ निष्कं निष्कार्थं पादमेव वेति द्रष्टव्यम् । तथो-
दाहृतं च व्याघ्रवचनं 'गवामभावे निष्क वा निष्कार्थं पाद-
मेव वा' इत्यादि । तत्र राज्ञो गोसहस्रदानं सुवर्णसहस्रदानं
वा, तत्सदृशस्य निष्कार्थं इत्ययं पक्षः । प्राकृतस्य तु पादम् ।
कुत ? अस्मिन्विषयकरणे जातुकर्णिवचनात्—

गोसहस्रं सुवर्णस्य सहस्रं राज्ञ उच्यते ।

तदर्थं मध्यमस्योक्तं पादं स्यात् प्राकृतस्य तु ॥

इति । तथाच मनुरपि कस्मिंश्चित् प्रकरणे आह—

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यः यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।

तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥

इति । अनेनापि प्राकृतजनाद्राज्ञोऽधिकं गम्यते । सर्वासम्भवे
वर्षचतुष्टयं वा प्राकृतब्रह्मचर्यरक्षणं द्रष्टव्यम् । एवं सर्वत्र ।
तस्या एवाबुद्धिपूर्वहनने वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह वसिष्ठः—
'गौश्चेद्धता स्यात्तस्याश्च चर्मणाऽऽर्द्धेण परिवेष्टितः षण्मासान्
कृच्छं तप्तकृच्छं वाऽऽतिष्ठेत्' इत्यादि । तस्य अबुद्धिपूर्वविष-
यपरिज्ञानं 'ब्राह्मणश्चेदप्रेक्षापूर्वं' इत्यत्र अप्रेक्षापूर्वमित्यधिका-
रात् । तत्र 'ऋषभवेहतौ दद्यातां' इति द्विवचनात् द्वौ ह-
न्तारौ गम्येते । तत्र ऋषभहनने ऋषभं गोहनने गवादीति
द्रष्टव्यम् । व्याघ्रोक्तं वा—

गां चेद्धन्यान्नरोऽज्ञानात् पणसप्तशतं ततः ।

श्रोत्रियाय दरिद्राय दद्याच्छुद्धयर्थमात्मनः ॥

इति । गां चेति चकाराच्छुद्धोक्तमपि द्रष्टव्यम् । तत्राल्पप्रयोज-
नाया हनने बुद्धिपूर्वे वत्सरतपश्चरणसहितमृषभैकादशगोदानं द्र-
ष्टव्यम् । तस्या एवाबुद्धिपूर्वे जातुकर्ण्युक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह—

गां चेदकामतो हन्यात् ब्राह्मणानुज्ञया ततः ।

प्राजापत्यत्रयं कृत्वा स्पर्शयेत् ब्राह्मणाय गाम् ॥

इति । तस्या एव ब्राह्मणपरिगृहीताया बुद्धिपूर्वे हनने मनुनोक्तं
द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह—

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान् पिबेत् ।

कृतवासो वसेद्गोष्ठे चर्मणाऽऽर्द्धेण संवृतः ॥

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवण मितम् ।

गोमूत्रेणाचरेत् स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥

दिवाऽनुगच्छेत्ता गास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् ।

शुश्रूषित्वा नमस्कृत्वा रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वनु च व्रजेत् ।

आसीनासु तथाऽऽसीत नियतो विगतस्पृहः ॥

आतुरामभिषक्तां वा चोरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।

पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वप्राणैर्विमोचयेत् ॥

उष्णे वर्षति शीते वा माखने वाति वा भृशम् ।

न कुर्वीतात्मनस्त्राण गोरकृत्वा स्वशक्तितः ॥

आत्मनो यदि वाऽन्येषां क्षेत्रे गेहेऽथवा खले ।

भक्षयन्ती न कथयेत् पिवन्तं चैव वत्सकम् ॥

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गा अनुगच्छति ।

स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥

ऋषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।

अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भयो निवेदयेत् ॥

इति । अबुद्धिपूर्वं तु सवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं द्रष्टव्यम् । यदि
वत्सस्याकामतो मृत्युर्भवति तदा वृषभैकादशगोदानं द्रष्टव्यम् ।
वत्स प्रति लघुत्वमपि—

वत्सानामर्धदण्डः स्यात् समो दण्डः पयस्विनीनाम् ।

बलीवर्दानां वृषभाणां च तथैवोक्त मनीषिभिः ॥

इति प्राजापत्यस्मृतिदर्शनात् । तस्य बुद्धिपूर्वं तु—

वत्स हत्वा नरो बुद्ध्या ततश्चान्द्रायणं चरेत् ।

पणान् पञ्चशत वाऽपि दद्याच्छुद्धयर्थमात्मनः ॥

इति कवषस्मृत्युक्तं द्रष्टव्यम् । स्वामिने तन्मूल्यं दाप्यं 'दाप्य-
स्तस्य च तद्धन' इति लिङ्गात् । अस्मिन्वधे शूद्राणामर्धदण्डः,
लोकाक्षिवचनात्—

द्विजातीनां तु सर्वेषां सर्वो दण्डो विधीयते ।

शूद्राणामर्धदण्डः स्यादिति धर्मविदो विदुः ॥ इति ॥

मण्डूकनकुलकाकविम्बदहरमूषकश्वहिंसासु
च ॥ २१ ॥

अत्र काकग्रहणं मनुना विड्वराहश्लोकपठितानां ऋग्व्याद-
श्लोकपठितानां विडालश्लोकपठितानां मार्जारश्लोकपठितानां चो-
पलक्षणम् ॥

विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।

प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥

ऋग्व्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।

नरकाकबकानां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥

विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वगकुलस्य च ।

केशकीटावपन्नं च पिबेत् ब्राह्मी सुवर्चलाम् ॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।

श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥

इति । एतेषां समुदायवधे शूद्रहत्याव्रनं चगेदिते द्रष्टव्यम् । शूद्र-
हत्याप्रायश्चित्तानुकर्षणार्थश्चकार । बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वभेदेऽपि शू-
द्रवदेव । प्रत्येकवधे त्वबुद्धिपूर्वं पिडुराह्यादीनां मध्ये केषां
चिदाहत्य विधीयते स्मृत्यन्तरे —

घृतकुम्भ वराह तु तिलद्रोण तु तित्तिरिम् ।
शुकं द्विहायन वत्स क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायनम् ॥
हत्वा हस वलाकं च बकं बर्हिणमेव च ।
वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥

इति । इदं सहतानां वधे । प्रत्येकवधे तु कार्षापणमात्रं देयम् ।
तथाऽऽह व्याघ्रः —

हंसानां च मयूराणां जलस्थानां च पक्षिणाम् ।
कपीनां श्येनभासानां वधे दद्यात्पण द्विजः ॥
वासो दद्याद्धय हत्वा पञ्च नीलान् वृषान् गजम् ।
अजमेपावनङ्गाहं खर हत्वैकहायनम् ॥
ऋव्यादांश्च मृगान् हत्वा धेनु दद्यात्पयस्विनीम् ।
अऋव्यादो वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥

इति । बुद्धिपूर्वं दण्डानुरूप परिकल्प्यम् । यथाऽऽह दण्डपारुष्ये —

मनुष्यमारणे क्षिप्रं चोरवत्किल्बिष भवेत् ॥
प्राणभृत्सु महत्स्वर्ध गोमायूष्ट्रहयादिषु ॥
क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।
प्रमापणे प्राणभृतां तत्र दण्डो विचारित ॥
पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ।
गर्दभाजाविकानां तु दण्डस्स्यात्पञ्चमाषकः ॥
माषिकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ इति ॥

एषामाहत्य युक्तानां—

पथ पिबेत्त्रिरात्र वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् ।

उपस्पृशेत् स्नवन्त्यां वा सूक्तं वाऽब्दैवत जपेत् ॥

इति द्रष्टव्यम् । तत्र बुद्धिपूर्वे पथ पान अध्वगमन वा द्रष्टव्यम् । अबुद्धिपूर्वे तु स्नान सूक्त जपश्चेति । दक्षिणाचोदनावत् । वत्सानां हननेऽपि नारतम्य द्रष्टव्यम् । नराणामुक्तं वर्णादिभेदेन । वराहाणामपि वक्ष्यति 'वराहे घृतघटः' इति । अत्रैतदपि द्रष्टव्यम् । यत्तु मूत्रपुरीषप्राशने चान्द्रायणमुक्तं, तत्राप्येतेषां सर्वेषां ग्रहण चान्द्रायणमपि बुद्धिपूर्वे द्रष्टव्यम् । तत्र भक्षणे तप्तकृच्छ्रमुक्तम् । यत्राप्युच्छिष्टभक्षणे ब्रह्मसुवर्चलापानमुक्तं अत्र सर्वत्राप्येषां सर्वेषां ग्रहणमिति । अत्र चान्द्रायणं मनुष्यमूत्रपुरीषप्राशने पृथगुक्त्वा तद्वर्जितानां द्रष्टव्यम् । तत्रापि मूत्रग्रहणे रेतसोपि ग्रहणं, मनुष्यमूत्रपुरीषप्राशने प्रायश्चित्तोपदेशेनास्यापि समानोपदेशात् ॥

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या तु त्र्यह क्षिपेत् ।

मत्या भुक्त्वा चरेत् कृच्छ्रं रेतो विण्मूत्रमेव च ॥

इति । अयमपि वक्ष्यति 'मूत्रपुरीषरेतसां च प्राशने' इति । बुद्धिपूर्वे चान्द्रायण द्रष्टव्यम् । अबुद्धिपूर्वे तु सान्तपनं, यथाऽऽह लोकाक्षिः—

वराहाणां खरोष्ट्राणां कपीनां च तथैव च ।

प्राश्य मूत्रपुरीषाणि चरेत्सान्तपनं द्विजः ॥

इति । अत्राप्येषां सर्वेषां ग्रहणमिति । तप्तकृच्छ्रविधानमपि बुद्धिपूर्वक एव । तत्र पुनस्संस्कारश्च द्रष्टव्यः । तथाऽयं वक्ष्यति पुनस्संस्कारसहितं तप्तकृच्छ्रमधिकृत्य 'श्वापदोष्ट्रखराणां चाङ्गस्य'

इति । अबुद्धिपूर्वे तु वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यं—‘श्वकुक्कुटग्रामसूकरक-
ङ्कगृध्रमासवायसपारावतमानुषोलूकानां मांसादने सप्तरात्रमभो-
जन निष्पुरीषीभाव पुनस्सस्कारश्च’ इति । एवचात्राभिहि-
तानां च तत्रान्तर्भावो द्रष्टव्य । यत्र तु ब्रह्मसुवर्चलापान
विहित तत्रापि नरोच्छिष्ट वर्जयित्वा । यथाऽऽहोशना—“ब्राह्म-
णोच्छिष्टभोजने प्राणायामशत कुर्यात् क्षत्रियोच्छिष्टभोजने प्रा-
णायामसहस्र वैश्योच्छिष्टभोजने प्राणायामदशसाहस्र मतिपूर्व
चेत् प्राजापत्यमतिकृच्छ्र कृच्छ्रातिकृच्छ्र च । शूद्रोच्छिष्टभोजने
सप्तरात्र यवागूपान मतिपूर्व चेत् पराकम् । एवं द्विजातेर्द्वि-
जात्युच्छिष्टभोजने शूद्राणां च ब्राह्मणोच्छिष्टानामपां पाने षोड-
शप्राणायामान् धारयेत् क्षत्रियाणां त्रिशत् वैश्यानां चत्वारि-
शत् शूद्राणां कुशवारिपान त्र्यह, बुद्धिपूर्व चेत् त्र्यह चतुरहं
पञ्चाहं सप्ताहं च क्रमेण पञ्चगव्यपानं च क्रमेण । अन्त्य-
जानामुच्छिष्टभोजने बुद्धिपूर्वे महासान्तपन, अबुद्धिपूर्वे चान्द्रा-
यणम्” इति । मनुनाऽपि किञ्चिदुक्तं—

शूद्रोच्छिष्टा अपः पीत्वा कुशवारि पिबेत् त्र्यहम् ।

अभोज्यानां च भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ॥

जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्र यवान् पिबेत् ॥

इति । सुवर्चलापानमप्यबुद्धिपूर्वे अविशेषादेकरात्रमेव । बुद्धिपूर्वे
तु सान्तपनम् । यथाऽऽह जातूकर्णि.—

जम्बूककाकमार्जारश्वगोधानां गवामपि ।

मत्स्योच्छिष्ट द्विजो भुक्त्वा कृच्छ्रं सान्तपन चरेत् ॥

इति । अत्र कवपोक्तमपि द्रष्टव्यं—

विप्रार्थे क्षत्रियस्य स्याद्वैश्यानां च तदर्धकम् ।

तदर्धमेव शूद्राणां प्रायश्चित्तं विदुर्वुधाः ॥

इति । इदं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । हिंसाग्रहणमधिकारसिद्धमपि क्रियते हिंसायामेव न तु स्पृष्टस्यापीति ॥

अस्थन्वतां सहस्रं हत्वा ॥ २२ ॥

अन्येषामस्थिमतां सहस्रवधे शूद्रहत्याप्रायश्चित्तं भवति ॥

अनस्थिमतामनडुद्गारे च ॥ २३ ॥

अनस्थिमतां क्रिम्यादीनामनडुद्गारमात्रे हते एतच्छूद्रहत्याप्रायश्चित्तम् । अत्र बुद्धिपूर्वे शूद्रहत्याप्रायश्चित्तं, नेतरत्रैतदिति द्रष्टव्यम् । एवं सर्वत्रातिदेशे द्रष्टव्यम् ॥

अपिवाऽस्थन्वतामेकैकस्मिन् किञ्चित् किञ्चिदद्यात् ॥ २४ ॥

अथ न वा सहस्रपूरणमनडुद्गारपूरणं वा अनुरुध्यते, किंतु अनन्तरमेकैकस्मिन् किञ्चित् किञ्चित्काकणिकामात्रं दद्यात् । वाशब्दात् जपादि वा कुर्यात् । अपिशब्दादनस्थिमतामपि । तथाऽहं मनु —

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।

अनस्त्रां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुध्यति ॥

इति । तत्रास्थिमतां बुद्धिपूर्वहनने काकणिकावरमात्रं देयं, अबुद्धिपूर्वे तु षट् प्राणायामाः । अनस्थिमतां बुद्धिपूर्वे प्राणायामत्रयं, अबुद्धिपूर्वे त्वेक एव प्राणायामो द्रष्टव्यः । तथाऽऽहं कण्वः—

हननेऽस्थिमतां दद्यात् मर्त्या काकणिकां नरः ।

अबुद्ध्या तु ततस्तेषां प्राणायामान् षडाचरेत् ॥

प्राणायामत्रयं कुर्यात् अनश्नां हनने मतौ ॥
अबुद्धयैकं ततः कुर्यादिति धर्मविदो विदुः ॥ इति ॥

षण्डे पलालभारः सीसमापश्च ॥ २५ ॥

षण्डे तृतीयाप्रकृतौ, न तु क्लीबे, तस्य तु श्रोत्रियत्वेन प्राप्तौ सत्यां श्राद्धे प्रतिषेधात् सस्कारसम्बन्धित्वाच्च । तस्मिन् हते तस्य जातिविशेषो नास्ति—पलालभारो गवां सीसमापो ब्राह्मणाय । असमासनिर्देशाद्व्यस्तं, चकारात्समस्तं च । तत्राबुद्धिपूर्वं व्यस्तं बुद्धिपूर्वं समस्तमिति ॥

वराहे घृतघटः ॥ २६ ॥

सूकरे हते घृतपूर्णो घटो ब्राह्मणाय देयः । अस्य तूक्तो विषयः ॥

सर्पे लोहदण्डः ॥ २७ ॥

लोहशब्देन कार्णायसमुच्यते यथाऽऽह मनुः—

अग्नीं कार्णायसी दद्यात् सर्पं हत्वा द्विजोत्तम ॥

इति । बुद्धिपूर्वं इदं, अबुद्धिपूर्वं तु माषमात्रं देयम्, 'सर्पं हत्वा माषमात्रं दद्यात्' इत्यौशनसवचनात् ॥

ब्रह्मबन्ध्वां चलनायां जीलः ॥ २८ ॥

चलना व्यभिचारिणो । क्षत्रियादेर्मनुनोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह—

जीलकार्मुकवस्तावीन् पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।

चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हन्वाऽनवास्थिताः ॥

इति । जीलो इति । चलनमपि गूढत्वेन बहुपुरुषसेवित्वम् । यथाऽऽह प्रजापतिः—

अभिगच्छति या नारी बहुभिः पुरुषैर्मिथ ।

व्यभिचारिणीति सा ज्ञेया प्रत्यक्ष गणिकेति च ॥

इति । एव च पुरुषत्रयसंसर्गादर्वाक् पूर्वोक्तं हननप्रायश्चित्तमेव द्रष्टव्यं, तत ऊर्ध्वमिदमिति । पुरुषत्रयसंसर्गादर्वागपि पूर्वोक्ता-
दर्धमर्ध परिकल्प्यम् । यथाऽऽह कण्वः—

वृत्तस्थायाः स्त्रियाः सर्वे प्रायश्चित्त विधीयते ॥

प्रतिपूरुषं प्रवृत्ताया अर्धहीनं भवेत्तु तत् ॥

इति, इदं बुद्धिपूर्वं । अबुद्धिपूर्वं तु व्याघ्रोक्तं द्रष्टव्यम्—

व्यभिचारिण्याः पापार्थं वेश्यानां गमने भवेत् ।

चतुर्णामपि वर्णानां नारी हत्वाऽनवास्थिताम् ॥

शङ्खशुक्तयजमेषांश्च क्रमादद्याद्विशुद्ध्ये ॥ इति ॥

वैशिके न किञ्चित् ॥ २९ ॥

वैश्यकर्मणा जीवन्त्यां हतायां न किञ्चिदपि कर्तव्यम् ।
इदमबुद्धिपूर्वं, बुद्धिपूर्वं तु व्यभिचारिण्यां यदुक्तं तदर्धं द्रष्ट-
व्यम्—

व्यभिचारिण्याः पापार्थं वेश्यानां गमने भवेत् ।

चतुर्णामपि वर्णानामेष धर्मः सनातनः ॥

इति प्रजापतिधर्मलिङ्गात् । यद्वा—वेश्यासु कियत इति वै-
शिकं तत् ब्रह्मबन्धा सह कृते प्रकाशमाचरन्त्या मैथुने आ-
चरिते इत्यर्थः । न किञ्चित् परस्त्रीगमनप्रायश्चित्तं कर्तव्यमि-
त्यर्थः । एवं च गूढमाचरन्त्या सह कृते किञ्चित् प्रायश्चित्त-
मस्तीति गम्यते । तदापि हिंसावत् परिकल्प्यम् । अत्र परदार-
गमनप्रायश्चित्तप्रतिषेधादन्यदस्त्येवेत्यवगम्यते । तथाऽऽह शङ्खः—

पशुवेद्याभिगमने प्राजापत्य चरेत् द्विज ॥

इति । तदपि सकृद्गमने, अभ्यासे तु सवर्तौक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह—

पशुवेद्याभिगमने प्राजापत्य समाचरेत् ।

गोगमे तु नरः कुर्यात् कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् ॥

इति । तस्यामत्यन्ताभ्यासे मनुनोक्तमुपपातकप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह—

धान्यकुप्यपशुस्तेयमद्यपस्त्रीनिषेवणम् ॥

इति । तस्यां प्रसूतस्य कण्वोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह—

प्रसूतो यस्तु वेद्यायां भैक्षभुङ्गियतेन्द्रिय ।

शतसाहस्रमभ्यस्य सावित्रामेति शुद्धताम् ॥

इति । ब्रह्मबन्ध्वा सह वैशिकाचरणे यदुक्तं तदेव क्षत्रबन्ध्वादिभिरपि वैशिकाचरणे द्रष्टव्यम् । तथाऽऽह कवषः—

ब्रह्मक्षत्रियविदूशूद्रबन्धुभिर्वैशिके कृते ।

प्राजापत्य चरेद्विद्वानभ्यासे कृच्छ्रमेव तु ॥

इति । क्षत्रियादीनामर्धमर्धं परिकल्प्यम् । अत्र केचिद्व्याचक्षते—
ब्राह्मण्याः शूद्रसंपर्के पातित्यमुक्तं—‘भ्रूणहनिहीनवर्णसेवायां च स्त्री पतति’ इति । तस्मात् या ब्राह्मणी शूद्रवर्णसम्बन्धा भवति तया सहान्येषां सम्बन्धं कुर्वतां पतितागमनप्रायश्चित्तमेव कर्तव्यमिति । तदयुक्तम्—

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ इति

लिङ्गात् । ततश्च मत्या शूद्रादिसम्पर्केऽपि ब्राह्मण्यादीनां शूद्रादिसाम्यं अमत्या च तद्धीनत्वमवगम्यत इति । एवमपि यच्छूद्रा

अव्यभिचारेण्या मैथुनाचरणे प्रायश्चित्तं तदेव ब्राह्मण्यां शूद्र-
सम्बन्धायामपि प्रसज्येतेति चेत् -अत्रोच्यते, साम्यवचनान्न
भवतीति । तस्मादुक्तमेव प्रायश्चित्तमिति ।

अन्ये व्याचक्षते—अबुद्धिपूर्वं शूद्रादिसम्पर्कं या करोति
तया गमने पातकप्रायश्चित्तम्, बुद्धिपूर्वं तु शूद्राभिगमनप्राय-
श्चित्तं, 'ज्ञानात् साम्यं तु गच्छति' इति वचनादिति । तद-
प्ययुक्तं, अत्रापि बुद्धिपूर्वकतादबुद्धिपूर्वकतस्य गुरुत्वप्राप्तौ 'त-
दपि संकल्पेन भूय.' इत्यादिभिर्विरुध्येतेति । एवंच सति
'चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा' इत्यस्याप्ययमेवार्थो वेदितव्यः । च-
ण्डालादिभिरबुद्धिपूर्वसम्पर्कं पतितो भवति द्विजातिकर्मभिर्ना-
धिक्रियत इत्यर्थः, न तु ब्रह्महत्यादिपापमिति । तदुक्तं 'द्विजा-
तिकर्मभ्यो हानिः पतन' इति । न जातेरपगमः, तस्मात्प्राय-
श्चित्तमस्तीति । बुद्धिपूर्वं तु जातेरपगमो भवति तस्मात्प्रा-
यश्चित्तं नास्तीति । 'पतत्यज्ञानतः' इत्यनेन द्विजातिकर्मनधि-
कृत इत्युक्तं न ब्रह्महत्यादिपापम् । साम्यवचनाच्च येन सम्पर्कं
करोति बुद्धिपूर्वं तेन साम्यं गच्छति न प्रायश्चित्तनाधिक्रि-
यत इति, साम्यद्वारेण प्रायश्चित्ताभाव इति । ब्राह्मण्यादीनां
शूद्रसम्बन्धे बुद्धिपूर्वंऽपि प्रजाताया एव तत् साम्यं द्रष्टव्यम्,
अप्रजाताया शुद्धिप्रतिपादनात्—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेण सङ्गताः ।

अप्रजाता विशुद्ध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतरा ॥

इति शूद्रेण संगताया अप्रजातायाः शुद्धिप्रतिपादनादधोजाति-
संगताया अशुचित्वं द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणक्षत्रियविशामित्युक्तत्वात्
शूद्रस्त्रियाः प्रजाताया अपि शुद्धिः । अन्यच्च—

प्रजातायां प्रतिपुरुषमर्धहीनं भवेत्तु तत् ।

इत्यत्र ब्राह्मण्यां क्षत्रियसम्पर्के अर्धं तदर्थं वैश्यसम्बन्धे तदर्थं शूद्रसम्बन्ध इत्येव परिकल्प्यम् । मद्यपस्त्रीनिषेवणमित्यत्र चो-
द्यते—ब्राह्मण्या मद्यपाया गमने पतितागमनप्रायश्चित्तं भवितु-
मर्हति, नोपपातकप्रायश्चित्तं मद्यपानेन हि पतिता भवतीति ।
अत्रोच्यते—पातित्यं शूद्रतुल्यत्वं न ब्रह्महत्यासमत्वं, यथाऽऽह
मनुः—

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।

तस्य व्यपैति तद्ब्रह्म शूद्रत्वं च निगच्छति ॥

इति । अतः शूद्रतुल्यत्वादुक्तमेव प्रायश्चित्तं न पतितागमन-
प्रायश्चित्तमिति । तथाऽत्रापि चोक्तं—‘आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे क-
र्मणः साम्यं’ इति । व्यतिक्षेपस्तु शूद्रस्याप्रतिषिद्धं मद्यपानं
ब्राह्मणादीनां तु प्रतिषिद्धम् । तत्र शूद्रे मद्यपानवर्जिते ब्राह्म-
णादौ च मद्यपानप्रसक्ते सति तस्माद्धेतोः साम्यं च । एवञ्च
मद्यपो ब्राह्मणादिस्तद्वर्जितशूद्रतुल्य इत्यवगन्तव्यः । यद्यपि
शूद्रतुल्यः तथाऽप्यस्पृश्य इत्यवगन्तव्यः, ‘पतितचण्डाल’ इत्यत्र
पतितग्रहणेन गृह्यमाणत्वात् । तद्वर्जितानां ग्रहणमिति चेत्, न
स्मृत्यन्तरसामर्थ्यात् । तथाऽऽह कण्वः—

ब्रह्महा मद्यपः स्तेनो गुरुतल्पग एव च ।

अस्पृश्याः पतिता ह्येते तैश्चावचरितः समः ॥

तल्पान्नधनलाभवधेषु पृथग्वर्षाणि ॥ ३० ॥

लाभवधशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तल्पलाभवधे धन-
लाभवध इत्यादि । तल्पशब्देन शयनवाचिना भार्योच्यते । त-
द्धेतुत्वाल्लक्षणया कन्याया अत्र ग्रहणम् । अन्नं कृतमकृतं वा।
धनं सुवर्णगवादि । लाभः प्राप्तिः । वधो विघ्नकरणम् । एत-

दुक्तं भवति—कन्यान्मन्त्रेण लभ्यमानेषु विघ्न प्रतिषेध कृत्वा संवत्सर ब्रह्मचर्यं पृथक्पृथक्कर्तव्यमिति । बुद्धिपूर्वं इदम् । अबुद्धिपूर्वं तूशनसोक्तं द्रष्टव्यम् ‘कन्यान्मन्त्रविघ्ने प्राजापत्य’ इति । ब्राह्मणलाभविघ्न इदं, क्षत्रियादिवर्धमर्थं परिकल्प्यम् ॥

द्वे परदारौ ॥ ३१ ॥

परदारगमने द्वे वर्षे प्राकृतब्रह्मचर्यम् । ब्राह्मणीगमने गर्भोत्पत्ताविदं द्रष्टव्यम् । गर्भोत्पत्ते प्राकृच्छ्रचान्द्रायणे । यथाऽऽह व्याघ्र.—

ब्राह्मणो ब्राह्मणी गच्छेदकामां यदि कामतः ।
कृच्छ्रचान्द्रायणे कुर्यात् अर्धमेव प्रमादतः ॥
अर्धमेव सकामायां तत्तकृच्छ्रं सकृद्गतौ ।
अर्धमर्थं नृपादीनां दारेषु ब्राह्मणश्चरेत् ॥
एतद्गतं चरेत्सार्धं श्रोत्रियस्य परिग्रहे ।
अश्रोत्रियश्चेत् द्विगुणं गुप्तायामर्धमेव च ॥

इति । क्षत्रियस्य दारे गर्भोत्पत्तौ द्वे परदार इत्यस्यार्थं द्रष्टव्यम्, ‘अर्धमर्थं नृपादीनां’ इति लिङ्गात् । वैश्यदारे मनुनोक्तमुपपातकप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यं, ‘एतदेव व्रतं कुर्युः’ इत्यादि । शूद्रस्य दारे अतिकृच्छ्रं, कण्ववचनात्—

शूद्रदारान् गतो विप्रो ह्यातिकृच्छ्रं समाचरेत् ।
चान्द्रायणं विशो राज्ञः समं तु ब्रह्मणि व्रतम् ॥

इति । यदि ब्राह्मणेनैव चातुर्वर्ण्यप्रसूता, क्रमेण निर्विघ्ना, तदानीं ब्राह्मणस्य ब्राह्मणीगमने यदुक्तं तदेव पादहीन क्षत्रियादिगमने द्रष्टव्यम्, व्याघ्रवचनात्—

विप्रेणैव विनिर्विष्टाश्चातुर्वर्ण्यप्रसूतका ।

क्रमेण पादतो हीन व्रत तासु गतश्चरेत् ॥

इति । अयमेव न्याय क्षत्रियादिष्वपि द्रष्टव्य । ब्राह्मणभार्या
शूद्रां ब्राह्मणो गत्वा प्राजापत्य कुर्यात् वसिष्ठवचनात्—'ब्राह्म-
णश्चेदप्रेक्षापूर्वकं ब्राह्मणदारानधिगच्छेन्नवृत्तधर्मकर्मणः कृच्छ्रोऽ-
निवृत्तधर्मकर्मणोऽतिकृच्छ्रः' इति । इदमबुद्धिपूर्वं सकृद्गमने ।
बुद्धिपूर्वं तु द्विगुणं, 'अर्थमेव प्रमादत' इति लिङ्गात् । अ-
भ्यासे तु पादहीनन्यायो द्रष्टव्यः । ब्राह्मणस्य क्षत्रियादिभा-
र्यागमने यदुक्तं तदेव क्षत्रियादीनां स्वजातिभार्यागमनेऽपि द्र-
ष्टव्यम् । कुतः ?

विप्रो नृपस्य भार्यायां यत्करोति समागमे ।

तदेव क्षत्रियश्चापि कुर्यात्तत्रैव सङ्गत ॥

इति प्रजापतिधर्मलिङ्गात् ॥

त्रीणि श्रोत्रियस्य ॥ ३२ ॥

गर्भोत्पत्तावेवास्यां समागमे । गर्भोत्पत्तेः प्रागप्युक्तं—'एत-
द्रूतं चरेत् सार्धं श्रोत्रियस्य परिग्रहे' इति । गर्भोत्पत्तेरूर्ध्व-
मेतदेव आ प्रजाया द्रष्टव्यम् । बहुशोऽभ्यासे समानप्रायश्चित्त-
त्वमयुक्तमिति चेत् अत्रोच्यते—स्त्रीणां गर्भोत्पत्तेः प्राक् बहु-
शोऽभ्यासेऽपि समानत्व इत्यते 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः
शूद्रेण सङ्गताः' इत्यत्र । तद्वदत्रापि न दोष इति । तथा क-
वषवचनमपि—

गर्भोत्पत्तौ यदुक्तं तत्तदेवामरणाच्चरेत् ।

ब्राह्मण क्षत्रियश्चापि वैश्यश्शूद्रस्तथैव च ॥

इति । जपादिभिर्वा प्रतिपूरणं कर्तव्यम् । तदुक्तं च मानवं—

‘यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्’ इत्यादि । तत्रैकस्यां दुष्टः कृतप्रायश्चित्तं संवत्सरेऽतीते पुनरपि तस्यामेव यदि दुष्टो भवति तदा पूर्वप्रायश्चित्तात् द्विगुणं तेन कर्तव्यम् । कुतः ? ‘संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः’ इति दण्डदर्शनात् । संवत्सरप्रभृति तस्य तावदेवेति द्रष्टव्यम् । संवत्सरादवाक् प्रथमे मासि द्वादशगुणितस्यैव मासान्मासि भागकल्पनेति भाष्यकारेण व्याख्यातम् । प्रतिमासं त्रैमासिकं पूरणं कल्प्यम् । कृतप्रायश्चित्तस्यैवेदं अभिशस्तस्य दुष्टस्येति पदद्वयोपादानात् । अकृतप्रायश्चित्तस्य तु जपादिभिरेव पूरणम् । तत्रात्यन्तश्रोत्रियब्राह्मणस्य भार्या प्रजावती पतिव्रतां बलादवष्टभ्य कृतस्याचतुर्थादुपगमनात् प्राक् पातित्य द्रष्टव्यम्, आपस्तम्बवचनात् - ‘सवर्णायामन्यपूर्वायां सकृत् सन्निपाते पादपततीत्युपदिशन्त्येवमभ्यासे पादः पादश्चतुर्थे सर्वः’ इति ॥

द्रव्यलाभे चोत्सर्गः ।। ३३ ॥

यदि च परस्त्रीतो द्रव्यं लब्धं तस्योत्सर्गः कार्यः । त्यागश्च विना प्रतिग्रहधर्मेण परित्यागः । चशब्दाद्यदन्नाद्युपभुक्तं तदपि प्रतिपादयेत् ॥

यथास्थानं वा गमयेत् ॥ ३४ ॥

स्वामिन एव वा भक्तादिकं केनचिद्व्याजेन प्रतिपादयेदित्यर्थः ॥

प्रतिषिद्धमन्त्रयोगे सहस्रवाकश्चेत् ॥ ३५ ॥

प्रतिषिद्धस्याप्रशस्तद्विजाते. मन्त्रयोगः याजनाध्यापनक्रिया, तस्मिन् कृते संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । अज्ञानादिदमः,

इतरत्र पतितत्वं स्यादिति । यदि चासौ मन्त्रयोगः सहस्र-
वाक स्यात् । वाकशब्देन पदमुच्यते । सहस्रशब्दोपि बहु-
त्ववचनः । अतो यदि महान्त ग्रन्थमभ्यस्यतीत्यर्थः । एव
चाल्पे पूर्वोक्तसहिताध्ययनं द्रष्टव्यम् । पतितविषयमिदम् । उ-
पपातकिविषये तु वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्—‘पतितचण्डालशवश्रावणे
त्रिरात्रं वाग्यता अनश्नन्त आसीरन् सहस्रपरम वा तदभ्य-
स्यन्तः पूता भवन्तीति विज्ञायत इत्येतेनैव गार्हिताध्यापकया-
जका व्याख्यता दक्षिणात्यागाच्च पूता भवन्तीति विज्ञायते’
इति । अत्राप्यज्ञानात् त्रिरात्र वाग्यतैरनश्नद्भिर्भवितव्यं सहस्रवा-
कादर्वाक् । ऊर्ध्वं तु यावदध्यापितं तावत् । सहस्रपरमो जपो
हविष्याशिनो द्रष्टव्यः । ज्ञानविषये तु सहस्रवाकादूर्ध्वमुपपा-
तकिता द्रष्टव्या । तदुक्तं च ‘तन्मन्त्रकृत्’ इति । ततोऽर्वाक्
सहस्रत्रयजपो द्रष्टव्यः—‘प्रतिपिद्धकृतमनुवाकं सहस्रत्रयमभ्य-
सेत्’ इत्यौशनसवचनात् । अन्ये तु मन्त्रयोगं सहाध्ययनं स-
हयाजनं वाऽऽचक्षते, ततश्च प्रतिषिद्धेन सहैकत्राध्ययनं सहया-
जनं च कृत्वा प्राकृतं ब्रह्मचर्यमिति । अत्रापि पूर्वोक्तविषय-
भेदेन तदेव प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्, सहाध्ययनयाजनयोस्तुल्यत्वा-
दिति ॥

अग्न्युत्सादिनिराकृत्युपपातकेषु चैवम् ॥ ३६ ॥

यस्य देशोपप्लवादिना श्रौताग्नीनां बहुकाल वियोगो भ-
वति सोऽग्न्युत्सादी । निराकृतिरुक्तः । नासौ उपपातकत्वेन गृ-
ह्यते, दुर्वालादूर्ध्वमभिहितत्वात् । उत्सृष्टाग्निस्त्वन्य एव व्या-
ख्यातः श्रौतानामेव नास्तिक्येन परित्यक्तेति । अत्रैवं विषय-
विभागो द्रष्टव्यः—यो नास्तिक्येन कर्माणि परित्यजति, देशोप

प्लवादिना वा बहुकालं गच्छति, तस्य सयन्सरं प्राकृतं ब्रह्म चर्यं, अल्पकाले तु प्राजापत्यम् । यथाऽऽह वसिष्ठः—‘योऽग्नी नपविध्येत् कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनराधानं कारयेत्’ इति । य आलस्यादिना नास्तिक्यदेशोपप्लवाद्यन्तरेणापि परित्यजति तस्य चान्द्रायणं द्रष्टव्यं, यथाऽऽह मनु —

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः ।

चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥

इति । मासमपविद्धस्येदं, तस्मादुत्तरं कृच्छ्रोत्तरं द्रष्टव्यम्—

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् मासादूर्ध्वं तु कामतः ।

कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव कुर्यादेवाविचारयन् ॥

इति वचनात् । मासादर्वागपि चान्द्रायणमेव, ‘विस्पष्टार्थं वा मासग्रहणं’ इति भाष्यकारेणोक्तत्वात् । सर्वत्र पुनराधानमतीतकालहोमश्च द्रष्टव्यः । तथाच जातुकर्णिः —

अतीतकालं जुहुयादग्नौ विप्राय वा व्ययम् ।

नष्टेऽग्नौ विधिवद्द्यात् कृत्वाऽऽधानं पुनर्द्विजः ॥

इति । इदं वाक्यं श्रौते स्मार्ते च द्रष्टव्यम् । एवं च बहुकालातिक्रमणे प्रायश्चित्तस्य गौरवं सम्पद्यत इति नात्र जपादिपूरणं कर्तव्यम् । स्मार्तस्य तु पुनराधानमतीतकालहोमश्चैव, न प्रायश्चित्तान्तरमस्ति । नास्तिक्ये तु प्राजापत्यं द्रष्टव्यम् । तथाऽऽह व्यासः—

योऽग्नीस्त्यजति नास्तिक्यत् प्राजापत्यं चरेद्द्विजः ।

अन्यत्र पुनराधानं दानमेव तथैव च ॥

इति । निराकृतेरन्ये ये चापाङ्कत्वेन अभिहिता उपपातकवर्जितास्तेषां मनुनोक्तं च द्रष्टव्यम्—

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव च ।

होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्कानां विशोधनम् ॥

इति । उपपातकेष्विति बहुवचनं स्मृत्यन्तरोक्तानामुपलक्षणार्थम् ।

यथाऽऽह मनुः—

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः ।

गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्नयो सुतस्य च ॥

परिवित्तता चानुजेन परिवेदनमेव च ।

तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥

कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् ।

तटाकारामदाराणां अपत्यस्य च विक्रयः ॥

व्रात्यता बान्धवत्यागो भृताध्यापनमेव च ।

भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥

सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् ।

हिसौपथीनां खयाजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।

आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥

अनाहिताग्निता स्तैन्यमृणानां चानपक्रिया ॥

असच्छास्त्राधिगमनं कौशील्यस्य च क्रिया ॥

धान्यकुप्यपशुस्नेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।

स्त्रीशूद्रविद्विषत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥

इति । अत्र केषांचिदाहत्य प्रायश्चित्तं स्मृत्यन्तरे श्रूयते । यथाऽऽह वसिष्ठः—‘पारेवित्तः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत् तां चैवोपयच्छेत् । अथ परिविविदानः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत् तां चैवोपयच्छेत् । अग्रेदि-

धिषूपतिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत् तां चैवोपय-
च्छेत् । दिधिषूपतिः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा
पुनर्निविशेत्' इत्यादि । गोवधे अत्राप्युक्त, अयाज्यसयाजनेऽ-
प्युक्त पारदार्येऽप्युक्त स्वाध्यायाग्नेः परित्यागेऽप्युक्तम् । कन्या
दृषणे च वसिष्ठ आह—'गुर्वीसखी गुरुसखी अपपात्रां पतितां
च गत्वा कृच्छ्राब्दपादं चरेत्' इति । एतदकामकृते द्रष्टव्यम् ।
बुद्धिपूर्वे तु—

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्वैतस्सिक्त्वा स्वयोनिषु ।

सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमागीष्वन्त्यजासु च ॥

इति मनुनोक्तं गुरुतल्पव्रतं द्रष्टव्यम् । यद्यपि सामान्येनोक्तं,
तथाऽपि जातिविशेषात् प्रायश्चित्तविशेषो द्रष्टव्य — ब्राह्मणक-
न्यायां सर्वे क्षत्रियकन्यायामर्धमित्यादि । ब्राह्मणक-
न्यायां च वसि-
ष्ठोक्तमुदाहृत—'पतितसावित्रीक उद्दालकव्रतं चरेत्' इत्यादि ।
मनुरप्याह—

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।

नांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥

इति । तत्र बहुकालातिक्रम उद्दालकव्रत, मध्यमे कृच्छ्रत्रयं,
स्वल्पकालातिक्रमे ब्राह्मणस्तोमयाग इति द्रष्टव्यम् । भृतका-
ध्यापनं 'वेदविप्लावकम्' इत्युक्तम् । बहुश कृते पातित्यं तत्र
त्यागश्चोक्तः 'त्यजेत्पितरम्' इत्यादि । अन्यत्र मनुराह—

शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः ।

संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥

इति । अभिचारस्यापि मनुराह—

ब्राह्मणां याजनं कृत्वा परेषामन्यकर्म च ।

अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥

इति । द्विजातिवधे इदम् । शूद्रादिवधे तु 'शूद्रमभिचार्यं प्राजापत्यं चरेत्' इति पैठीनसिवचनात् । निन्दितान्नादने तु वक्ष्यति — 'अभोज्यभोजने निष्पुरीषीभावः' इत्यादि । तत्र बुद्धिपूर्वाभ्यासे सुरापानसमत्वम् । यथाऽऽह मनुः—

निन्दितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ।

इति । एवञ्चाबुद्धिपूर्वाभ्यासे उपपातकं वेदितव्यम् । एवं येषामुपपातकानामाहत्य विधानं नास्ति तेषामिदं संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं द्रष्टव्यम् । अभ्यासविषयं चेदं, इतरत्र मनुनोक्तं—

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।

अवकीर्णिवर्जं शुद्धयर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥

इति । तत्राप्यबुद्धिपूर्वं चान्द्रायण इतरत्र गोवधप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । चकारादंवातिदेशे सिद्धे एवंप्रकारकरणं समस्तातिदेशार्थम् । ततश्च 'द्रव्यलाभे चोत्सर्गः' इत्यादि द्रष्टव्यम् ॥

स्त्री चातिचारिणी गुप्ता पिण्डं तु लभेत ॥३७

स्त्री च एतदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् । अतिचारिणी व्यभिचारिणी । शूद्रव्यभिचार उक्तत्वात् द्विजातिव्यभिचार इदम् । बुद्धिपूर्वं सकृद्रमने चेदं, अन्यत्र 'यत्पुंसः परदारेषु' इत्युक्तत्वात् समानजातिव्यभिचार इदम् । ब्राह्मण्या क्षत्रियव्यभिचारे तु वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यं—'व्यवाये तु संवत्सरं घृतपदं धारयेत् । गोमयगर्ते कुशप्रस्तरे वा शयीतोर्ध्वं संवत्सरादप्सु निमग्नाया सावित्र्यष्टसहस्रेण शिरोभिर्जुहुयात् पूता भवति' इति । वैश्य-

गमने त्वौशनसं द्रष्टव्यं—‘व्यभिचारिणी कृच्छ्राब्दं चरेत्’ इति ।
उत्तमाभिगमने च नीचायामर्धमर्धं परिकल्प्यम् । तथा सम्भा-
षणे च श्रूयते—‘मनसा भर्तुरतिचारं त्रिरात्र यावक क्षीरो-
दनं वा भुञ्जानाऽधश्शयीतोर्ध्वं त्रिरात्रादप्सु निमग्नायाः सावि-
त्र्यष्टशतेन शिरोभिर्जुहुयात् पूता भवतीति विज्ञायते, वाक्स-
म्बन्ध एतदेव मास चरित्वोर्ध्वं मासादप्सु निमग्नायाः सा-
वित्र्याश्चतुर्भिरष्टशतैः शिरोभिर्जुहुयात्’ इति । इदमपि सकृ-
द्भाषणे । अभ्यासे तु मनुनोक्तं, पुनश्शब्दश्रवणात् । यथाऽऽह—

सा चेत् पुनस्संप्रदुष्येत् सदशनोपयन्त्रिता ।

कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥

इति । हीनसम्भाषणे तद्विगुणं, उत्तमसम्भाषणे अर्धं द्रष्टव्यम् ।
एवं व्यभिचारिणी या न शुद्धा सा गुप्ता रक्ष्यमाणा पिण्डं प्रा-
णधारणमात्रं अन्नं लभेत । तुल्यत्वात् कौपीनाच्छादनार्थं वा-
सश्च लभेत ।

अमानुषीषु गोवर्जं स्त्रीकृते कूश्माण्डैर्घृतहो-
मो घृतहोमः ॥ ३८ ॥

गोवर्जितास्वमानुषीषु बडवाद्यासु स्त्रीकृते मैथुने आच-
रिते। कूश्माण्डैः ‘यदेवा देवहेडनम्’ इत्यादिभिर्घृतेन होमः कर्तव्यः
अभ्यासाद्धोमावृत्तिर्द्रष्टव्या ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये द्वाविंशोऽध्यायः

अधुना क्रमप्राप्त सुरापानप्रायश्चित्तमाह—

**सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिश्चेयुस्सुरामास्ये
मृतशुध्येत् ॥ १ ॥**

सुराशब्देनात्र त्रिप्रकारा सुरा गृह्यते, ब्राह्मणग्रहणात्, तं प्रति त्रिप्रकारायाश्च प्रतिषिद्धत्वात् । यथाऽऽह मनुः—

गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।

यथैवैका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः ॥

इति । अमत्या पान इति वक्ष्यमाणत्वान्मतिपूर्वं इदमिति चाव-
गम्यते । क्षत्रियवैश्ययोरपि पैष्टोपान इदमेव प्रायश्चित्तं द्रष्ट-
व्यं, तयोस्तस्या एव प्रतिषिद्धत्वात् । यथाऽऽह मनुः—

सुरा वै मलमन्त्रानां पाप्मा च मलमुच्यते ।

तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न पिबेत्सुराम् ॥

इति । तथा —

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णा सुरां पिबेत् ।

तथा स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥

इति प्रायश्चित्तविधाने द्विजग्रहणात् । यस्य या प्रतिषिध्यते
तस्य तत्पाने बुद्धिपूर्वं तस्या एवाग्निवर्णायाः पानमेव प्राय-
श्चित्तमित्यवगम्यते । अत्रापि ब्राह्मणस्य गौडीमाध्वोर्बुद्धिपूर्वा-
भ्यासे त्रयाणां पैष्ट्या बुद्धिपूर्वं सकृत्पाने चेदं द्रष्टव्यम् । कुतः ?
गौडीमाध्वोः मतिपूर्वं सकृत्पाने प्रायश्चित्तान्तरदर्शनात् । यथा-
ऽऽह वसिष्ठः—‘मद्यपाने त्वसुरायाः सुरायाश्चाज्ञाने कृच्छ्राति-
कृच्छ्रौ घृतप्राशनं पुनस्संस्कारश्च’ इति । अत्र सुरायाश्चाज्ञान-
इत्युक्तत्वान्मद्यपानस्य मतिपूर्वत्वमवगम्यते । अतिकृच्छ्रं चात्र तप्त-

कृच्छं, स्मृत्यन्तरदर्शनात्, 'मद्य पीत्वा कृच्छं तत्कृच्छं वाऽऽ-
तिष्ठेत्' इति पैठीनसिवचनात् । उष्णामग्निवर्णमिति द्रष्टव्य,
'मृतश्शुभ्येत्' इत्यारम्भात् । आसिञ्च्यु आभिमुख्येनोपदिशे-
युरित्यर्थः । हेतुकर्तृव्यपदेश न साक्षात् कर्तुं, पानस्य कर्ता
स्वयमेवेति । यथाऽऽहापस्तम्ब. - सुरापोऽग्निवर्णा सुरां पिबेत्'
इति । आसिञ्चयुरिति बहुवचनमुपदेष्टृणां बहुत्वसूचनार्थम् ।
तथाऽऽह मनुः—

ते यां वेदविदो ब्रूयु त्रयोप्येनस्सु निष्कृतिम् ।
सा तेषां पावनाय स्यात् पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥

इति । शङ्खोप्याह—

पर्वदाऽनुमतस्सम्यगेनो विख्याप्य तत्त्वतः ।
यद्ब्रूयुस्ताद्विधानज्ञास्तच्छुद्धिकरमुत्तमम् ॥

इति । आस्ये मुखे, मृतः शुद्धयेत् मरणादेव पूतो भवति ।
सुरामास्य इत्यत्र सुराशब्दो गोमूत्रादीनामप्युपलक्षणार्थः । य-
थाऽऽह मनुः—

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुद्रकमेव वा ।
पयो घृतं वाऽऽमरणात् गोशकृद्रसमेव वा ॥

इति । जातिवचनत्वात् ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मण्या अपि सुरापान
एतदेव प्रायश्चित्तम् । तथा शङ्ख स्त्रिय एवाधिकृत्याह—'सु-
रालशुनपलाण्डुगृञ्जनमांसादीन्यभक्ष्याणि वर्जयदाहारमय शरीरं
तन्मयत्वाद्वा सकीर्यते' इत्यादि । तथा वसिष्ठोपि—

पतत्यर्थं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत् ।
पतितार्थशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥

इति । तथा तत्रैव 'या ब्राह्मणी सुरापानं न तां देवाः पतिलोक

नयन्ति इह वै सा भ्रमति क्षीणपुण्याऽप्सु जलूका भवति शु-
क्तिका वा 'इति । अन्ये तु देशान्तराचारदर्शनात्,

पूर्वं स्त्रियस्सुरैर्भुक्ता. सामगन्धर्ववह्निभिः ।

गच्छन्ति मानुषान् पश्चात्तस्मान्निष्कलमषा स्त्रियः ॥

तासां सोमोऽददच्छाच गन्धर्वश्शिक्षितां गिरम् ।

अग्निश्च सर्वभक्ष्यत्व तस्मान्निष्कलमषः स्त्रियः ॥

इति वसिष्ठस्मृतिदर्शनाच्च ब्राह्मण्या नैतत्प्रायश्चित्तमिच्छन्ति ।

तत्र देशव्यवस्थया व्यवस्थितविकल्पो द्रष्टव्यः ॥

अमत्या पाने पयो घृतमुदकं वायुं प्रतिज्यहं

तप्तानि स कृच्छूः ॥ २ ॥

अमत्या अज्ञानेन गौडीमाध्योः, पानाधिकारं पुनः पानग्रह-
णात् । तथा च मनुः—

अज्ञानाठारुणी पीत्वा सस्कारेणैव शुध्यति ।

मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥

इति । अत्रापि तप्तकृच्छूसहितेन सस्कारेणेति भाष्यकारेण व्या-
ख्यातम् । एवञ्च पैष्ट्या अमत्या सकृत् पाने ब्राह्मणस्य द्रष्ट-
व्यम् । यथाऽऽह मनुः—

कणान्वा भक्षयेद्वद् पिण्याक वा सकृन्निशि ।

सुरापानापनुस्यर्थं बालवासा जटी ध्वजी ॥

क्षत्रियवैश्ययोस्तु यथोदाहृत वसिष्ठोक्त द्रष्टव्यं 'सुरायाश्चा-
ज्ञाने' इत्यादि । तस्या बुद्धिपूर्वाभ्यासेऽपि त्रयाणां मरणान्ति-
कमेव प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह वसिष्ठः—

अभ्यासे तु सुरायास्तामग्निवर्णां पिवेद्विजः ॥

इति । अत्र तुशब्दो विशेषवाची । द्विजातीनां पैष्ट्या अबुद्धि-
पूर्वाभ्यासेऽतिविशेषतोऽग्निवर्णाया तस्या पानं कर्तव्यं, ब्राह्म-
णस्य गौडीमाध्योश्चाबुद्धिपूर्वाभ्यासे अग्निवर्णायास्तस्या पाने
मरणादेव शुद्धिः । तथाऽऽह व्याघ्रः—

मत्या मद्यममत्या वा पुनः पीत्वा द्विजोत्तम ।

ततोऽग्निवर्णा तत्पीत्वा मृतश्शुभ्येत्स किल्विषात् ॥

इति । क्षत्रियवैश्ययोस्तु गौडीमाध्योरप्रतिषेधः । तथाऽऽह व्यासः

उभौ मध्वासवक्षीबौ उभौ चन्दनचर्चितौ ।

एकपर्यङ्कशयनौ दृष्टौ मे केशवार्जुनौ ॥

इति । ततश्चामातपूर्वं गौडीमाध्योर्ब्राह्मणस्य सकृत्पाने क्षीरा-
दीनां ज्यहं ज्यहं कर्तव्यम् । पयआदीनां विसमासकरण क्रम-
निवृत्त्यर्थम् । तथाऽऽह वसिष्ठः—

“ज्यहमुष्णा. पिबेदापः ज्यहमुष्ण पिबेत्पयः ।

ज्यहमुष्ण घृत पीत्वा वायुमक्ष परं ज्यहम् ॥

इति तप्तकृच्छ्र ” इति । उदकघृतपयसामेवोष्णत्व सम्भवात्
न वायोः । स कृच्छ्र इति कृच्छ्रविधेः उपसग्रहार्थः । तिष्ठेद-
हनि रात्रावासीतेत्यादि ॥

ततोऽस्य संस्कारः ॥ ३ ॥

तत इति कृच्छ्रानन्तरमेव संस्कार इति । अस्य ग्रहणं वि-
स्पष्टार्थं यस्य पानं तस्येति । तदपि पैष्ट्या बुद्धिपूर्वं सकृत्पाने क्ष-
त्रियवैश्ययोरपि संस्कारप्राप्त्यर्थं ब्राह्मणाधिकारात्तयोर्निवृत्ति-
र्मा भूदिति । उत्तरार्थं वा सूत्रादिप्राशने ब्राह्मणस्यैव पुन
स्संस्कार इति । संस्कार उपनयनमात्रं न तु वेदव्रतधारणादि ।
पुनस्संस्कारस्वरूप स्मृत्यन्तरादवगन्तव्यम् । यथाऽऽह मनुः—

वपन मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च ।

एतानि तु निवर्तन्ते पुनस्सस्कारकर्मणि ॥ इति ॥

मूत्रपुरीषरेतसां च प्राशने ॥ ४ ॥

मूत्रादीनां च प्राशने एतदेव प्रायश्चित्तम् । चकार. पुन-
स्सस्कारानुकर्षणार्थः । इदं बुद्धिपूर्वं, कुतः ? मनुवचनात्--

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या तु त्र्यहं क्षपेत् ।

मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेनोविण्मूत्रमेव च ॥

इति । अत्र कृच्छ्रशब्देन तप्तकृच्छ्रोऽभिहितः इति भाष्यकारे-
णोक्तत्वात् उत्तरत्रान्येषामभक्ष्याणां प्रायश्चित्तोपदेशान्मानुषा-
णां मूत्रादिप्राशन इत्यवगन्तव्यम् । अबुद्धपूर्वं च 'भुक्त्वाऽ-
तोऽन्यतमस्यान्नममत्या तु त्र्यहं क्षपेत्' इत्यनेनैव त्र्यहो वेदितव्यः ।
बुद्धिपूर्वेऽतुल्यप्रायश्चित्तदर्शनात् । यथाऽऽह कण्व —

रेतोमूत्रपुरीषाणां प्राशनेऽमतिपूर्वके ।

नाश्नीयात्तु त्र्यहं मत्या तप्तकृच्छ्रं चरेद्विजः ॥

इति । अमतिविषयेऽपि पुनस्संस्कारो द्रष्टव्यः । यथाऽऽह मनुः—

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुराससृष्टमेव च ।

पुनस्सस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥

इति । केचिदेतदेव प्रायश्चित्तमिच्छन्ति, तदपि सकृत्प्राशने
द्रष्टव्यम् । एवञ्च यत्र मूत्रपुरीषप्राशने प्रायश्चित्तमुक्तं 'काक-
खरोष्ट्राणां च' इत्यादौ, तत्र मनुष्यवर्जितस्य द्रष्टव्यम् ॥

श्वापदोष्ट्रखराणां चाङ्गस्य ॥ ५ ॥

प्राशन इत्यनुवर्तते । श्वापदाः श्वेव पदाः श्वापदाः श्व-

सहशपदाः सुगालादयः । उपूखरौ प्रसिद्धौ । तेषामङ्गस्य मांसचर्मादेर्मक्षणे एतदेव प्रायश्चित्तम् । श्वसहशपादानां विधानादेव शुनोप्यर्थसिद्धम्, चशब्दान्मनुष्याणां च ॥

ग्राम्यकुक्कुटसूकरयोश्च ॥ ६ ॥

अङ्गप्राशन एतदेव प्रायश्चित्तम् । पृथग्योगः ‘पूर्वैश्च दृष्टस्य’ इत्यत्रैतयोर्वैजनाथं । अस्मिन् बुद्धिपूर्वादां पूर्वमेवोक्तम् । चकार पुनस्संस्कारानुकर्षणार्थः ॥

गन्धाघ्राणे सुरापस्य प्राणायामाघृतप्राशनं च ॥

सुरापस्याविशेषितत्वात् सर्वस्य । गन्धाघ्राणे सुरागन्धाघ्राणे, न तु शरीरगन्धाघ्राणे । तत्रापि नान्यावस्थितसुरागन्धाघ्राणे । सुरागन्धाघ्राण इति वक्तव्ये सुरापस्येति निर्देशात् । ततश्चान्यावस्थितसुरागन्धाघ्राणे जातिभ्रशकरत्वं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह मनु. —

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा घ्रातिरग्रेयमद्ययोः ।

जैह्वय पुंसि च मैथुन्यं जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥

इति । तथा प्रायश्चित्तमपि -

जातिभ्रशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतरदिच्छया ।

चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥

इति । यस्य यत्प्रतिषिद्धं तस्य तद्गन्धाघ्राण इति च द्रष्टव्यं अविशेषितत्वात् । द्विजातीनां सामान्यमेव जातिभ्रशकरप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणस्यार्थं क्षत्रियस्य इत्यस्यानुप्रवेशोऽत्र नास्ति, स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यथाऽऽह कण्वः—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यश्चापि तथैव च ।

सुराया गन्धमाघ्राय वरेत्साग्नपनव्रतत् ॥

इति । प्राणायामास्त्रया द्रष्टव्या . तावता बहुवचनस्य कृतार्थ-
त्वात् । घृतप्राशन कायाप्लवनमात्रं, तत्कृत्वा भोक्तव्य उपवास-
विध्यभावात् । विसमासचकारौ व्यस्तसमस्तकल्पनार्थौ । अतो
ब्राह्मणस्य समस्त क्षत्रियस्य तु प्राणायामा. वैश्यस्य घृतप्रा-
शनमिति । तत्रापि—ब्राह्मणस्याहिताग्नेर्विशेषो द्रष्टव्यः । यथाऽऽ-
ह मनुः—

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ।

प्राणानप्सु त्रिरायस्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥

इति । क्षत्रियादेर्विशेषाभावो वचनाभावात् ॥

पूर्वैश्च दष्टस्य ॥ ८ ॥

पूर्वः श्वापदादिभिः समानुपैर्दष्टस्य एतदेव प्रायश्चित्तम् ।
चशब्दात् ग्राम्येश्च ऋष्यादादिभिः । तथाऽऽह मनुः—

श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्ये. ऋष्याद्भिरेव च ।

नराश्वोष्ट्रैर्वराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति ॥

इति, अत्राप्येवविषयो द्रष्टव्यः । एतैर्दष्टस्य ब्राह्मणस्य वसि-
ष्टोक्तं द्रष्टव्य—

ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदी गत्वा समुद्रगाम् ।

प्राणायामगतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥

इति । श्वग्रहणस्यैतेषामप्सुपलक्षणत्वात् क्षत्रियस्येद् प्राणायाम-
त्रय द्रष्टव्यम् । वैश्यस्य मनुनोक्त एकः प्राणायामो द्रष्टव्यः,
प्राणायामेनेत्येकवचनानेदैशात् । सूद्रस्य तु न दोषः । स्त्रियाश्च
सचेलस्नान द्रष्टव्यम् । तथाऽऽह जातुकर्णि.—

ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शुना च श्वापदैरपि ।
दष्टा सचेलमाप्लुत्य शुध्यन्ति तु न संशय ॥ इति ॥

तप्ते लोहशयने गुरुतल्पगशशयीत ॥ ९ ॥

तप्ते अभिवर्णे आयसे शयने गुरुभार्यागामी स्वप्यात् ॥

सूर्मिं वाऽऽश्लिष्येज्ज्वलन्तीम् ॥ १० ॥

सूर्मिं लोहमयीं स्त्रीप्रतिकृतिमन्तस्सुषिराम् । अन्तस्सुषि
रकाष्ठामित्यपरे । तां ज्वलन्तीं आश्लिष्येत् उपगूहेत् ॥

लिङ्गं वा सवृषणमुत्कृत्याञ्जलावाधाय दक्षि-
णाप्रतीचीं ब्रजेदजिह्वमा शरीरनिपातात् ।
मृतशुध्येत् ॥ ११ ॥

लिङ्गं पुरुषव्यञ्जनं बीजसहितं समूलमुत्कृत्य हस्तद्वये
स्थापयित्वा नैरृती दिश ब्रजेदजिह्व कूपाद्यपरिहरन् । आ श-
रीरनिपातात् आ विनाशात् । मृतं शुध्येत् । अयं च सर्व-
शेषः, मरणान्तिकत्वात् । एव च तेषां विकल्पे सिद्धे वाग्रहणं
व्यवस्थार्थम् । ततश्च तयोरिच्छातः सयोगे प्रथमं, तथा प्रो-
त्साहितस्य द्वितीयं, पुरुषेण स्वेन प्रोत्साहितायां तृतीयमिति ।
एतदपि ब्राह्मणस्य ब्राह्मणीगमने बुद्धिपूर्वं सकृद्गमने । अबु-
द्धिपूर्वं सकृद्गमने तु मनुनोक्तं द्रष्टव्यम्—

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो निर्जने वने ।

प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥

इति । तदप्युभयोरिच्छातस्सयोगे । तथा प्रोत्साहितस्य स्वेन प्रो-

त्साहितायामौशनसमिति द्रष्टव्यम्—‘गुरुतल्पगामी संवत्सर ब्रह्म-
हत्याव्रत षण्मासं तप्तकृच्छ्रं वा’ इति । तत्रापि तथा प्रोत्साहि-
तस्य ब्रह्महव्रत, स्वेन प्रोत्साहितायां तप्तकृच्छ्रमिति द्रष्टव्यम् ।
अबुद्धिपूर्वे अभ्यासे वासिष्ठोक्त द्रष्टव्यम्—‘निष्कालको घृताक्तो
गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमवदाहयेत् पूतो भवतीति विज्ञा
यते’ इति । एवं ब्राह्मणीगमने ब्राह्मणस्य बुद्धिपूर्वे सकृद्गमने
अबुद्धिपूर्वेऽभ्यासे मरणान्तिकमेव । क्षत्रियागमने व्याघ्रोक्त द्रष्टव्यं—

कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च तथा कृच्छ्रातिकृच्छ्रकम् ।

चरेन्मासत्रयं विप्रः क्षत्रियागमने गुरोः ॥

इति । तत्रापि बुद्धिपूर्वे सकृद्गमने उभयोरिच्छात प्रवृत्तावति-
कृच्छ्रः । तथा प्रोत्साहितस्य कृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां कृ-
च्छ्रातिकृच्छ्रः तत्रापि, बुद्धिपूर्वे अभ्यासे मरणान्तिकमेव । य-
थाऽऽह कवष —

मत्या गत्वा गुरोर्भार्यां पुनः क्षत्रसुतां द्विजः ।

वृषणावर्जितं लिङ्गं उत्कृत्य च मृतश्शुचिः ॥

इति । अबुद्धिपूर्वे सकृद्गमने कण्वोक्तं द्रष्टव्यम्—

चान्द्रायणं तप्तकृच्छ्रं अतिकृच्छ्रं तथैव च ।

सकृद्गत्वा गुरोर्भार्यामज्ञानात् क्षत्रियां द्विजः ॥

इति । तत्राप्युभयेच्छात प्रवृत्तौ तप्तकृच्छ्रः, तथा प्रोत्साहिते
अतिकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां चान्द्रायणमिति । अभ्यासे तु—

गुरोः क्षत्रसुतां भार्यां पुनर्गत्वा त्वकामतः ।

वृषणमात्रमुत्कृत्य शुभ्येर्जाविन्मृतश्च सः ॥

इति जातूकर्ण्युक्त द्रष्टव्यम् । वैश्यागमने बुद्धिपूर्वे सकृद्गमने क-
वष आह—

तप्तकृच्छ्रं पराकं च तथा सान्तपनं गुरोः ।

भार्या वैश्यां सकृद्रत्वा बुद्ध्या मास चरेद्विजः ॥

इति, तत्राप्युभयेच्छातः प्रवृत्तौ तप्तकृच्छ्रः, तथा प्रोत्साहितस्य सान्तपनं, स्वेन प्रोत्साहितायां पराकः । अभ्यासे लिङ्गस्या-
ग्रच्छेदः कर्तव्यः । यथाऽऽह लोकाक्षिः—

गुरोर्वैश्यां पुनर्गत्वा गत्वा चापि पुनःपुनः ।

लिङ्गाग्र छेदयित्वा तु ततः शुद्धयेत्स किल्बिषात् ॥

इति । अस्मादेव ज्ञापकादभ्यासे यदुक्तं गुरुतल्पप्रायश्चित्तं त-
देव बहुशोऽभ्यासेऽपि द्रष्टव्यम् । अबुद्धिपूर्वं सकृद्रमने प्रजा-
पातराह—

पञ्चरात्रं तु नाश्नीयात्सप्ताष्टौ वा तथैव च ।

वैश्यां भार्या गुरोर्गत्वा सकृदज्ञानतो द्विजः ॥

इति । तत्राप्युभयेच्छातः प्रवृत्तौ सप्तरात्रं, तथा प्रोत्साहितस्य
पञ्चरात्रं, स्वेन प्रोत्साहितायामष्टरात्रमिति । अभ्यासे त्वा मर-
णात् ब्रह्मचर्यरक्षणम् । तथाऽऽह हारोतः—

अभ्यस्य विप्रो वैश्यायां गुरोरज्ञानमोहितः ।

सषडङ्गं ब्रह्मचर्यं स चरेद्यावदायुषम् ॥

इति । शूद्रागमने बुद्धिपूर्वं जावालिराह—

अतिकृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं पराकं च तथैव च ।

गुरोश्शूद्रां सकृद्रत्वा बुद्ध्या विप्रश्चरेत्ततः ॥

इति । अत्राप्युभयेच्छातः प्रवृत्तौ तप्तकृच्छ्रः, तथा प्रोत्साहित-
स्यातिकृच्छ्रः, आत्मना प्रोत्साहितायां पराक इति द्रष्टव्यम् ।
अभ्यासे तु द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यरक्षणं कर्तव्यम् । यथाऽऽहोप-
मन्युः—

पुनश्शूद्रां गुरोर्गत्वा बुद्ध्या विप्रस्समाहितः ।

ब्रह्मचर्यमदुष्टात्मा स चरेद्वादश समाः ॥

इति । अज्ञाने दीर्घतपा आह —

प्राजापत्यं सान्तपनं सप्तरात्रोपवासकम् ।

गुरोश्शूद्रां सकृद्रत्वा चरेद्विप्रस्समाहितः ॥

इति । अत्राप्युभयेच्छातः प्रवृत्तौ सान्तपनं, तथा प्रोत्साहितस्य प्राजापत्यं, स्वेन प्रोत्साहितायां सप्तरात्रमुपवास इति । अभ्यासे तु मनुनोक्त द्रष्टव्यम्—

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ।

हविष्येण यवाग्वाऽपि गुरुतल्पाद्यनुत्तये ॥

इति । साधारणस्त्रीणां गुरुतल्पदोषो नास्ति, व्याघ्रवचनात्—

जात्युक्तं परदार्यं च कन्यादूषणमेव च ।

साधारणस्त्रियां नास्ति गुरुतल्पत्वमेव च ॥

इति । आचार्यव्यतिरिक्ताः पित्रादयो गुरवः, 'आचार्यपुत्रशिष्य-
भार्यासु चैवम्' इत्यतिदेशादाचार्यादीनां भार्यासु वसिष्ठेन ॥

सखीसयोनिसगोत्राशिष्यभार्यासु स्नुषायां ग-
वि च तल्पसमः ॥ १२ ॥

सखी मित्रं, सयोनिः भगिनी, सगोत्रा एकार्षेया । एतासु शिष्यभार्यायां पुत्रभार्यायां च मैथुन आचरिते गुरुतल्पतुल्यं निष्क-
यणम् । विसमासः सख्यादिभार्योपसंग्रहार्थः । तथाऽऽह मनु.—

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्वैतः सिकत्वा सयोनिषु ।

सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्यजासु च ॥

इति । चशब्द आश्रितादिभार्योपसंग्रहार्थः । तथाऽऽह व्याघ्रः—

आश्रितस्यापि विदुष आहिताग्नेश्च योगिनः ।
 आचार्यस्य च राज्ञश्च भार्या प्रव्रजितां तथा ॥
 धात्री पुत्री च पौत्री च सखी मातुस्तथैव च ।
 पितु सखी तथा गत्वा गुरुतल्पव्रतं चरेत् ॥ इति ॥

अवकर इत्येके ॥ १३ ॥

एके त्ववकीर्णिव्रतं कर्तव्यमिति मन्यन्ते न तु गुरुतल्प-
 व्रतमिति । इतिकरणं सन्देहव्यावृत्त्यर्थं । यद्येवमुच्येत अव-
 कर एक इति ततोऽवकीर्णिनोपि गुरुतल्पसमो दोष इत्या-
 शङ्का स्यादिति । सोऽयं विकल्पोऽभिसन्ध्यपेक्षया द्रष्टव्यः ।
 अभिसन्ध्यौ गुरुतल्पसमः, अनभिसन्ध्यौ त्ववकीर्णिव्रतमिति । एवं
 चात्र पारदार्यनिमित्तं कृच्छ्रं कृत्वा पुनरवकीर्णिव्रतमिति द्रष्ट-
 व्यम् । तथाऽऽह जातूकर्णः—

आचार्यादेस्तु भार्यासु गुरुतल्पव्रतं चरेत् ।

अवकीर्णिव्रतं चैव ततः कुर्यात्समाहितः ॥

इति । गुरुतल्पसमेऽपि पारदार्यादधिकं गुरुतल्पाद्धीनं कल्प्यम् ।
 तदपि परदारप्रायश्चित्तमेव चान्द्रायणादधिकं द्रष्टव्यम् । चा-
 न्द्रायणस्य च वर्णक्रमेण पादहीनकल्पना कर्तव्या । तथाच
 प्रजापतिः—

आचार्यादेस्तु भार्यासु चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ।

क्रमेण पादशो हीनं वर्णानामिति च स्थितिः ॥

इति । अवकीर्णप्रायश्चित्तमापि रहस्योक्तं ‘तदाहुः कतिधाऽ-
 वकीर्णी’ इत्यादि वक्ष्यति । तथाच प्रजापतिः—“आचार्यादेस्तु
 भार्यासु गमने पारदार्यं परिसमाप्यावकीर्णीं वर्णं क्रमेण मासं पक्षं

दशाह सताहं पञ्चाहं इत्यग्नावाज्येन जुहुयात् 'कामावकीर्णो-
स्म्यवकीर्णोस्मि काम कामाय स्वाहा, कामाभिद्रुग्धोस्म्यभि-
द्रुग्धोस्मि काम कामाय स्वाहा' इति द्वाभ्याम् । एत होम श्रो-
त्रियभार्यागमने द्विगुण कुर्यादिच्छन्त्यां गमने अर्धमित्युपदिश-
न्ति" इति । सर्वत्र समीकरणविषये सर्वप्रायश्चित्तमेव द्रष्ट-
व्यमिति यदुक्तं तदन्यप्रायश्चित्तानुपलब्धौ द्रष्टव्यम् ॥

अत्र निहीनवर्णगमने स्त्रियाः पातित्यमुक्तम् । तस्यास्सा-
मान्यतः पतितप्रायश्चित्ते प्राप्त आह—

**श्वभिः खादयेद्राजा निहीनवर्णगमने स्त्रियं
प्रकाशम् ॥ १४ ॥**

निहीनवर्णो व्याख्यात 'भ्रूणहनिहीनवर्णसेवायां च' इत्यत्रा
तद्रमने तां श्वभिः खादयेद्राजा प्रकाश जनसमक्षम् । तथाऽऽ-
ह मनुः—

भर्तार लङ्घयेद्या तु जातिस्त्रीगुणदर्पिता ॥

तां श्वभिः खादयेद्राजा सस्थाने बहुसस्थिते ॥

इति । अबुद्धिपूर्वे अय राजदण्डः, बुद्धिपूर्वे वसिष्ठोक्तं द्रष्ट-
व्यं - "शूद्रो ब्राह्मणीमुपगच्छेत् वीरणैर्वैष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रा-
स्येत् ब्राह्मण्या शिरसि वपन कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां
कृष्णखरमारोप्य महापथमनुसव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञा-
यते, वैश्यश्चेत् ब्राह्मणीमुपगच्छेच्छोहितदर्भैर्वैष्टयित्वा वैश्यमग्नौ
प्रास्येत् ब्राह्मण्याश्शिरसि वपन कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां
गौरखरमारोप्य महापथमनुसव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते,
राजन्यश्चेत् ब्राह्मणीमुपगच्छेच्छरपत्रैर्वैष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रा-

स्येन् ब्राह्मण्या शिरसि वपन कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां
श्वेतखरमारोप्य महापथमनुसव्राजयेत् पूता भवतीति विज्ञायते
एव वैश्यो राजन्यायां शूद्रश्च राजन्यवैश्ययो” इति । निही-
नवर्णगमन इत्युक्तत्वात् क्षत्रियवैश्याभ्यां बुद्धिपूर्वगमने ब्राह्म-
ण्याः कल्प्यम् । यथाऽऽह मनु.—

जघन्य सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे ।

उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ॥

इति । अयमेव क्षत्रियावैश्यागमनेऽपि द्रष्टव्यः, सामान्येनोक्त-
त्वात् । एवञ्च निहीनवर्ण इत्ययमपि दण्डो द्विजातिस्त्रीणां
सामान्यः, सामान्येनोक्तत्वादेव । अनुलोमसम्पर्के तु व्याघ्र
आह—

वर्णानामनुलोमानां परस्परसमागमे ।

व्युत्क्रमेण ततो राजा खादयेद्भानरैः स्त्रियम् ॥

सृगालैर्बुद्धिपूर्वं चेत् पुरुषो वधमर्हति ।

अयमेवानुलोमानां स्वजातिव्युत्क्रमेष्वपि ॥

इति । प्रतिलोमसमागमे बुद्धिपूर्वं चाबुद्धिपूर्वं च मनुनोक्तं द्रष्टव्यं—

प्रतिलोमे वधः पुंसां स्त्रीणां नासादिकर्तनम् ॥

इति । ननु च ‘एतदेव विधिं कुर्याद्यांषिन्सु पतितास्वपि’ इति,
‘यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्भूतम्’ इति च सिद्धे अयं
दण्डविधिरनर्थक इति । अत्रोच्यते या स्वयमेव राजानं ग-
च्छति तस्या दण्ड एव, यया तु बलादानीयते तस्या दण्डश्च
प्रायश्चित्तं च, या स्वयमपि न गच्छति न बलादानीयते त
स्याः प्रायश्चित्तमेवेति । अयमेव न्यायः सर्वत्र दण्डप्रायश्चि-
त्तयोर्द्रष्टव्यः । अत्र प्रतिलोमानां स्वजातिव्युत्क्रमे ‘प्रतिलो-

मातु धर्महीनः' इति प्रायश्चित्ताभावादन्येषां सङ्करदोषपरिहारार्थं दण्डः कल्प्यः । एवं च 'प्रतिलोमे वधः पुंसां स्त्रीणां नासादिकर्तनम्' इति तेषामपि द्रष्टव्यम् । तथा पातकोपपातकविषयेऽपि ब्राह्मण्या अनुलोमानन्तरजस्य यो दण्ड उक्तः तस्यार्थं द्रष्टव्यम्, तथैकान्तरद्वयन्तरयोश्च, कुतः ?

चण्डालस्य समीपे तु नाध्येतव्यं कदाचन ।

तथा पारशवस्यापि चण्डालार्थो हि स स्मृतः ॥

इति व्याघ्रधर्मलिङ्गात् ॥

पुमांसं घातयेत् ॥ १५ ॥

प्रकाशमित्यनुवर्तते । घातनप्रकारश्च वसिष्ठोक्तो द्रष्टव्यः । उदाहृतश्च विशेषात् । बुद्धिपूर्वेऽबुद्धिपूर्वे सकृत्गमने अभ्यासे च विशेषवचनान्तराभावाच्च सर्वत्र हननमेव द्रष्टव्यम् । एव वर्णानामनुलोमानां प्रतिमोमानां च स्ववर्गव्युत्क्रमे परस्परव्युत्क्रमे च हननमेव द्रष्टव्यम् । तथाच स्मृत्यन्तरवाक्यानि चोदाहृतानि । एवञ्च स्त्रीणामपि सकृद्गमनेऽभ्यासे च पूर्वोक्त एव दण्ड इति द्रष्टव्यम् ॥

यथोक्तं वा ॥ १६ ॥

लिङ्गोद्धार इत्यादि यथोक्तं वा शूद्रस्य द्रष्टव्यम् ॥

तत्र सच्छूद्रस्य यथोक्तमितरस्येदमिति द्रष्टव्यम् ॥

गर्दभेनावकीर्णीं निरृतिं चतुष्पथे यजेत ॥ १७

अवकीर्णीं विप्लुतब्रह्मचर्यो ब्रह्मचारी । यथाऽऽह जातुकर्णिः—

खण्डित व्रतिना रेतो येन स्यात् ब्रह्मचारिणा ।

क्षरणात् कामतः प्राहुरवकीर्णीति त बुधाः ॥

इति । यत्र त्वन्यत् प्रायश्चित्त नास्ति पुत्रिकाकरणादौ तत्रेदं प्रायश्चित्त द्रष्टव्यम् । एवंचान्यत्र कन्यागमनादिप्रायश्चित्तेन सह प्रायश्चित्तद्वयसिद्धिः । गर्दभेन खरेण काणेनावकीर्णी निरृति-
दैवत्येन चतुष्पथे अरण्य एव, न सर्वत्र लौकिकेऽग्नौ । य-
थाऽऽह वसिष्ठः—‘ब्रह्मचारी चेत् स्त्रियमुपेयात् अरण्ये चतु-
ष्पथे लौकिकेऽग्नौ रक्षोदैवतं गर्दभं पशुमालभेत नैरृतं वा चरु
निर्वपेत्’ इति । तत्राश्रोत्रियस्य गर्दभ, आत्रियस्य चरुरिति
द्रष्टव्यम् । स्थालीपाकविधानेन यजेत जुहुयात् । रात्रावेव न
दिवा । यथाऽऽह मनु—

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।

स्थालीपाकविधानेन यजेत निरृति निशि ॥

इति । अत्राय होमविधिवेदितव्यः - आप्रधानयागात् स्थालीपा-
कविधानेन होम कृत्वा वसिष्ठोक्तैर्मन्त्रैः पशुमांसैर्होतव्यम् । तत्र
‘तस्य जुहुयात्’ इत्युक्तत्वात् । तत्राहुतयः—‘कामाय स्वाहा
कामकामाय स्वाहा निरृत्यै स्वाहा रक्षोदेवताभ्यः स्वाहा’
इति चतस्रः । वपाहोमत्वात् स्विष्टकृन्नास्ति ‘स्विष्टकृदन्यत्र
वपाहोमाज्यहोमाभ्याम्’ इति जैमिनिगृह्ये प्रतिपादितत्वात् ।
एवं हविषा हुत्वा पुनः सर्पिषा वाय्वादीनां ‘संमासिञ्चन्तु’
इत्यनेन मन्त्रेण होतव्यम् । यथाऽऽह मनुः—

हुत्वाऽग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समित्यूचा ।

वाय्विन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाऽऽहुती ॥

इति । एवं हुत्वा पुनरपि स्थालीपाकविधानेन होमशेषं निनये-
दिति । अभ्यासविशेषाद्धोमावृत्तिर्द्रष्टव्या । यथाऽऽह कण्वः—

प्रथमदिवसे रात्राववकीर्णी गर्दमेन तु ।

यजेदेव यथाभ्यासं सोऽब्देनैकेन शुध्यति ॥

इति । एवञ्चाभ्यासे होमावृत्तिरेव न कालावृत्तिरिति ॥

तस्याजिनमूर्ध्ववालं परिधाय लोहितपात्रस्स-
प्तगृहान्भैक्षं चरेत्कर्मचक्षाणः ॥ १८ ॥

तस्य गर्दभस्याजिन चर्म । आधकारेणैव सिद्धे तस्य-
ग्रहणं येन गर्दमेन याग तस्यैव चर्म नान्यस्येति नियमार्थम् ।
तदपि साङ्गमूर्ध्ववालं बहिलोम, तदुपरि वसित्वा । लोहितपात्रः
ताम्रमयपात्र. रक्तवर्णपात्रो वा । प्रतिदेनं सप्तैव गृहान् भैक्षं
चरेत्कर्मचक्षाणः अवकीर्णने भिक्षां देहीति, एवमवकीर्ण्य-
स्मीति कीर्तयन् । एवंच भैक्षाचरणकाल एव चर्मण परिधान
न होमकालेऽपि । तथाच मनुरापे होमादूर्ध्वमेव वक्ष्यति—

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।

सप्तागारं चरेत् भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥

इति । भोजनमप्येककालमेव । यथाऽऽह मनुः—

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।

उपस्पृशन् त्रिषणवमब्देनैकेन शुद्ध्यति ॥ इति ॥

संवत्सरेण शुध्येत् ॥ १९ ॥

एवमाचरन् संवत्सरेण पूतो भवति । अविशेषादिजाती-
नामिदं द्रष्टव्यम् । तथाच मनुना द्विजातिग्रहणं कृतं—

कामतो रेतसस्सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ।

अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥

इति । एवञ्च ब्राह्मणस्यार्धं क्षत्रियस्येत्यय न्यायोऽत्र नावतरति ।
यथाऽऽह शाण्डिल्योपि —

अवकीर्णीं द्विजो राजा वैश्यश्चापि खरेण तु ।

इष्टा मैक्षाशनो नित्य शुभ्यत्यब्दात्समाहितः ॥

इति । अत्र स्त्रियमन्तरेण प्रयत्नोत्सर्गेऽपि होममात्रं द्रष्टव्यम् ।
यथाऽऽह वसिष्ठः — ‘एतदेव रेतसः प्रयत्नोत्सर्गेऽपि’ इति । तथा
पुरुषमैथुनेऽपि । तथाऽऽह काश्यपः—

पुंसि मैथुनमासेव्य यत्नोत्सर्गे कृते तथा ।

ब्रह्मचारी तथाऽऽभ्यासात्स्नात्वाऽथ हविषा यजेत् ॥

इति । वानप्रस्थादीनां चायमेव कृच्छ्राधिको द्रष्टव्यः । यथाऽऽह
वसिष्ठः—‘वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा म-
हाकक्षं वर्धयेत्, भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवृद्धिवर्जम्’ इति । द्वाद-
शरात्रग्रहणमत्र पराकत्रयोपसङ्गहणार्थम् । यथाऽऽह शाण्डिल्यः—

वानप्रस्थो यतिश्चैव खण्डने सति कामतः ।

पराकत्रयसंयुक्तमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥

इति । चरितप्रायश्चित्तयोरपि ससर्गो न कर्तव्यः यथाऽऽह कौ-
शिकः—

नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां चावकीर्णिनाम् ।

शुद्धानामपि लोकेऽस्मिन् प्रत्यापत्तिर्न विद्यते ॥

इति । यतीनां वनस्थानां च प्रयत्नोत्सर्गे कण्वोक्तं द्रष्टव्यम्—

यत्नोत्सर्गं गृही कृत्वा वारुणीभिरुपस्पृशेत् ।

वानप्रस्थो यतिश्चैव चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ॥

गृह्यमन्त्रैस्त्रिराचामेत् भूर्भुवस्स्वरिति त्रिभिः ।

अतिर्वनस्थश्च जपेत् पुनर्मामिति षोडश ॥

इति । इदमपि स्वप्नादन्यत्र । स्वप्नेऽपि काश्यप आह—

सूर्यस्य त्रीन् नमस्कारान् स्वप्ने कृत्वा गृही चरेत् ।

यतिश्चैव वनस्थश्च त्रिः कुर्यादधमर्षणम् ॥

इति । गृहस्थस्य पुरुषमैथुने मनुनोक्त द्रष्टव्यम्—

मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा पुनः ।

गोयानेऽप्सु दिवा चैव सचेलस्नानमाचरेत् ॥

इति । एवञ्च जातिभ्रंशकरप्रायश्चित्तमस्मादन्यत्र द्रष्टव्यम् । योषिति स्वभार्यायामेव, ऋतौ गमने च । तथाऽऽहाङ्गिराः—

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात् स्नानं मैथुनिन स्मृतम् ।

अनुतौ तु यदा गच्छेच्छौच मूत्रपुरोषवत् ॥

इति । दिवा मैथुने वारुणीभिश्च अपामार्जनं कर्तव्यम् । यथाऽऽह बृद्धवसिष्ठः—

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां कृत्वा पर्वणि मैथुनम् ।

सचेलस्नानात्वा दिवा च वारुणीभिश्च मार्जयेत् ॥

शावाशौचे तथा श्राद्धे चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ।

संक्रान्त्यामुपरागे च तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥

इति । पुरुषमैथुने वानप्रस्थपरिव्राजकयोः कण्वोक्तं द्रष्टव्यम्—

पुंसि मैथुनमासेव्य वानप्रस्थो यतिस्तथा ।

कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव कृत्वा शुद्धचेत्स किल्बिषात् ॥

इति । अलमतिप्रसङ्गेन । अधुना प्रस्तुतमारभ्यते—

रेतस्स्कन्दनेऽभयेऽरोगेऽस्वप्नेऽग्नीन्धनभैक्षचरणानि सप्तरात्रमकृत्वा आज्यहोमस्समिधोर्वा रेतस्याभ्याम् ॥ २० ॥

अबुद्धिपूर्वविषय इदम्, बुद्धिपूर्वं पूर्वमुक्तत्वात् । रेत-
स्स्कन्दने रेतस क्षरणे सति, अभये अरोगे अस्वप्ने, अग्नी-
न्धनभैक्षचरणानि अनातुर सप्तरात्रमकृत्वा । तथाच मनु.—
'अकृत्वा भैक्षचरण' इत्यादि । आज्यसमिगोर्वा होमो रेतस्या-
भ्यामृग्भ्यां—'पुनर्मामैतु, पुनर्मन.' इत्याभ्याम् । समिदाज्ययोः
सम्भवतो विकल्पः । स्वप्ने तु क्षरणे मनुनोक्तम् । द्रष्टव्यम्—

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजशुक्लमकामतः ।

स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रि. पुनर्मामित्यृच जपेत् ॥

इति । भयरोगनिमित्ताभ्यामपि क्षरणं इदमेव द्रष्टव्यम्—

भये रोगे तथा स्वप्ने सिक्त्वा शुक्लमकामतः ।

आदित्यमर्चयित्वा तु पुनर्मामित्यृच जपेत् ॥

इति प्रजापतिधर्मलिङ्गात् । एवञ्च वानप्रस्थपरिव्राजकयोश्च य-
दुक्त स्वप्ने रेतस्सेके तदेव भयरोगेऽपि द्रष्टव्यम् । नैष्ठिकस्य
यदुक्त ब्रह्मचारिणस्तदेव द्विगुणं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह हारीतः—

उपकुर्वाणस्तु यत्कुर्यात्कामतोऽकामतोपि वा ।

तदेव द्विगुणं कुर्यात् ब्रह्मचारी च नैष्ठिकः ॥

इति । अन्ये तु व्याचक्षते—रेतस्स्कन्दने स्वप्ने भयरोगौ वर्जयि-
त्वेति, तेषां मनुनोक्तेन तुल्यविकल्पो द्रष्टव्यः । स्वप्नादन्य-
त्रापि प्रायश्चित्तं सृज्यम्—

सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरभुञ्जानोऽ-

भ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीम् ॥२१॥

सूर्याभ्युदितः यस्य शयानस्य सूर्य उदेतीत्यर्थः । ब्रह्म-
चारिग्रहणमधिकारलब्धमपि क्रियते गृहस्थादेरन्यत् प्रायश्चित्त-

मिति, तेषामपि 'उचरेषां चैतदविरोधि' इति प्राप्तिर्मा भू-
दिति । गृहस्थस्य तावदापस्तम्बोक्तमेकीय मत द्रष्टव्य — 'आ-
तमितो, प्राणमायच्छेदित्येके' इति । यतिवनस्थयोश्च ब्रह्मकूर्चस-
हित उपवासः । यथाऽऽह वृद्धवसिष्ठ —

वनस्थश्च यतिश्चैव सूर्येणाभ्युदितौ यदि ।

ब्रह्मकूर्चाशिनौ भूत्वा जपेतां प्रणवं त्वहः ॥

इति । ब्रह्मकूर्चविधानमपि स्मृत्यन्तरादवगन्तव्यम् । यथाऽऽह
प्रजापतिः—

पालाश पद्मपत्रं वा ताम्रं वाऽपि हिरण्यम् ।

गृहीत्वाऽऽसादयित्वा च ततः कर्म समारभेत् ॥

गायत्र्या गृह्य गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।

आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि ॥

श्रुक्रमसि तेजोसीत्याज्यं देवस्य त्प्रेति कुशोदकम् ।

चतुर्दश्यामुपोष्याथ पौर्णमास्यां समाचरेत् ॥

गोमयाद्विगुणं मूत्रं सर्पिर्दद्याच्चतुर्गुणम् ।

क्षीरमष्टगुणं देयं दधि पञ्चगुणं तथा ॥

स्थापयित्वाऽथ दर्भेषु पालाशैः पत्रकैरथ ।

तत्समुद्धृत्य होतव्यं देवताभ्यो यथाक्रमम् ॥

अग्नये चैव सोमाय सवित्रे च तथैव च ।

प्रणवेन तथा हुत्वा स्विष्टकृच्च तथैव च ॥

एव हुत्वा ततश्शेषं पापं ध्यात्वा समाहितः ।

आलोढ्य प्रणवेनैव निर्मन्थ्य प्रणवेन तु ॥

उद्धृत्य प्रणवेनैव पिबेच्च प्रणवेन तु ।

एतद्ब्रह्मकृतं कूर्चं मासिमासि चरन् द्विजः ।

सर्वपापविमुक्तात्मा स्वर्गलोकं स गच्छति ॥

यद्यप्यास्थगनं पाप देहे तिष्ठति देहिनाम् ।

ब्रह्मकूर्चो दहेत्सर्वं प्रदीप्ताग्निरिवेन्धनम् ॥

इति । तिष्ठेदहरहरभुञ्जान निराहारोऽहनि तिष्ठेत्, रात्रौ तु भोक्तव्यम् । एवमभ्यस्तमितः यस्य सन्ध्यामनुपासीनस्य सतो र-
विरस्तमेति असाद्यपि रात्रौ नाश्नीयात् । अभ्यासन द्रष्टव्यं,
'तिष्ठेदहनि रात्रावासीत' इति लिङ्गात् । उभयत्र जपन् सा
वित्री, तथाऽऽह मनु —

त चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामकारतः ।

निम्रोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपंस्तूपवसेदिनम् ॥

इति । बुद्धिपूर्वं अबुद्धिपूर्वं च इदमेव, 'निम्रोचेद्वाऽप्यविज्ञा-
नात्' इति लिङ्गात् । अत्र सचेतस्त्वानं द्रष्टव्यम्, 'सूर्याभ्यु-
दितनिम्रुक्तः सचेतस्त्वानं सावित्री सवनानुगतां जपेत्' इति
शङ्खवचनात् । अत्राप्यभये अरोगे इति चानुवर्तते तत्रादोष-
ख्यापनार्थम् । तथाऽऽह जाबालिः—'अभयरोगस्थः सूर्याभ्यु-
दितः प्रायश्चित्तीयो भवति' इति । अत्र ब्राह्मणस्यार्थं क्षत्रि-
यस्येत्येतद्द्रष्टव्यम् ॥

अशुचिं दृष्ट्वाऽऽदित्यमीक्षेत प्राणायामं कृत्वा ॥

अशुचिः चण्डालादिः, तं दृष्ट्वा एकं प्राणायामं कृत्वा
आदित्यं पश्येत् । प्रकरणात् ब्रह्मचारिणो नियमकाल इदम् ।
नैष्ठिकादीनां मनुनोक्तं द्रष्टव्यम्—

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।

सौर्यान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तिः ॥

इति । गृहस्थस्य प्रणवो द्रष्टव्यः, 'अशुचिदर्शने द्विजः प्रणवं
जपेत्' इति जाबालिगृह्यदर्शनात् । सर्वेषां नियमकालादन्य-

त्रादित्यदर्शनमात्रमेव, 'अशुचिदर्शन आदित्यदर्शन ब्राह्मणदर्शनं वा गवामग्नेर्वा' इत्यौशनसवचनात् । जाबालिगृह्ये द्विजग्रहणाच्च द्विजातीनामिदं सामान्य, शूद्रस्य न विवि न प्रतिषेधः॥

अभोज्यभोजने निष्पुरीषीभावः ॥ २३ ॥

अभोज्यानां लशुनादीनां भोजने छर्दनेन विरेचनेन वा निष्पुरीषीभावः कर्तव्यः, तथाऽऽह मनुः—

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनश्शुद्धिमिच्छता ।

अज्ञातभुक्तमुद्गार्यं शोध्यं चाऽप्याशु शोधनै ॥

इति । जीर्णत्वात् कालातिक्रमे छर्दनविरेचनासम्भवे स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह प्रजापतिः—

अभोज्यभोजनं कृत्वा दद्याद्विप्राय तद्वचयम् ।

आर्द्रवासा दिनं तिष्ठेद्यद्वा दद्याद्गवाहिकम् ॥

इति । परिग्रहदुष्टभोजन इदं, विप्राय तद्वचय दद्याद्यथाऽभ्यस्ततदसंभवे गवाहिकं वा दद्यात्, तस्याप्यसम्भवे हविष्यं सकृत् भुक्त्वा जलार्द्रवासास्तिष्ठेद्यावन्ति दिनान्यभ्यस्तानि तावन्त्यहोरात्राणीति तत्र क्रमः । कालाश्रयस्वभावदुष्टानां व्याघ्रोक्तं द्रष्टव्यम्—

अभोज्यभोजनं कृत्वा नक्तभोजनमाचरेत् ।

अक्षारलवणं वाऽपि भुञ्जीयाच्च दिनेदिने ॥

कपिलायास्तु दुग्धया धारोष्णं गोः पयः पिबेत् ।

एष व्याघ्रकृतः कृच्छ्रः श्वपाकमपि शोधयेत् ॥

इति । अत्रापि कालदुष्टभोजने नक्तभोजनं, आश्रयदुष्टभोजने अक्षारलवणान्नभोजनं, स्वभावदुष्टभोजने कपिलाक्षीरपानमिति ।

दिनेदिने इति सर्वशेषः । यावन्ति दिनानि भुक्तानि तावन्ति दिनानीत्यर्थः । तत्रापि सकृद्भोजने पूर्वश्लोकोक्तानां मध्ये व्ययदानादीनां तावन्मात्रस्यैव दानं द्रष्टव्यम् । आर्द्रवासस्ताऽपि दिनमात्रमेवेति । नक्तभोजनश्लोकेऽपि सकृद्भोजने सपूर्णाहारता द्विर्भोजने अर्धाहारतेति । क्षत्रियवैश्ययोस्त्वभक्ष्यभक्षणे अर्धस्यार्धार्धस्य च प्रवेशे कवषोक्तो न्यायः । एवंच सति व्ययदानश्लोकोक्तानामर्धमर्धं परिकल्प्यम् । नक्तभोजनश्लोके रसद्रव्यरहितं ब्राह्मणस्य, किञ्चिद्रसद्रव्यसहितं क्षत्रियस्य, तद्वहुलं वैश्यस्येति द्रष्टव्यम् । क्षीरपानश्लोकेऽपि क्षत्रियस्य द्विः पानं, वैश्यस्य त्रि पानमिति । एव चतुर्विधस्य अभक्ष्यस्याज्ञानभोजने छर्दनविरेचनव्ययदानानि कृत्वा वक्ष्यमाण 'त्रिरात्रावरमभोजनम्' इत्यादि प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । बुद्धिपूर्वं व्ययदानादि कृत्वा प्रायश्चित्तं कर्तव्यं, व्ययदानादिश्लोके विशेषाभावात् । छर्दनविरेचनविषये 'ज्ञातं जग्धम्' इत्युक्तत्वाच्चेति ॥

अधुना प्रायश्चित्तमाह —

त्रिरात्रावरमभोजनम् ॥ २४ ॥

प्राक्पञ्चनखेभ्यः इत्यनेनाश्रयपरिग्रहणकालदुष्टानां वक्ष्यमाणत्वात् स्वभावदुष्टानामिदं वेदितव्यम् । तत्र लशुनादीनां पशूनां च 'सप्तरात्र वा, स्वयं शीर्णानि' इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां वक्ष्यमाणत्वात् तेभ्योऽन्येषामिदमिति चावगन्तव्यम् । तत्रापि बुद्धिपूर्वं सकृद्भोजनं इदं, अबुद्धिपूर्वं सकृद्भोजने मनुनोक्तं द्रष्टव्यम्—'शेषेष्वप्यसेदह' इति । अत्रापि वकादीनां पक्षिणां बुद्धिपूर्वं सकृद्भोजने स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह शङ्खः—
'बकबलाकचक्रवाकहंसप्लवखञ्जरीटकारण्डववटहारचटकगृहकपो-

तशुकशारिककिरकसारसटिट्टिभोलूककपोतरक्तपादजालपादचा -
 षभासमद्रुभञ्जिशिशुमारनक्रमकरतिमितिमिङ्गिलवल्मीकलाभिसमां-
 सभक्षणे द्वादशरात्रमनाहारः पिबेद्वा गोमूत्रयावकम्' इति ।
 अबुद्धिपूर्वे उशना आह—'बलाकप्लवहंसकारण्डवचक्रवाकखञ्ज-
 रीटगृहकपोतवटहारवीटकरक्तपादोलूकशुकसारसटिट्टिभभासमद्रु-
 महाटिट्टिभच्चाषभासजालपादनक्रकुलिकविकृतमत्स्यक्रव्यादादीनां
 मांसभक्षणे पञ्चगव्यं पिबेत्त्रिरात्रम्' अवरग्रहणात् सर्वालपत्वं
 अतश्च त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वेति सामर्थ्यापेक्षया द्रष्टव्यम् ॥

सप्तरात्रं वा ॥ २५ ॥

लशुनादिविषयमिदम् । यथाऽऽह मनुः—

छत्राकं विड्वराह च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।

पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्स्या जग्ध्वा पतेद्विजः ॥

अमलैतानि षड्जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥

इति । एवञ्च सान्तपने न विकल्पो द्रष्टव्यः । अबुद्धिपूर्वे सा-
 न्तपनं सप्तरात्रोपवासश्च ॥

स्वयं शीर्णान्युपयुञ्जानः फलान्यनतिक्रामन् ॥

वाशब्दोऽधिक्रियते । शुभ्येदित्यस्याध्याहारः । फलानि
 स्वयं शीर्णानि काकादिभिरपाटितानि । स्थावरहिंसाप्रतिषेधार्थं
 स्वयंशीर्णग्रहणम् । तान्युपयुञ्जानः अनतिक्रामन् गुणदोषपरी-
 क्षामकुर्वन्नित्यभिप्रायः । क्षुत्प्रमाणमिदम् । इयमवस्था यावता
 कालेन सपद्यते तावता शुध्यतीत्यर्थः । अभक्ष्याणामेकशफादी-
 नां पशूनां भक्षणे अबुद्धिपूर्वे मनुनोक्तं चान्द्रायणं द्रष्टव्यं—

जग्ध्वा तु शुष्कमांसानि भौमानि कवकानि च ।

अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥

इति । बुद्धिपूर्वं तत्तकृच्छ्रसहित चान्द्रायण द्रष्टव्यम् । तथाऽऽह
शाण्डिल्यः—

अभक्ष्यभक्षणे विप्रः पशूनां बुद्धिपूर्वकम् ।

तत्तकृच्छ्रेण सहित चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ॥

इति—

प्राक्पञ्चनखेभ्यः छर्दनं घृतप्राशनं च ॥ २७ ॥

पञ्चनखेभ्यः प्राग्यदभोज्यमुक्त तदभ्यवहारे छर्दनं घृतप्रा-
शनं च प्रायश्चित्तं, न पूर्ववत् प्रायश्चित्तान्तरमपि । नि-
ष्पुत्रीषीभाव इत्यनेनैव सिद्धे आरम्भसामर्थ्याच्चशब्दात् कचि-
दुपवासश्च । असमासो दोषापेक्षया व्यस्तसमस्तक्रियार्थः । तत्र
प्रागभिशस्तादिभ्यो घृतप्राशनमात्रम् । घृतप्राशनं चान्याहार-
प्रतिषेधः । तत्प्राशनं च यावता कायाप्लवमात्रं भवति । प्रा-
गपाङ्गचादिभ्यश्छर्दनघृतप्राशने, प्रागोक्षीरादेरेकरात्रोपवासः, प्रा-
क्पञ्चनखेभ्यश्छर्दनमात्रमित्येवं कल्प्यम् । अपञ्चनखानां तूक्तं
'श्वापदोष्टूखराणां चाङ्गस्य' इति । शेषाणां च स्वभावदुष्ट-
त्वादुक्तं 'त्रिरात्रावरमभोजनम्' इत्यादि । अबुद्धिपूर्वं सकृ-
ज्जोषण इदम् । बुद्धिपूर्वं मनुनोक्तं तत्तकृच्छ्रं द्रष्टव्यम्—

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या तु ज्यह क्षपेत ।

मत्या भुक्त्वा चरेत् कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव वा ॥

इति । अत्र अबुद्धिपूर्वं छर्दनासम्भवे ज्यहोपवासो द्रष्टव्यः ।
एतेषां उक्तानां चतुर्विधानां बुद्धिपूर्वाभ्यासे पशुलशुनादिवर्जि-
तानां प्रतिलोमपतितसूतकशावान्नवर्जितानां च मनुनोक्तं द्रष्ट-
व्यम् । यथाऽऽह -

अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ।

जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्र यवान् पिबेत् ॥

इति । अङ्गिरसोक्तं वा—

अभक्ष्याणामपेयानामलेह्यानां च भक्षणे ।

रेतोमूत्रपुरीषाणां प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥

पद्मोदुम्बरबिल्वानां कुशाश्वत्थपलाशयोः ।

एतेषामुदकं पीत्वा सप्तरात्रेण शुभ्यति ॥

इत्यभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तम् । शक्तस्य कृच्छ्रो द्रष्टव्यः । यथाऽऽह वसिष्ठ — ‘श्वकाकावलोढशूद्रोच्छिष्टभोजनेष्वतिकृच्छ्रं, कृच्छ्र इतरेषु’ इति । लशुनादीनामभ्यासे मनुनोक्तं यतिचान्द्रायणं द्रष्टव्यम् —

यातिचान्द्रायणं वाऽपि शेषेषूपवसेदहं ॥

इति । पशूनामभ्यासे चान्द्रायणत्रयं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह प्रजापतिः—

चान्द्रायणत्रयं कुर्यादभक्ष्यपशुभक्षणे ।

एकमेव सकृत्कृत्वा चरेदाहं प्रजापतिः ॥

इति । पतितो द्विप्रकारः—पतितो महापतित इति । महापतितो महापातकी । यथाऽऽह मनुः —

ब्रह्महत्या सुरापान स्तेय गुर्वङ्गनागम् ।

महान्ति पातकान्याहुः संयोगं चैव तैस्सह ॥

इति । एतेभ्योऽन्यः पतितः, तस्य पातित्यं द्विजातिकर्मभ्यो हानिः । तत्र पतितः अभोज्यान्मध्ये परिगणितः, अस्पृश्यत्वादेवेतरस्य सिद्धत्वात् । एवञ्च पतितोऽस्पृश्यो न भवति । यथाऽऽहोशना — ‘पतितोपपातकावभोज्यान्मौ महापातकोस्पृश्यश्च’ इति । एवञ्च महापातकिनः अभोज्यान्मध्ये परिगणितत्वात् प्रायश्चित्तान्तरं द्रष्टव्यम् । तत्र प्रतिलोममहापातकिनोरकामतः सकृद्भोजने अतिकृच्छ्रो द्रष्टव्यः । यथाऽऽह हारीत —

यदन्नं प्रतिलोमस्य शूद्रजस्योत्तमास्त्रिया ।
 महापातकिनश्चैव यदन्न स्त्रीकृतघ्नयोः ॥
 आरूढपतितस्यैव सगोत्राभर्तुरेव च ।
 पाषण्डमाश्रितानां च यतेश्चैव तथैव च ॥
 अतिकृच्छ्रं चरेद्भुक्त्वा प्रमादाद्वाहणस्सकृत् ।
 मत्या चान्द्रायण कुर्यादामं चेदर्धमेव च ॥
 अभोजने तदर्धं च त्रिगुणं सहभोजने ।
 चतुर्गुणं तदुच्छिष्टे पानीयेऽर्धाधमेव च ॥

इति । एव चाम चेदर्धमेवेत्यादि सर्वत्र द्रष्टव्यम् । अमत्याऽभ्यासेऽपि तथैव श्रूयते —

कृच्छ्राब्दपादमुच्छिष्टमभ्यासेऽज्ञानभोजने ।

मत्याऽभ्यासे तथा कुर्यात्त्रिशत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ॥

इति । तत्र चण्डालादीनां मत्याऽभ्यासे तत्साम्यमेव द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह मनु 'चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा' इत्यादि । महापातकविषयेऽप्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यं 'अधोनाभ्युपरिजान्वाच्छाद्य त्रिषवणमुद्कमुपस्पृशन् अक्षारलवण भुञ्जानो द्वादश वर्षाणि नागारं प्रविशेत् अथ सिद्धिरथसप्रयोग स्यादायैरेतदेवान्येषामपि पतनीयानाम्' इति । प्रतिलोमानुलोमविषये सर्वत्र प्रायश्चित्तं कल्प्यम् । प्रतिलोमानां शूद्रप्रभवानामनुलोमानां शूद्रायां द्विजात्युत्पन्नानां च शूद्रान्नभोजनवद्द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह शाण्डिल्यः—

शूद्रस्य शूद्रजस्यैव व्युत्क्रमात्तत्स्त्रियामपि ।

उत्पन्नस्य द्विजातीनां सममन्नमकल्पयन् ॥

इति । शूद्रान्नभोजने तु प्रजापतिराह—

ब्राह्मणस्यैव शूद्रान्नमभोज्यं परिकीर्तितम् ।

सकृद्भुक्त्वा तदज्ञानात् ब्रह्मकूर्चं सकृत्पिबेत् ॥

अभ्यासे तु तदभ्यस्येदाममन्नमगर्हितम् ।

मत्या त्रिरात्र कुर्वीत कृच्छ्रमभ्यासकृच्चरेत् ॥

इति । सूतकशावान्नभोजनेऽपि स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह
गर्गः—

शावे च सूतके चैव मत्या भुक्त्वैव चरेत् ।

मत्याऽभ्यासे ततः कुर्यात्कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् ॥

अथ त्वकामतः कुर्यादभ्यासे कृच्छ्रमेव च ।

इति । एतदपि ब्राह्मणस्य ब्राह्मणाशौचे । क्षत्रियादीनामाशौचेऽपि
तत्रैवोक्तं

द्विगुणं त्रिगुणं चैव चतुर्गुणमथापि च ।

क्षत्रविद्शूद्रजातीनामाशौचे परिकीर्तितम् ॥

इति । तत्र ब्राह्मणस्य ब्राह्मणाशौचे यत्प्रायश्चित्तमुक्तं तदेव क्ष-
त्रियादीनामपि द्रष्टव्यम् । द्विगुणत्रिगुणक्रमेणाधिकं हीनजातिषु
द्रष्टव्यम् । उत्तमजातिषु तत्क्रमेणैव हीनम् । तथा तत्रैवाभिहितं—

समानजातिषु सर्वेषां विप्रवन्निष्क्रयः स्मृतः ।

क्रमाद्वृद्धं क्रमाद्धीनं हीनजात्युत्तमेष्वपि ॥

इति । सर्वत्राशौचोत्तरकालमेव प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् ।

यद्यन्नमाप्तिं तेषां यस्स दशाहेन शुद्ध्यति ।

इति लिङ्गात् । तत्र नियोगात् भुक्तस्य वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यं—

आशौचे यस्तु शूद्रस्य सूतके चापि भुक्तवान् ।

किमिर्भूत्वा स्वदेहान्ते तां विष्टामुपजीवति ॥

अनिर्दशाहे च शवे नियोगात् भुक्तवान् द्विजः ।

स गच्छेन्नरकं घोरं तिर्यग्योनिषु जायते ॥

इति । 'द्वादशमासान् द्वादशार्धमासान् वा अनश्नन् साहिताध्य-
यनमधीयान् पूतो भवतीति विज्ञायते' इति । तत्रैव कल्प्य-
शूद्राशौचे भुक्तस्य द्वादश मासान्, वैश्यस्य दश मासान्,
क्षत्रियस्याष्टौ, ब्राह्मणस्य द्वादशार्धमासानिति । एव लशुनादीनां
पृथगुपलब्धत्वात्तद्वर्जितानामेव मनुनोक्त सप्तरात्र यवागूपानं
द्रष्टव्यम् । उपपातकमध्ये पाठोपि तद्वदसंव्यवहारार्थं न प्राय-
श्चित्तप्रवेशार्थं अवकीर्ण्यादिवत् शान्त्युदकप्रवेशार्थं वा । बुद्धि-
पूर्वाभ्यासे सुरापानसमं प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्—

गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धि. सुरापानसमानि षट् ।

इति मनुवचनात् । तदपि चान्द्रायणद्वयम् । यथाऽऽह गर्गः—

अभक्ष्याणा अभोज्यानां कामतो भोजने कृते ।

चान्द्रायणद्वयं कुर्यात् सुरापानसमं हि तत् ॥

इति । भोजयितुर्द्विगुणं द्रष्टव्यम्—'भोजयितुर्द्विगुणं दण्डः' इति का-
त्यायनेनोक्तत्वात् । अलमतिवाचालतया प्रस्तुतं व्याख्यास्यामः—

आक्रोशानृतहिंसासु त्रिरात्रपरमं तपः ॥२८॥

आक्रोशे अत्यन्तपातकोपपातकयुक्तादन्यत्र । अनृते साक्षि-
प्रतिश्रुत्यादानादौ । हिंसायां स्थावराणाम् । जङ्गमानामुक्तत्वात् ।
त्रिरात्रपरमं सर्वं बहुरात्रमिति यावत् । अत एकरात्रं द्विरात्रं
त्रिरात्रमिति कल्प्यम् । तपो ब्रह्मचर्याद्युक्तम् । तत् प्रायश्चित्तम् ।
तत्र ब्राह्मणाक्रोशे त्रिरात्र, क्षत्रियाक्रोशे द्विरात्र, वैश्याक्रोशे
एकरात्र, शूद्राक्रोशेऽहरात् । एवमाक्रोशविषये द्रष्टव्यम् । अनृते-
ऽपि ब्राह्मणाद्यर्थे क्रमाद्द्रष्टव्यम् । हिंसायां च फलवृक्षे द्विरात्रं, उ-
पजीव्यच्छायावृक्षे एकरात्र, एवमादीनामहर्मात्रमिति । इदमपि प्र-

योजनान्तरेण स्वाभ्यनुज्ञया विना कृतस्येति । अन्ये व्याचक्षते—
 आक्रोशे ध्वनिमात्रेणाभिषस्तेन केनचित् समुखम् । समुखाभि-
 शस्ते तु वसिष्ठोक्त द्रष्टव्यं - 'ब्राह्मणमनृतेनाभिषस्य' इत्यादि ।
 तत्र पातकध्वनौ त्रिरात्र पातकसमे द्विरात्र, उपपातक एक-
 रात्र, अन्यत्राहर्मात्रमिति । हिंसाशब्देन च हिंसायां कृतव्यवसा-
 यिन उच्यन्ते । तथाच वसिष्ठः - 'जीवन्नात्मत्यागी कृच्छ्रद्वाद-
 शरात्रं चरेत्त्रिरात्र चापवसेन्नित्य स्निग्धेन वाससा प्राणानात्मनि
 सयम्य त्रि पठेदधमर्षणमिति अपि चैतेन कल्पेन गायत्री परि-
 वर्तगेदपि वाऽग्निमुपसमाधाय कूश्माण्डैर्जुहुयात् घृतम्' इति ।
 तत्र ब्राह्मणादीनां शस्त्रादिना व्रणादि कृत्वा जीवतः कृच्छ्र बु-
 द्धिमात्रे त्रिरात्रोपवासः, क्षत्रियस्य व्रणादि कृत्वा जीवतः ज-
 लार्द्रवाससः त्रिरात्रमधमर्षणपाठो गायत्रीजपो वा बुद्धिमात्रे
 त्रिरात्र तपोमात्र, वैश्यस्य व्रणादि कृत्वा जीवतो जलार्द्रवास
 सः हविष्य भुक्त्वा नित्य त्रिस्त्रि कूश्माण्डैर्होमः बुद्धिपूर्वं त्रि-
 रात्र तपोमात्रमिदं, शूद्रस्य व्रणादि कृत्वा जीवतः अहोरात्र
 बुद्धिमात्रेऽहर्मात्रमित्येवं कल्प्यम् । अनृतशब्दार्थ एषामपि ॥

अपरे व्याचक्षते—आक्रोशशब्देन दण्डपारुष्यमुच्यत इति ।
 तदयुक्तं, ब्राह्मणस्य तावत् ब्राह्मणदण्डपारुष्य उक्तं प्रायश्चि-
 त्तं, 'अभिकुद्धावगूरणम्' इत्यादि । तेनैव ब्राह्मणस्यार्धं क्षत्रिय-
 स्येत्यनेनैव सर्वेषां कल्पयितुं शक्यम् । अतो वाक्पारुष्यविषय
 एवेदम् । तत्रापि श्रोत्रियस्याश्रोत्रियाक्रोश इदम् । अश्रोत्रियस्य
 श्रोत्रियाक्रोशे तु 'शत क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे' इत्यादि दण्डानुरूपं
 परिकल्प्यम् । क्षत्रियादीनां स्वजात्याक्रोशेऽपि दण्डानुरूपं क-
 ल्प्यम् । दण्डस्तु मनुनोक्तः—

असवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।

पदेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुण भवेत् ॥

इति । एव श्रोत्रियस्यापि प्रायश्चित्तानुरूपो दण्डः परिकल्प्य । यत्र प्रायश्चित्तमेव विश्रीयते दण्डो नोक्त तत्र दण्डपरिकल्पना । यत्र तु दण्ड एवोक्तो न प्रायश्चित्त तत्र प्रायश्चित्तपरिकल्पना कर्तव्येति । एवञ्चावचनीयपदेष्वपि प्रायश्चित्त सिद्धम् । अवचनीयमपि कुष्ठादिभिर्बहुभिरजातैरभिशासनं, न पातकोपपातकविषय, तत्र प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वदर्शनात् । अनृतदोषप्रायश्चित्तमप्याहिताग्नेरर्थविषय इदम् । अनर्थविषये पूर्णाहुतिः । तथाऽऽह प्रजापतिः—

अनृते सोमप कुर्यान्निरात्रं परमं तपः ।

पूर्णाहुति वा जुहुयात् सप्ततेति घृतेन स्वाहा ॥

इति । अनाहिताग्नेरर्थविषये ‘वाङ्मनसोरपचारं व्याहृतयः पञ्च’ इति यद्वक्ष्यति तद्रष्टव्यम् तद्रहस्यमिति चेत्, न, ‘प्रायश्चित्तमविशेषात्’ इत्युक्तत्वात् रहस्ये प्रकाशे च भवतीति । अनर्थविषये दक्षिणश्रवणस्पर्शनम् । यथाऽऽह व्याघ्रः—

अनृतोक्तौ घ्रीवने च दन्तस्पर्शे क्षुते तथा ।

पतितानां च सम्भाषे दक्षिण श्रवण स्पृशेत् ॥

इति । साक्षिभावे त्वनृतोक्तावाहिताग्नीनामन्येषां च पातकसमत्वमेव । यदुक्त कौटसाक्ष्यमित्यादि । प्रतिश्रुत्यानृतोक्तौ हारीत आह —

प्रतिश्रुत्यानृत ब्रूयान्मिथ्या सत्यमथापि वा ।

स तप्तकृच्छ्रसहित चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् ॥

इति । ब्रह्मचारिणोपि विशेषो द्रष्टव्यः । यथाऽऽह गर्गः—

त्रिरात्रमेकरात्र वा ब्रह्मचार्यनृते चरेत् ।

मधुमांसाशने कृच्छ्रं शवनिर्हरणे तथा ॥

इति । तत्रार्थविषये त्रिरात्र, इतरत्रैकरात्रम् । मांसस्याभक्ष्यस्य भक्षणे तु तप्तपूर्वमिदं कर्तव्यम् । अवक्तीर्णिप्रायश्चित्तवत् अ-
बुद्धिपूर्वविषय चेदं, बुद्धिपूर्वविषये तु पुनस्सस्कारश्च । तथाऽऽ-
ह प्रजापति —

मांसं भुक्त्वा ब्रह्मचारो पुनस्सस्कारमाचरेत् ।

अभ्यासे त्वेन्दव चैव नैष्ठिको द्विगुणं चरेत् ॥

वनस्थः त्रिगुणं कुर्याद्यतिः कुर्याच्चतुर्गुणम् ।

मांसाशनेऽनृतोक्तौ च शवनिर्हरणे तथा ॥

इति । शवनिर्हरणं तु ब्रह्मचारिण उपाध्यायादिवर्जितानाम् ।
यथाऽऽह मनुः—

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।

निर्हृत्य तु व्रती व्रतं न व्रतेन वियुज्यते ॥

इति । तत्र स्वशब्दं प्रत्येकमभिसम्बध्यत इत्युक्तम् । ततः
स्वमाचार्यमेव, नाचार्यस्याचार्यम् । एव सर्वत्र । ‘गुरोर्गुरौ
सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिरिष्यते’ इत्येव मा भूदिति । ततश्च त-
न्निर्हरणे व्रतवियोगो भवत्येवेति । तत्र कृच्छ्रं कृत्वा पुनस्सं-
स्कार इति द्रष्टव्यम् । आचार्यादौ व्रतवियोगाभावादेवाशौच-
स्याप्यभावस्सिद्धः, ‘शावमाशौचं दशरात्रमनृत्विक्दीक्षितब्र-
ह्मचारिणां सपिण्डानाम्’ इत्युक्तत्वात् । दशाहादर्वागपि पि-
ण्डनिर्वापणकाले अशुचिर्भवति । तथा शाण्डिल्यः—

ब्रह्मचारी यदा कुर्यात्पिण्डनिर्हरणं पितुः ।

तावत्कालमशौचं स्यात्ततस्स्नात्वा विशुध्यति ॥

इति । अस्नात्वा भोजने प्रजापत्युक्तं द्रष्टव्यम्—

अस्नात्वैव यदा भुङ्क्ते पिण्डं दत्वा पितुर्व्रती ।
 स्पृष्ट्वा शवमुदक्यां वा चण्डालं सूतिकां तथा ॥
 अकामतस्त्रिरात्रं स्यात् बुद्ध्या सान्तपनं चरेत् ॥

इति । गृहस्थादीनां च सूतिकादिस्पर्शने भोजने स्मृत्यन्तरोक्तं
 द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह व्याघ्रः—

अस्पृश्यस्पर्शनं कृत्वा यदा भुङ्क्ते गृहाश्रमी ।
 अकामतस्त्रिरात्रं स्यात् षड्रात्रं कामतश्चरेत् ॥
 यतिश्चैव वनस्थश्च कुर्यातां तौ तदेव तु ॥

इति । यत्र तु ब्रह्मचार्यादीनां विशेषो नास्ति तत्र सर्वेषां स-
 मानमेव द्रष्टव्यम् । यथाऽऽहोशना—

चण्डालश्वपचौ स्पृष्ट्वा विण्मूत्रोच्छिष्टमेव च ।
 त्रिरात्रेण विशुद्धिस्स्यात् भुक्त्वोच्छिष्टं षडाचरेत् ॥

इति । तथा व्याघ्रोपि—

चण्डालोदक्यासंस्पृष्टौ स्नानमेव समाचरेत् ।
 तेनोच्छिष्टेन संस्पृष्टः त्रिरात्रं तु समाचरेत् ॥

इति । तथा यमोपि—

चण्डालोदकभाण्डेषु यः पिबेत्तृषितो जलम् ।
 तत्क्षणात् क्षिपते यस्तु प्राजापत्यं समाचरेत् ॥
 यदि न क्षिपते तोयं शरीरे यस्य जीर्यते ।
 प्राजापत्यं न दातव्यं कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥

इति । तथा व्यासोपि—

चण्डालभाण्डसस्पृष्टः पिबेत्तोयमकामतः ।
 अहोरात्रोषितस्स्नात्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥

ततस्स्नात्वा तथा कुर्यात् कामात् सान्तपनं चरेत् ।
तेषां तटाके कूपे च तथैवोक्त मनीषिभि ॥

इति । तथा व्याघ्रोपि—

विण्मूत्रोच्छिष्टकूपस्था अप, प्राश्य द्विजातयः ।
त्रिरात्रेणैव शुध्यन्ति कुम्भे सान्तपनं स्मृतम् ॥

इति । तथा शातातपोपि—

मूत्रोच्चार द्विज. कृत्वा अकृत्वा शौचमात्मनः ।
मोहाद्भुक्त्वा त्रिरात्र तु बुद्ध्या सान्तपनं चरेत् ॥

इति । तथा वृद्धवसिष्ठोपि -

एकपङ्क्तिगतो भुङ्क्ते न स्पृशेदितरं यदि ।
भस्मना कृतमर्यादस्तस्य पङ्क्तिर्न दुष्यति ॥

इति । तथा शङ्ख -- ‘अन्तरुदकमूत्रपुरीषकरणे सचेलस्नान महा-
व्याहृतिहोमश्च’ इति । तथा तत्रैवापरमपि ‘रेतोमूत्रपुरीषाण्युदके
कृत्वा त्रिरात्रोपोषित इदमाप, प्रवहत इति जपेत्’ इति । त-
त्रैव ‘दुस्स्वप्नारिष्टदर्शनं घृत हिरण्यं दद्यात्’ इति । एवमन्या-
न्यपि स्मृत्यन्तराणि द्रष्टव्यानि—

सत्यवाक्चेद्वारुणीमानवीभिर्होमः ॥ २९ ॥

यदि तु सत्यवाक्येनाकरुष्टो भवति सत्येनाक्रोशति वा ।
एवञ्च पूर्वमसत्येनेति गम्यते । ततो वारुणीमानवीभिः प्रजापति-
देवताभिश्च आज्येन, पूर्वोक्तं वा त्रिरात्र होम कार्यः । अवि-
शेषात्सकृदेव होमः । वारुणीभिस्तिसृभिः तथा मानवीभिश्च ।
बहुवचनप्रयोगाद्विकल्पिताभिः समुच्चिताभिश्च । तत्र श्रोत्रिया-
क्रोशे अश्रोत्रियस्य समुच्चिताभिः विपरोते विकल्पिताभिरिति
द्रष्टव्यम्—

विवाहमैथुननमार्तिसंयोगेष्वदोषमेकेऽनृतम् ॥

विवाहकाले कन्यागतेषु परगतेषु वा अवलक्षणेषु शोभनकथने नानृतकथनदोष इत्यभिप्रायः । मैथुने गोत्रस्खलनादौ । नर्म परिहासः । आर्तेन दुःखितेन च संयोगे यत्तदुःखशमनायोच्यते, एतेषु निमित्तेषु अनृताभिधाने प्रायश्चित्ताभावां दोषाभावादित्येके मन्यन्ते । गौतमस्त्वेतेष्वपि दोषास्तीति मन्यते । तत्र नियमस्थस्य गौतमाभिप्रायां द्रष्टव्यः, इतरस्यैकीयमतमिति ॥

न तु खलु गुर्वर्थेषु ॥ ३१ ॥

गुरुप्रयोजनेष्वविवाहादिष्वप्यनृतं न वदेत् । खल्विति निपातोऽवधारणार्थः । न कदाचिदप्येकीयमतेनापि । तुशब्दो विशेषार्थः । मातुल्यादिगुर्वर्थेष्वपि न वदेत् विशेषतः आचार्यार्थेष्विति । किं पुनः तत्र कारणं ? इदमेव ॥

सप्त पूरुषानितश्च परतश्च हन्ति मनसाऽपि गुरोरनृतं वदन्नल्पेष्वप्यर्थेषु ॥ ३२ ॥

सप्त आगामिनः पुत्रादीनितः परतश्चातीतानपि पित्रादीन् हन्ति पीडयति पापेन योजयति । मनसाऽपि गुर्वर्थमनृतं चिन्तयन्नपि, किमु वक्तव्यं वदन्नित्यर्थः । अल्पकेष्वपि प्रयोजनेषु, किमुत महत्सु ॥

अन्तावसायिनीगमने कृच्छ्राब्दः ॥ ३३ ॥

अन्तावसायिनी व्याख्याता 'यश्चान्तावसायिभिस्सह संविशेत्' इत्यत्र । तस्यां मैथुन आचरिते सकृद्गमने कृच्छ्राब्दः । संवत्सर प्राजापत्यविधिनाऽवस्थानमित्यर्थः ॥

अमत्या द्वादशरात्रः ॥ ३४ ॥

एवञ्च पूर्वं बुद्धिपूर्वं इत्यवगम्यते । कृच्छ्र इति वक्तव्ये
द्वादशरात्रग्रहणं पराकोपसग्रहार्थम् । तथाऽऽहाङ्गिराः—

अन्त्यजानां तु गमने भोजने च प्रमापणे ।

पराकेण विशुद्धिस्स्यात् भगवानङ्गिरोऽब्रवीत् ॥

इति । इदमपि रेतस्सेकात् प्रागेवोपरतस्य । कुतः ? रेतस्सि
क्त्वा स्वयोनीषु, इति पूर्वकालक्रियास्मरणात् । तस्मात्प्राय-
श्चित्तलाघवमवगम्यत इति । एवंच कुमारोगमनादावप्यर्धद-
ण्डप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । गमने तु निर्वृत्ते वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यं—
'द्वादशरात्रमब्भक्षो द्वादशरात्रमुपवसेदश्वमेधावभृथं वा गच्छे-
देतेनैव चण्डालीव्यवायो व्याख्यातः' इति । बुद्धिपूर्वेऽभ्यासे
गुरुतल्पप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । तत्रापि समशब्दोपादानात् म-
नुनोक्तं द्रष्टव्यम् । 'सहस्र त्वन्त्यजां स्त्रियम्' इति दण्डवि-
धानात् सहस्रदण्डतुल्यत्वाच्चान्द्रायणत्रयं द्रष्टव्यम् । तत्राबु-
द्धिपूर्वं द्वितीयगमने यावत्प्रायश्चित्तं तावदेवागर्भोत्पत्तेः द्रष्ट-
व्यम्, नाधिककल्पनाऽस्ति । कुत ?

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः ।

ब्राह्मणा सह संवासे चण्डाल्या तावदेव च ॥

इति लिङ्गात् । कूश्माण्डहोमो वा द्रष्टव्यः । यथाऽऽह प्रजा-
पतिः—

सर्वस्त्रीणां च संयोगे गमने च द्विजोत्तमः ।

प्रायश्चित्तादसंतुष्टः कूश्माण्डैर्जुहुयाद्धृतम् ॥

इति । गर्भोत्पत्तौ सत्यां प्रायश्चित्ताभावः । यथाऽऽह शाण्डिल्य —

अन्त्यस्त्रीषु प्रसूतस्य द्विजस्यानिच्छयाऽपि च ।

निष्कृतिर्नोच्यते तस्य जात्या चण्डाल एव सः ॥

इति । बुद्धिपूर्वेऽभ्यासे च प्रायश्चित्ताभाव --

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्य तु गच्छति ॥

इति मनुवचनात् । अत्रान्नभोजने यदुक्त प्रायश्चित्तं तदर्धं प्र-
तिग्रहेऽपि कल्प्यम् । कुतः ?

पकादपकमर्धं स्याद्यदन्यत् भक्षणागतम् ।

तस्मादर्धमिदं प्रोक्तं यदन्यद्रूपमुच्यते ॥

इति व्याघ्रवचनात् ॥

उदकयागमने त्रिरात्रस्त्रिरात्रः ॥ ३५ ॥

स्त्रिया रजस्वलाया गमने त्रिरात्रमभोजनम् । गमनाधि-
कारे पुनर्गमनग्रहणं स्वदारादन्यत्र तदधिकप्रवेशार्थम् । स्वदारे
चास्यैव प्रवेशार्थम् । तत्रैव प्रतिपत्तव्यं - अबुद्धिपूर्वं तु सकृ-
द्रमने शातातपोक्तं द्रष्टव्यं - 'अनुदकमूत्रपुरीषग्रहणे श्वकाक-
स्पर्शने सचेलस्नानं महाव्याद्वृत्तिहोमश्च रजस्वलागमने चैतदे-
वम्' इति । अबुद्धिपूर्वेऽभ्यासे च वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यं - 'रज-
स्वलागमने शुक्लं वृषभं दद्यात् कृष्णलिङ्गम्' इति । बुद्धिपूर्वं
तु सकृद्रमन इदम् । अभ्यासे तु मनुनोक्तं द्रष्टव्यं -

अमानुषीषु गोवर्जमुदकयायामयोनिषु ।

रेतस्सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥

इति । अत्र क्षत्रियायां द्विगुणं वैश्यायां त्रिगुणमिति द्रष्टव्यम् ।
तथा ब्राह्मणस्यार्धं क्षत्रियस्येत्यादि वेदितव्यम् । गमनं प्रति
कूश्माण्डहोमश्च द्रष्टव्यं । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ।

आविष्कृतैर्नसां प्रायश्चित्तमुक्त, अनाविष्कृतैर्नसां तु प्रायश्चित्तं वक्तव्यमित्यत आह -

रहस्यं प्रायश्चित्तमविख्यातदोषस्य ॥ १ ॥

रहस्यमप्रकाशं कर्तव्यं यथाऽन्यैर्न ज्ञायते । प्रायश्चित्तग्रहणमल्पेनापि महतः पापस्य निष्कृतिर्भवतोत्येवमर्थम् । अविख्यातदोषस्य लोकेनाविज्ञातैर्नसः । येनान्तरेण यत्कर्तुं न शक्यते तस्मादन्यैरविज्ञातैर्नस इत्यर्थः । पारदार्यपतितसप्रयोगादौ न केवलं कर्तुरेव विज्ञानं, असम्भवात् । कथंपुनरप्रकाशे पापेऽल्पदोषत्वं, न पुनर्विषमक्षणादिवदेकरूपतेति ? नात्रोपपत्तिरन्वेष्टव्या, वचनगम्यत्वात्, मतिपूर्वामतिपूर्वभेद इव । अथवा अवश्यकर्तव्यत्वादिदमुच्यते । यो हि प्रकाशं पापं करोति स उभयलोकनिरपेक्षं प्रवर्तते, तस्य बहुतरः संकल्पो भवति, ततश्च दोषभूयस्त्व, अन्येषां प्रवृत्तौ हेतुभावश्च प्रतिपद्यते गतानुगतिको हि प्रायशो लोक इति । ततश्च प्रकाशे लोकनिन्दानिवृत्तिः प्रायश्चित्तं च कर्तव्ये इतरत्र तु पापक्षपणमात्रमेवेति ॥

चतुर्द्वचं तरत्सवन्दीत्यप्सु जपेदप्रतिग्राह्यं प्रतिजिघृक्षन् प्रतिगृह्य वा ॥ २ ॥

‘तरत्समन्दी धावति’ इत्येताश्चतस्रः ऋचोऽधर्मवर्षणरूपेणाप्सु जपेत्, अन्यथा अन्यैर्ज्ञायत इति । त्रिरात्रं जपो द्रष्टव्यः । तथाऽऽह मनुः—

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगार्हितम् ।

जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्रयहात् ॥

इति । हविष्यभोजनं च द्रष्टव्यम्—अप्रतिग्राह्यस्य जातिकर्मदुष्टस्य

यद्व्यं तत्प्रतिजिघृक्षन् प्रतिग्रहीतुमिच्छन् । एवञ्च ब्रुवन्नेतद्दर्श-
यति कामकारकतेऽपि पापे रहस्यमस्ति इच्छामात्रेऽप्यप्रतिग्राह्य-
स्य दोषोऽस्तीति । ‘प्रतिषिद्ध वाङ्मनसंरपचारे’ इति यद्वक्ष्यति
तस्मादन्यत्र द्रष्टव्यम् । प्रतिगृह्य वा एतदेव कुर्यात् । वाश-
ब्दादभोज्यं भुक्त्वा च । तत्र यदा पूर्वमप्रतिग्राह्योऽयमिति न
जानाति तदा प्रतिगृह्य जपेत्,—इतश्च पूर्वमिति द्रष्टव्यम् ।
अत्राभोज्यभोजने मूत्रादिवर्जितस्य द्रष्टव्यं, तत्र शङ्केनोक्तत्वात्—
‘रेतोमूत्रपुरीषप्राशने ओकारेणाभिमन्यथापः पिबेत्’ इति । यत्र
जपविशेषो नोक्तः तत्रैकादशावरो द्रष्टव्यः । तत्र बुद्धिपूर्वा-
बुद्धिपूर्वभेदे एतावान्विशेषः—बुद्धिपूर्वं कृतो मयाऽपचारस्त-
स्येदं प्रायश्चित्तं भवेदित्येवं संकल्प्य कर्तव्यम्, तावता च गु-
रुर्भवतीति । तथाऽऽहापस्तम्बः—‘यः प्रमत्तो हन्ति प्राप्तं दोष-
फलं सह संकल्पेन भूयः’ इति । अबुद्धिपूर्वं तु संकल्पेन विना
प्रायश्चित्तमात्रमेव कर्तव्यमिति । तथा वासिष्ठोऽपि पापस्य ध्या-
नेन प्रायश्चित्तस्य गौरवं दर्शयति—‘मनसा पापं ध्यात्वोपूर्वा-
व्याहृतीरघमर्षणं वा पठेत्त्रिंशत्’ इति । ततश्च बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वभे-
देन प्रायश्चित्तकल्पना । अभ्यासेऽपि तदंवाभ्यस्येत्,—

जपादिपूरणं कुर्यात् ख्यातदोषो द्विजोत्तमः ।

रह कृतस्य पापस्य तत्तदेवाभ्यसेत्तथा ॥

इति प्रजापतिवचनात्—

अभोज्यं बुभुक्षमाणः पृथिवीमावपेत् ॥३॥

अभोज्यं चतुर्विधं पूर्वोक्तम् । तद्बुभुक्षमाणो भोक्तुमिच्छन् ।
आपत्प्रदर्शनार्थः बुभुक्षमाण इत्यस्योपन्यासः । ततश्च तदुपभा-
गमन्तरेण यदि जीवनं न सम्भवतीति द्रष्टव्यम् । पृथिवी-

मावपेत् प्रक्षिपेत् । अपरे तु पृथिव्यामावपेदिति पठन्ति, व्याचक्षते च पृथिव्यां प्रक्षिपेदिति । तदयुक्तं, एवं सत्य-यैर्विज्ञायत इति -

ऋत्वन्तरारमण उदकोपस्पर्शनाच्छुद्धिमेके ॥

एकेशब्दसम्बन्धार्था द्वितीया । ऋतुमध्ये आरमणे उदकयागमन इत्यर्थः । उदकोपस्पर्शनात् सचेलस्नानाच्छुद्धिमेक अहुः । गौतमस्तु सचेल स्नात्वा अवलिङ्गाभिर्वारुणीभिश्चापामार्जनमपीच्छति । तथाच वक्ष्यति—‘अनार्जवपैशुन’ इत्यादि । आरमण इत्युक्तत्वात् स्वदारविषयमिदम् । परदारेष्वेतदाधिकं परदारप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । तदपि वक्ष्यति ‘तदाहु कतिधाऽवकीर्णी प्रविशति’ इत्यादि ॥

एकेऽस्त्रीषु ॥५॥

एके अस्त्रीषु बडबाद्यासु गोवर्जं मैथुनमासेव्य एतदेवोदकोपस्पर्शनमिच्छन्ति । गौतमस्तु वक्ष्यति—‘अनार्जव’ इत्यादौ । गवि मनुनोक्तं द्रष्टव्य—

त्र्यहं तूपवसेयुक्तस्त्रिरहोऽभ्युपयन्नपः ।

मुच्यते पातकैस्सर्वैः त्रिर्जापित्वाऽघमर्षणम् ॥

इति । एके वर्णयन्ति—स्त्रीषु व्यभिचारिणीष्वेतदेव प्रायश्चित्तमिति । तदयुक्तं—

न स्त्री दुष्यति जारेण न विप्रो वेदकर्मणा ।

नापो मूत्रपुरीषेण नाग्निर्दहनकर्मणा ॥

इतिवसिष्ठेनोक्तत्वात् । एवंचापदि वेदकर्मणा दुष्टस्य विप्रस्याप्यदोषो द्रष्टव्यः ॥

गृहस्ये ब्राह्मणवध इदानीमाह—

पयोव्रतो वा दशरात्रं घृतेन द्वितीयमद्भिस्तृतीयम् ॥ ६ ॥

पयोव्रतः क्षीराहार । एव प्रथमदशरात्र, द्वितीयं घृतेन, तृतीयमद्भिर्वर्तेत । वाशब्दादेन त्रिशद्रात्र हविष्यभोजनो वा । शक्तितो विकल्पो द्रष्टव्यः ॥

तस्य गुणविधानमाह—

दिवादिष्वेकभक्तिको जलक्लिन्नवासाः ॥ ७ ॥

दिवादिषु पूर्वाह्नेषु एकभक्तिकः सायमभुञ्जान इत्यर्थः । बहुवचनात् त्रिषु दशरात्रेषु पयोव्रतपक्ष इदम् । ततश्च हविष्यभोजने द्विभोजनमविरुद्धम् । जलक्लिन्नवासाः अर्द्रवासाश्च स्यात् । इदमपि 'तद्वत् एव' इत्यादौ न भवतीति द्रष्टव्यं, प्रकाशो मा भूदिति ॥

लोमानि नखानि त्वचं मांसं शोणितं स्नाय्वस्थि मज्जानमिति होमा आत्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमीत्यन्तस्सर्वेषाम् ॥ ८ ॥

लोमादयो मन्त्राः । कथमवगम्यते ? नायं द्रव्योपदेश, इतिकरणान्तोपदेशात्, अन्तस्सर्वेषामित्यनुषङ्गारम्भात्, होमग्रहणाच्च । ततश्चैतैर्मन्त्रैराज्यहोममग्नौ कुर्यात् । आत्मनो मुखे इत्यनुषङ्गस्सर्वेषां लोमादीनाम् । 'लोमान्यात्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमि' इत्यादिप्रयोगः ॥

प्रायश्चित्तं भ्रूणहत्यायाः ॥ ९ ॥

एतद्यथोक्त प्रायश्चित्त भ्रूणहत्यायाः । प्रायश्चित्ताधिकारे पुनः प्रायश्चित्तग्रहणमदृष्टार्थमेवैतत् न तु दृष्टार्थमपीति । भ्रूणघ्न इति पुरुषनिर्देशो कर्तव्ये पापनिर्देशः सकृत्क्रियायामेवैतदिति ज्ञापनार्थम् । अभ्यासे तु गुरुतरं कल्प्यम् । यन्मनुनोक्तं—

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।

अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति च ॥

अथान्यदुक्तो नियमः ॥ १० ॥

अथान्यत् प्रायश्चित्तं वक्ष्यते । पूर्वं वैकल्पिकम् । पूर्व-प्रायश्चित्तात् भ्रूणहत्यायाः अन्यदिति । उक्तो नियमः ‘पयो-ब्रतो वा’ इत्यादि । विशेषास्तु विधीयन्ते ॥

अग्ने त्वं पारयेति महाव्याहृतिभिर्जुहुयात्कू-
श्माण्डैश्चाज्यम् ॥ ११ ॥

‘अग्ने त्वं पारय’ इत्यादिना मन्त्रेण महाव्याहृतिभिश्च भूराद्यैः कूश्माण्डैश्च यद्देवा देवहेडनम्’ इत्यादिभिश्चान्वहं क्रमेण सकृदाज्यं जुहुयात् । आज्यग्रहणं सिंहावलोकितन्यायेन पूर्वत्राप्यधिकर्तव्यम् । यत्रयत्र द्रव्यानुद्देशस्तत्र सर्वत्रेति केचित् । चकारात् प्रणवेन च ॥

तद्वृत एव वा ब्रह्महत्यासुरापानस्तेयगुरुतल्पेषु प्राणायामैस्तान्तोऽघमर्षणं जपेत् समम-
श्वमेधावभृथेन ॥ १२ ॥

तेनैव चोक्तेन ‘पयोब्रतो वा’ इत्यादिना ब्रह्महत्यादिचतुर्षु पापेषु प्रायश्चित्तं कुर्यात् । स्तेयं चात्र सुवर्णस्तेयं ब्रह्महत्या सुरापानगुरुतल्पसाहचर्यात् । प्राणायामैस्तान्तः खिन्नः अघम-

र्षणं 'ऋतं च सत्यं च' इत्यादि जपेत् । समं तुल्यमेतदश्वमेधा-
वभृथेन । सुरापानादिष्वश्वमेधावभृथस्त्वन शुद्धिहेतुरित्येतदनेन
दर्शयति । दण्डापूपिकयाऽश्वमेधोपि द्रष्टव्यः । यथाऽऽह मनु --

यथाऽश्वमेधः क्रतुराद् सर्वपापप्रणोदनः ॥

तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ इति ॥

**सावित्रीं वा सहस्रकृत्व आवर्तयेत्पुनीते हैवा-
त्मानम् ॥ १३ ॥**

अधिकारात्तद्भूत एवैतेष्वेव पापेषु मासं सावित्री बहुकृ-
त्वोऽभ्यस्यन् शीघ्रं शुद्धिमाप्नोति । हेति निपातः वैदिकार्थत्व-
प्रदर्शनार्थः । एवेत्यवधारणार्थः । वेत्येतद्वचनमन्येष्वपि पापेषु
सावित्र्यभ्यासः शुद्धिहेतुरिति प्रदर्शनार्थम् । तथाऽऽह वसिष्ठः--

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम् ।

शुद्धिकामः प्रयुञ्जीत सर्वपापेष्ववस्थितः ॥

इति । अवधारणं पावनतमत्वप्रदर्शनार्थं द्रष्टव्यम् । यथाऽऽह
व्याघ्रः--

न सावित्रीसमं जप्यं न व्याहृतिसमं हुतम् ।

नाज्ञतोयसमं दानं न चाहंसासमं तपः ॥ इति ॥

**अन्तर्जले वाघमर्षणं त्रिरावर्तयन्सर्वपापेभ्यो
मुच्यते मुच्यते ॥ १४ ॥**

तद्भूत एवोदकस्यान्तर्लिशद्रात्रमघमर्षणं त्रिरभ्यस्यन् स-
र्वस्मात् पापात् ज्ञानाज्ञानकृतात् मुच्यते शुद्धयतीत्यर्थः ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये चतुर्विंशोऽध्यायः.

उक्तानि महापातकेषु रहस्यानि । अथेदानीमुपपातकेषु वक्तव्यानि । तत्रावकीर्णिनः उपपातकित्वात् प्रायश्चित्तस्यान्यत्रातिदेशाच्च तस्य पूर्वमुच्यते । तत्र निन्दातिशयज्ञापनार्था श्रुतिरुपन्यस्यते—

तदाहुः कतिधाऽवकीर्णीं प्रविशतीति ॥ १ ॥

तद्दोषगुरुत्वमस्य पश्यन्तो विशिष्टा आहुः—कतिधा कतिप्रकारम् । अवकीर्णिशब्दो ह्यविप्लुतस्य वाचकः, रिक्तस्येति यावत् । तेन कास्य प्राणादि गच्छतीत्यभिप्रायः । एवं सशयमुत्पाद्य स्वयमेवाह—

मरुतः प्राणेनेन्द्रियं बलेन बृहस्पतिं ब्रह्मवर्चसे-
नाग्निमेवेतरेण सर्वेणेति ॥ २ ॥

मरुतो वायून् प्राणेन पञ्चवृत्तिना प्रविशति, इन्द्रं बलेन उत्साहशक्त्या, बृहस्पतिमधीतश्रुत्यादिजनितेन तेजसा, अग्निमितरेण । एवकाराच्चान्यं मनआदि । सर्वग्रहणाच्चक्षुश्श्रोत्रादिना । अविप्लुतो रिक्तोऽल्पायुर्निरुत्साहो ब्रह्मवर्चसहीनश्चक्षुरादिहीनश्च सम्पद्यते । सेयमुद्वेगजननार्थं प्रायश्चित्तप्रसङ्गार्थं वा श्रुतिरुदाहृता । इदानीं प्रायश्चित्तमाह—

सोऽमावास्यायां निश्यग्निमुपसमाधाय प्राय-
श्चित्ताज्याहुतीर्जुहोति ॥ ३ ॥

अवकीर्णीति प्रस्तुतत्वात् स इत्यनर्थक इति चेत् रहसि खण्डितस्यैव परामर्शार्थं, अन्यथा श्रुत्युदाहरणात् सर्वेषां ब्रह्मचारिणामिदं प्रायश्चित्तमित्याशङ्का स्यादिति । अमावास्यायां कृष्णपर्वणि नाशे अर्धरात्र इति द्रष्टव्यम्, अन्यथा प्रकाश-

स्यादिति । अग्निमुपसमाधाय कस्मिंश्चित् काष्ठे मथित्वेत्यर्थः ।
इतरथा जुहोतिवचनादेवाग्नेस्सिद्धत्वादवचनीयमेवैतत् स्यात् ।
प्रायश्चित्तग्रहण व्यतिक्रमानन्तर प्रायश्चित्तानुष्ठानज्ञापनार्थ, स्मृ-
त्यन्तरोक्तस्य वा — 'सावित्री च जपेन्नित्यं पवित्राणि च श-
क्ति' इत्येवमादे सामान्यस्य प्रायश्चित्तविधे प्रापणार्थम् ।
आज्यग्रहण च नियमार्थम् । एतस्मादेव लिङ्गादितरत्राज्याभावे
तत्प्रकृतयोपि भवन्तीति द्रष्टव्यम् । तथाच गृह्यस्मृतिः — 'च-
तस्र आज्यप्रकृतयो भवन्त्यूधस्य वा बाह्यं दधि पयो वा'
इति आहुतिग्रहणमवहितेन होमार्थम् ॥

कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि काम कामाय
स्वाहा । कामाभिद्रुग्धोऽस्म्यभिद्रुग्धोऽस्मि
काम कामाय स्वाहेति ॥ ४ ॥

सकलः मन्त्रपाठः प्रत्यक्षश्रुतौ तथोपलभ्यमानत्वात् ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्य यज्ञवास्तु कृत्वोपो-
त्थाय सं मा सिञ्चन्त्वित्येतया त्रिरुपतिष्ठेत् ॥

मन्त्रद्वयहोमान्त एकां समिधं तूष्णीमेव हुत्वा ततः प-
र्युक्ष्य 'अदितेऽन्वमंस्था' इत्येवमादिभिः । ततो यज्ञवास्तु कृत्वा
तत् छन्दोगानां गृह्ये परिभाषितम् । तत्राग्निसमीपे पश्चादुत्थाय
स मा सिञ्चन्त्वित्येतया प्रकृतमग्निं त्रिरुपतिष्ठेत् । अग्न्युपस्थान-
स्तुत्यर्थं वैदिकार्थवादमाह —

त्रयो वा इमे लोका एषां लोकानामभिजि-
त्या अभिक्रान्त्या इति ॥ ६ ॥

त्रयो लोका इमे भूर्भुवस्स्वर्लोकाख्याः तेषामभिजितिः अ-
प्रचयवन, अभिक्रान्तिस्तत्रैवोत्पत्तिः । अभिजित्या अभिक्रान्त्या
इति च ब्रुवन् अकृतप्रायश्चित्तस्य अवकीर्णनस्त्रिष्वपि लोके-
ष्वनवकाशं दर्शयति । वैशब्दोऽनर्थकः, अनर्थकानि वैदिका-
क्षराणीत्युक्तत्वात् । इमे लोका इति प्रत्यक्षेण निर्देश आद-
रार्थ ॥

एतदेवैकेषां कर्माधिकृत्य यो पूत इव स्यात् स
इत्थं जुहुयादित्थमनुमन्त्रयेत् ॥ ७ ॥

एतदेव कर्माधिकृत्य कृत्वेत्यर्थ । एकेषां मतेन यो पूत इव
स्यात् । अधिकाराद्रहस्यप्रायश्चित्तेऽपि कृते यो पूतमिवात्मानं मन्येत
स एतमेव जुहुयात् एवमेवाग्निमुपतिष्ठेत् ॥

वरो दक्षिणेति ॥ ८ ॥

अन्ते कर्मणो देय, स्वयकर्तृकत्वादन्यस्मै ब्राह्मणाय देया ।
गौरवान्महापातकविषय द्रष्टव्यम् । गौतमस्य तु तस्यैव प्राय-
श्चित्तस्यावर्तनम् ॥

प्रायश्चित्तमविशेषात् ॥ ९ ॥

उपपातकिनां सर्वेषां सामान्यमुक्तमेव प्रायश्चित्तम् । केचि-
दुपरितनसूत्रशेषत्वेन व्याचक्षते—प्रायश्चित्तं वक्ष्यमाणमविशेषा-
द्रहस्ये प्रकाशे चेति । तत्र प्रकाशे विहितानां शेषत्वेन वर्ण-
नीयं, रहस्ये तु स्वातन्त्र्यरूपेण । प्रायश्चित्तग्रहणमल्पेऽपि ना-
नादरं कार्य इति ॥

अनार्जवपैशुनप्रतिषिद्धाचारानाद्यप्राशनेषु शू-

द्रायां च रेतस्सिक्त्वाऽयोनौ च दोषवति क-
र्मण्यभिसन्धिपूर्वेऽप्यव्लिङ्गाभिरपउपस्पृ --
शेद्वारुणीभिः ॥ १० ॥

अनार्जवमनृजुत्वं मानस कर्म शाठ्यं वा । पैशुनं पर-
परिवादः वाचिकम् । प्रतिषिद्धाचारो नियमलोपः कायिकम् ।
अनाद्यस्यानेकविधस्योपभोगः अनाद्यस्य प्राशनम् । शूद्रायां च
रेतस्सिक्त्वा मैथुन समासेव्य । पृथगुपदेशः परिगृहीतायाम-
पीत्येवमर्थः । अस्योपपातकप्रायश्चित्तमेव यद्यपि भवति, त-
थाऽप्याहत्योपदेशादिदमेवेति द्रष्टव्यम् । एवं सामान्यविशेष-
भावमालोच्य सर्वत्र व्यवस्था कर्तव्या । चशब्दो रजस्वला-
यामुपसङ्गहार्यः । अयोनौ च आस्यादौ । चशब्दात् प्रयत्नो-
त्सर्गो च । दोषवति च कर्मणि परपीडाहेतौ कर्मणि कृते ।
चशब्दाद्विहिताकरणे च । अभिसन्धिपूर्वेऽपि तादर्थ्येनोपक-
ल्पितेऽपीत्यर्थः । अनाद्यप्राशनादि यद्यपि प्रतिषिद्धसेवनं, त-
थाऽपि यत्नतो वर्जनार्थस्तेषां पृथगुपदेशः, प्रायश्चित्तगौरवार्थो
वा । ततश्च बहुभिर्माजनं द्रष्टव्यम् । दोषवत् कर्म स्तेयमि-
त्येके । तत्र सुवर्णस्तेयादन्यदिति द्रष्टव्यं, तस्य 'ब्रह्महत्यासु-
रापान' इत्युक्तत्वात् । हिंसेत्यपरे । तत्रापि पातकोपपातकं व-
र्जयित्वेति द्रष्टव्यं, तयोरुक्तत्वात् । अभिसन्धिपूर्वेऽपीत्यपिश-
ब्दोऽभ्यासेऽपीति केचिद्व्याचक्षते, तद्व्युक्त, प्रत्यभ्यासं प्राय-
श्चित्तावृत्तेरुक्तत्वात् । अनभिसन्धिपूर्वेऽपीत्येवमर्थं तत्र लघुत्वं
मा भूदिति । अव्लिङ्गाभिः । अवदेवताभिरापोहिष्ठेत्यादिकाभिः ।
बहुवचनात् ज्यवराभिः । वारुणीभिः वरुणदेवताभिः । 'इमं मे
वरुण' इत्येवमादिभिः । पूर्वं स्नात्वाऽपो मूर्ध्नि निक्षिपेत् । वि-

समासनिर्देशो विकल्पार्थः । ततश्चाब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्वेति द्र-
ष्टव्यम् ॥

अन्यैर्वा पवित्रैः ॥ ११ ॥

अन्यैरघमर्षणादिभिर्वा पवित्राणामेव ग्रहणं यथा स्यादिति
पवित्रग्रहणम् । सम्भवतो विकल्पः ॥

प्रतिषिद्धवाङ्मनसोरपचारे व्याहृतयः पञ्च ॥

प्रतिषिद्धापचारे वाङ्मनसोरपचारे च त्रयाणां पूर्वप्राय-
श्चित्तम् । विशेषार्थमिदं—व्याहृतयो भूराद्याः पुरुषसत्यान्ना
पञ्च अब्लिङ्गाभिर्मार्जनानन्तर आदित्योपस्थानरूपेणैकादशवार-
मुदाहर्तव्याः ॥

**सर्वास्वपो वाऽऽचामेदहश्च माऽऽदित्यश्च पुना-
त्विति सायम् ॥ १३ ॥**

सर्वासु क्रियासु अनार्जवादिकर्मस्वित्यर्थः । सर्वासु व्या-
हृतिषु प्रत्येकमाचमनमिति केचित्, तदयुक्तं, सर्वाभिरिति प्रस-
ङ्गात् । अनन्तराणां त्रयाणामेव मा भूदिति सर्वग्रहणम् ।
अब्रह्मणं क्षारादिनिवृत्त्यर्थम् । एव सायं प्रातः अभिमन्त्र्य प्रति-
पापमाचामेत् । सम्भवतो विकल्पः ॥

**अष्टौ वा समिध आदध्याद्देवकृतस्येति हुत्वैव
सर्वस्मादेनसो मुच्यते मुच्यते ॥ १४ ॥**

अष्टौ वा समिध आदध्यात् “देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि
स्वाहा, * मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा, पितृकृतस्यै-

नसोऽवयजनमसि स्वाहा, आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा, अन्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा, यद्विवा च नक्त चैनश्चक्रम तस्यावयजनमसि स्वाहा, यद्विद्वांसश्चाविद्वासश्चैनश्चक्रम तस्यावयजनमसि स्वाहा, एनस एनसोऽवयजनमसि स्वाहा” इत्येतैर्मन्त्रैर्हुत्वैव अन्यदकृत्वेत्यर्थः । अस्य प्रायान्यख्यापनार्थ एवकारः । ततश्च सम्भवे इदमेव कर्तव्यम् । सर्वस्मादेनसः न केवलमनार्जवादिभ्यः, किंतु अयाज्ययाजनादिभ्योऽप्येनसः पापान्मुच्यते ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये पञ्चविंशोऽध्यायः ॥

उक्तं कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तमिति । अत्र कृच्छ्रस्वरूपनिरूपणार्थमिदमाह—

अथातः कृच्छ्रान्वयाख्यास्यामः ॥ १ ॥

अथशब्दो मङ्गलार्थः. पूर्वस्याशुभसंकीर्तनस्य व्यवच्छेदार्थः । एवं चैते धर्मार्था अपि भवन्ति । तथाऽऽह शङ्ख.—‘शक्तितश्शरीर शोषयेद्यमनियममन्त्रव्रतादिभिः’ इति । व्रतशब्देन चात्र कृच्छ्राण्यभिधीयन्त इति । अतश्शब्दो हेतौ यत एवैते मङ्गलार्था अपि भवन्ति ततो व्याख्यास्याम इति । कृच्छ्रग्रहणं संज्ञार्थम् । अन्वर्थसंज्ञा चेयं; कृच्छ्राद्वा खात् पापान्मुचयतीति ॥

हविष्यान्प्रातराशान्भुक्त्वा तिस्रो रात्रीर्नाश्रीयत् ॥ २ ॥

हविष्यान् शुद्धान् व्रीह्यादिभिर्निष्पन्नान् घृतादिसयुक्तान् क्षारलवणवर्जितान् प्रातराशान् ग्रासान् । आशानिति नातिसौहित्यं दर्शयति । इयमभ्यवहृत्य तत्रैव तिस्रो रात्रीर्नाश्रीयत् ।

ननु च सायंप्रातर्भोजनप्राप्तौ सत्यां प्रातरशनवचनादेव रात्रि-
भोजनप्रतिषेधस्सिद्धः, उच्यते हविष्यानिति विशेषारम्भात्
प्रातर्हविष्यभोजन सायं यथाप्राप्तभोजनमित्याशङ्का स्यादिति रात्रौ
यथाप्राप्तस्यापि प्रतिषेधार्थं व्रचनम् ॥

अथापरं त्र्यहं नक्तं भुञ्जीत ॥ ३ ॥

अथानन्तरमपरमपि त्र्यहम् । अपरग्रहणाच्च पूर्वमपि त्र्यहसि-
द्धिः । प्राकृत हविष्यान्न नक्तमेव भुञ्जीत पूर्ववत् ॥

अथापरं त्र्यहं न कंचन याचेत ॥ ४ ॥

अथेत्यधिकारार्थम् । सकृद्भोजनस्यायाचितलभ्यस्य न का
लविशेषः । अपरग्रहणं पूर्वत्र्यहसादृश्योपपादनार्थम् । ततश्च
हविष्यत्वं नातिसौहित्यं चात्रापि द्रष्टव्यम् । न कंचन ज्ञाति
मपि प्रार्थयेत् । एवञ्च अयाचितलब्धस्याप्रतिषेधः । केचित्
ब्रुवते—भोजने लभ्यमाने यदि ब्रूयादहविष्यं न भोक्ष्य इति
ततोऽर्थाद्धविष्यभोजन इति याच्या कृता भवतोत्यतोत्र हविष्य-
भोजननियमो नास्तीति । अन्ये त्वाहुः—प्रतिग्रहोऽनेन प्रतिषि-
ध्यते याच्याया अस्वीकृतस्वीकरणविषयत्वान्न हविष्यभोजनप्र-
तिषेध इति । एवचात्मीयस्याप्रतिषेधः । न याचेतेति सिद्धे
न कंचनेत्यारम्भसामर्थ्यात् परिचारकादिविषयाऽपि याच्या न
कर्तव्या ॥

अथापरं त्र्यहमुपवसेत् ॥ ५ ॥

अथशब्द उक्तार्थः । अनन्तरं त्र्यहं निराहारस्स्यात् । इ-
हापरग्रहणं प्रकारान्तरेणापि त्र्यहप्रयोगप्रापणार्थम् । यथाऽऽह
वसिष्ठः—

अह प्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम् ।

अहः पराकं तत्रैव एव चतुरहौ परौ ॥

अनुग्रहार्थं विप्राणां मनुर्धर्मभृतां वरः ।

बालवृद्धातुराणां च शिशुकृच्छ्रमुवाच ह ॥

इति । उपवास कर्तुमशक्तस्य भारद्वाजोक्तं द्रष्टव्य —

प्राजापत्य चरन्विप्रो यद्यशक्तो दिनेदिने ।

विप्रान्पञ्चावरान् शुद्धान् भोजयेत्सम्यगर्चितान् ॥

इति । इदानीं गुणविधिमाह—

तिष्ठेदहनि रात्रावासीत क्षिप्रकामः ॥ ६ ॥

भोजनाद्यविरुद्धेषु कालेषु अहनि तिष्ठेत्, रात्रावासीत । एवञ्च निद्राया अवश्यभावित्वादास्मीन एव निद्रां सेवेतेति द्रष्टव्यम् । दिवा रात्रौ च क्षिप्रकामश्च स्यात् । काम आस्था । सर्वधाऽनुभवं उत्पन्नमपि नाशयेदित्यर्थः । अथवा सर्वयत्नेन शीघ्रं शुद्धः स्यामिति सततं संजातमतिस्स्यात् । केचिद्व्याचक्षते—शीघ्रं शुद्धिकामः तिष्ठेदहनि रात्रावासीन, शनैः शक्तितः शुद्धिं करोमीति यस्य मतिः स्यात्तस्यानियम इति । एवंच गुणबाहुल्यात् प्रायश्चित्तगुरुत्वमनुमीयते । तथाच प्राजापत्यद्वयस्थान इदं गौतमोक्तमतिकर्तव्यतासहितं प्राजापत्यं द्रष्टव्यम् । प्राजापत्यस्थानमात्रे इतिकर्तव्यतारहितम् । यथाऽऽह वसिष्ठः—
'य्यहं प्रातस्तथा सायमयाचितं पराक इति कृच्छ्रः' इति । अन्ये ब्रुवते—येषां मन्त्राधिकारो नास्ति स्त्रीशूद्रादीनां तेषां मन्त्ररहितं वसिष्ठाद्युक्तेन मार्गेण द्रष्टव्यम् । येषां तदधिका-
रोस्ति तेषामिदमिति । अपरे अक्षिप्रकाम इति पठन्ति, व्याच-

क्षते च—अक्षिप्रकाम एव प्राजापत्य कुर्यात् क्षिप्रकामस्तु व-
सिष्ठोक्तं कुर्यादिति । तथा चाह -

अथ चेत्त्वरते कर्तुं दिवसं मारुताशनः ।
रात्रौ स्थितो जले व्युष्टः प्राजापत्येन तत्समम् ॥
सावित्र्यष्टसहस्र तु जप्य कृत्वोत्थिते रवौ ।
मुच्यते पातकैः सर्वैर्यदि न भ्रूणहा भवेत् ॥

सत्यं वदेत् ॥ ७ ॥

सत्यं यथाभूतं वदेत् । विवाहादिष्वप्येकेषां पक्षमाश्रित्य
अनृतं न वक्तव्यमित्यभिप्रायः । एवंच सत्यवचनेनापि पापक्ष-
पणं भवतीत्यवगम्यते ॥

अनार्यैर्न सम्भाषेत ॥ ८ ॥

अनार्या द्विजातिभ्योऽन्ये वर्णाः । वर्णापशदाश्च । बहुव-
चनात् स्त्रीपुंनपुंसकैश्च ॥

रौरवयोधाजये नित्यं प्रयुञ्जीत ॥ ९ ॥

रौरवयोधाजये सामनी 'पुनानस्सोम धारय' इत्यस्या-
मृचि गीयेते । नित्यमित्यस्य सर्वत्रानुषङ्गो द्रष्टव्यः तिष्ठेदह-
नीत्यादौ, जपेदिति वक्तव्ये प्रयुञ्जीतेति वचनात् । स्वाध्याय-
रूपेण नित्यशब्दादनुसन्धेयमित्येकं । पुनःपुनर्बहुश इत्यन्ये ॥

**अनुसवनमुदकोपस्पर्शनमापो हिष्ठेति तिसृभिः
पवित्रवतीभिर्मार्जयीत हिरण्यवर्णांश्शुचय
इत्यष्टाभिः ॥ १० ॥**

अनुसवनं पूर्वाह्नमध्याह्नापराह्णेषु उदकोपस्पर्शनं स्नानं उपशब्दप्रयोगात् । आपो हिष्ठेत्यादिभिस्तिष्ठतिभिः पवित्रवतीभिः 'पवित्रं ते विततम्' इत्यादिभिश्चतसृभिरेव, अनुक्तसंख्यात्वात्तत्त्वं विना बहुवचनस्याकृतार्थत्वाच्च । हिरण्यवर्णाश्शुचय इत्यष्टाभिश्च मार्जयीत सलिलमभिमन्त्र्य मूर्धनि प्रक्षिपेत् । अन्ये करणविभक्तिनिर्देशादेभिरेव स्नानमिति वर्णयन्ति । मार्जनशब्दस्य मध्योपदेशादन्यैश्च पवित्रैः ॥

अथोदकतर्पणम् ॥११॥

अथानन्तरं अनुसवनप्रापणार्थं तस्मोपादानम् । एवंच नैमित्तिकेष्वपि स्नानेषूदकतर्पणमस्तीत्यवगम्यते । तथाऽऽह भृगुः—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमुच्यते ।

तर्पणं त्रिविधस्यास्याप्येष एव विधिस्सदा ॥

इति । उदकोपस्पर्शनमित्यत्र उदकाधिकारे पुनरुदकग्रहणमुदकस्थस्यापि तर्पणप्रापणार्थम् । तथाच स्मृत्यन्तरे विरुद्धमभिधाय पुनस्समर्थितम् । यथा—

नोदकेषु न पात्रेषु न क्रुद्धो नैकपाणिना ।

नोपतिष्ठति तत्तोयं यद्भूम्यां न प्रदीयते ॥

तथा—

उदके नोदकं कुर्यात्पितृभ्यस्तु कदाचन ।

उत्तीर्य तु शुचौ देशे कुर्यादुदकतर्पणम् ॥

इत्यभिधायोक्तं—

आपो देवगणास्सर्वे आप पितृगणाः स्मृताः ।

तस्मादप्सु जलं देयं पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥

तथा—

देवतानां पितॄणां च जले दद्याज्जलाञ्जलिम् ।

असंस्कृतप्रमीतानां स्थले दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥

इति । तत्पुनः केभ्य कथं वेत्यत आह—

नमो हमाय मोहमाय मंहमाय धून्वते ताप-
साय पुनर्वसवे नमः । नमो मौञ्जघायो-
र्म्याय वसुविन्दाय सर्वविन्दाय नमः । नमः
पाराय सुपाराय महापाराय पारदाय पा-
रयिष्णवे नमः । नमो रुद्राय पशुपतये
महते देवाय त्र्यम्बकायैकचरायाधिपतये
हराय शर्वायेशानाथोग्राय वज्रिणे घृणिने
कपर्दिने नमः । नमस्सूर्यायादित्याय न-
मः । नमो नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय न-
मः । नमः कृष्णाय पिङ्गलाय नमः । नमो
ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशायो-
र्ध्वरेतसे नमः । नमस्सत्याय पावकाय
पावकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमः ।
नमो दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमः । नमस्ती-
क्ष्णाय तीक्ष्णरूपिणे नमः । नमस्सौम्या-
य सुपुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषायो-

तमपुरुषाय ब्रह्मचारिणे नमः । नमश्चन्द्र-
ललाटाय कृत्तिवाससे नम इति ॥ १२ ॥

नाथमेको मन्त्रः, एता एवाज्याहुतय इति बहुवचननिर्देशात् । किं तर्हि त्रयोदशैते मन्त्रा नमस्कारादयो नमस्कारान्ताश्च द्रष्टव्याः, श्रुतौ तथैव पाठदर्शनात् । ततश्चैतैर्नमस्कारान्नैर्मन्त्रैरुदकतर्पणं कर्तव्यम् । अन्ये पुनराहुः—सम्प्रदानविभक्त्यन्ताष्टपञ्चाशदेते मन्त्रा इति । अपरे नमस्कारादय एव न नमस्कारान्तास्तथापाठदर्शनादित्याहुः ॥

एतदेवादित्योपस्थानम् ॥ १३ ॥

एतदेव यजुः आदित्योपस्थानम् । ननु च उपस्थानशब्दस्य क्रियावचनत्वात् यजुषा सह सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः, अत एव वक्तव्यं एतैरेवादित्योपस्थानमिति । नैष दोषः—उपतिष्ठतेऽनेनेत्युपस्थानमित्येवं यजुरेवाभिधीयत इत्यदोषः । ततश्चादित्योपस्थानमित्यर्थात् क्रियाचोदनेति । एवमशब्द उदकतर्पणेऽप्ययमेव मन्त्र इति सूचनार्थः । इतरथा एतदादित्योपस्थानमित्युक्ते उदकतर्पणं गृह्योक्तेन मन्त्रेण प्रसज्येतेति । एवंच नित्यादधिकमिदं द्रष्टव्यं, यथासमाम्नायप्रयोगार्थो वा । एवंचोदकतर्पणाद्यन्यथेत्यवगम्यते । ततश्च तत्र नमस्कारादयो नमस्कारान्ताश्चेति यदुक्तं तद्द्रष्टव्यम् । रौद्रेण मन्त्रेणादित्यस्तुतिरयुक्तेति चेत्, नैष दोषः, न हि वचनस्यातिभार इत्यतिभाराभावाद्गुद्रांशत्वाच्चादित्यस्य । तथा पुराण उक्तं—‘क्षिति-जलपवनहुताशनयजमानाकाशसोमसूर्याख्या मूर्तयो भगवतः शर्वस्याष्टौ’ इति । एतदेव विरुद्धं, तत्रैवादित्यो विष्णुरिति दर्श

नादिति चेत्, द्वयोरभेदत्वाददोषः । तथाच भगवद्गीतासु—
 'रुद्राणां शकरश्चास्मि' इति । तर्पणानन्तरमुपदेशात्तिरादित्यो-
 पस्थानमनुसवनं द्रष्टव्यम् । अन्ये व्याचक्षते—'अथोदकतर्पण-
 मादित्योपस्थानं च' इति वक्तव्ये पृथग्योगकरणात् प्रत्यहं स
 कृदेवादित्योपस्थानमिति । अपरे प्रायाश्चत्तादन्यत्रापि प्रवेशार्थं
 पृथग्योगकरणमिति । वचनवदेकवचनत्वादुक्तबहुत्वेऽपि न विरोधः ॥

एता एवाज्याहुतयः ॥ १४ ॥

आज्याहुतयश्चेति वक्तव्ये एता एवेत्यभिधानं आहुतिबहु-
 त्वप्रतिषेधार्थम् । अतस्त्रयोदशैता आज्याहुतयो द्रष्टव्याः । पूर्व-
 वत् समाम्नायप्रयोगार्थं एवशब्दः । ततश्च नमस्कारादयो म-
 न्त्राः स्वाहाकारान्ताश्च द्रष्टव्याः । कुतः? आहुतिग्रहणसाम-
 र्थ्यात् । यद्यपि पुलिङ्गा मन्त्राः, तथाऽज्याहुतिसामानाधिकर-
 ण्यादेता इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । केचिद्व्याचक्षते एताः संप्र-
 दानविभक्तयः षट्पञ्चाशदाज्याहुतय इति, संप्रदानविभक्तिपराम-
 र्शार्थः स्त्रीलिङ्गनिर्देश इति । एतदपि सकृत्सकृदादित्योपस्था-
 नवदनुसवनं द्रष्टव्यं, आनन्तर्यानभिधानात् । एवं द्वादशरात्र
 वर्तेत ॥

**द्वादशरात्रस्यान्ते चरुं श्रपयित्वैताभ्यो देवता-
 भ्यो जुहुयात् ॥ १५ ॥**

द्वादशरात्रस्यान्ते, न प्रतिदिनम् । त्रयोदशे वाऽहनि, षष्ठी-
 निर्देशात् । चरुणा जुहुयादित्येव सिद्धे श्रपयित्वाग्रहणमुत्पूय
 श्रपणमभिघार्यावरोपणमित्येवमर्थम् । जुहुयादिति होमविध्य-
 र्थम् । अत्र स्वगृह्योक्तेन स्थालीपाकविधानेन द्रष्टव्यम् ।

एतद्भ्यो देवताभ्यः इति न वक्तव्यं वक्ष्यमाणत्वादेव सिद्ध-
मिति चेत्, ध्यानपूर्वार्थं उपदश इत्यदोषः । ता आह—

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाऽग्नीषोमाभ्यामि-
न्द्राग्निभ्यामिन्द्राय विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्र-
ह्मणे प्रजापतयेऽग्नये स्विष्टकृत इति ॥ १६ ॥

द्वि. स्वाहाकारपाठ सर्वत्रानुषङ्गार्थः । इतिकरणः प्रका-
रावरोधार्थः । अत इन्द्रायेत्येवमादौ न पुरुहूतायेत्येवमादि योज्यं
किंतु तदेवेति ॥

ततो ब्राह्मणतर्पणम् ॥ १७ ॥

होमानन्तरं नापरस्मिन्दिवसे, शक्तितो ब्राह्मणतर्पणं कर्त-
व्यम् । तत्रापि ज्यवरान्भोजयेदिति द्रष्टव्यम् ॥

एतेनैवातिकृच्छ्रो व्याख्यातः ॥ १८ ॥

एतेनैव प्राजापत्यविधिना अतिकृच्छ्रोप्यतिशयपीडोत्पादको
व्याख्यातः । कृच्छ्रानिति बहुवचनादेवैतत् सिद्धमिति चेत्, उ-
च्यते, अग्निष्टोमवत् प्रथमस्य प्रकृतिव्यापनार्थमेवमभिधान-
मिति । ततः सान्तपनादावपि 'तिष्ठेदहनि' इत्याद्यविरोधक-
ल्पना कर्तव्या । तत्स्वरूपं तु स्मृत्यन्तरादवगन्तव्यम् । तथाऽऽह
बोधायनः—

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।

पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापप्रणाशनः ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।

एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥

गोमूत्रं गोमयं चैव क्षीरं दधि घृतं तथा ।
 पञ्चरात्रं तदाहारः पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥
 गोमूत्रादिभिरभ्यस्तमेकैकं त्रित्रिसप्तकम् ।
 महासान्तपनं कृच्छ्रं वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥
 कणपिण्याकतक्राणि तथा चामानिलाशनः ।
 एकत्रिपञ्चसप्ताहं पापघ्नोऽयं तुलापुमान् ॥
 यावकः सप्तरात्रेण वृजिनं हन्ति देहिनाम् ।
 सप्तरात्रोपवासो वा दृष्टमेतन्मनीषिभिः ॥
 पौषभाद्रपदज्येष्ठा आर्द्राकाशातपाश्रयाः ।
 त्रीन् शुक्लान् मुच्यते पापात् पतनीयादने द्विजः ॥
 अमावास्यां निराहारः पौर्णमास्यां तिलाशनः ।
 शुक्लकृष्णकृतात्पापान्मुच्यतेऽब्दस्य पर्वभिः ॥
 भैक्षाहारोऽग्निहोत्रिभ्यो मासेनैकेन शुद्ध्यति ।
 यायावरवनस्थेभ्यो दशभिस्सप्तभिर्दिनैः ॥
 एकाहं धनिनोऽन्नेन दिनेनैकेन शुद्ध्यति ।
 कापोतवृत्तिनिष्ठस्य पीत्वाऽपश्शुद्ध्यते द्विजः ॥
 ऋग्यजुस्सामवेदानां वेदस्यान्यतमस्य वा ।
 पारायणं त्रिरभ्यस्यानश्नन्पापात्प्रमुच्यते ॥
 योऽन्नदस्सत्यवादी च सर्वभूतेष्वहिसकः ।
 पूर्वोक्तमन्त्रशुद्धिभ्यस्सर्वेभ्यस्सोऽतिरिच्यते ॥
 त्रिमधुच्छन्दसो रुद्रा गायत्री प्रणवान्विता ।
 सप्तव्याहृतयश्चैषां जपः पापप्रणाशनः ॥
 मृगारेष्टिः पवित्रेष्टिः पावमान्योपि चेष्टयः ।
 एताः पापप्रणाशिन्यो वैश्वानर्या समन्विताः ॥
 इदं चैवापरं गुह्यमुच्यमानं निबोधत ।

मुच्यते सर्वपापेभ्यो महद्भिः पातकैर्विना ॥
 पवित्रैर्मार्जनं कुर्वन् रुद्रैकादशिनी जपन् ।
 व्याहृतीभिर्घृतैर्जुह्वन् प्रयच्छन् हेमगोतिलान् ॥
 प्राश्नीयाद्यावक पक्वं गोमूत्रैश्च शकृद्रसैः ।
 सदधिक्षीरसर्पिष्यं मुच्यते सोऽहसः क्षणात् ॥
 प्रसूतो यश्च शूद्रायां येनागम्या च लङ्घिता ।
 सप्तरात्रात्प्रमुच्येते विधिनैतेन तावुभौ ॥
 रेतोमूत्रपुरीषाणां प्राशनेऽभोज्यभोजने ।
 पर्याधानेज्ययोरेतत्परिवित्तेश्च भेषजम् ॥
 अपातकानि कर्माणि कृत्वेह च बहून्यपि ।
 मुच्यते सर्वपापेभ्य इत्येतद्वचन सताम् ॥
 मन्त्रमार्गप्रमाणं च विधानं समुदाहृतम् ।
 भरद्वाजादयो येन ब्रह्मणस्सात्मतां गताः ॥
 प्रसन्नहृदयो विप्रः पयो दध्यादय कर्मणा ।
 कामांस्तांस्तानवाप्नोति ये ये कामा हृदि स्थिताः ॥
 निर्वृत्तस्सर्वपापेभ्यः प्रवृत्तः पुण्यकर्मणि ।
 भो विप्रास्तस्य सिध्यन्ति विना यत्नैरपि क्रियाः ॥
 ब्राह्मणा ऋजवस्तस्माद्यद्यदिच्छन्ति चेतसा ।
 तत्तदासादयन्त्याशु संशुद्धा ऋजुकर्मिणः ॥
 एवमेतानि यन्त्राणि तावत्कार्याणि धीमता ।
 कालेन यावताऽपैति विग्रहाशुद्धिरात्मनः ॥
 एभिर्न्यत्रैर्विशुद्धात्मा त्रिरात्रोपोषितश्शुचिः ।
 तदारभेत येनर्द्धि कर्मणां प्राप्तुमिच्छति ॥
 क्षापवित्रं सहस्राक्षं मृगारोहोमुचौ गणौ ।
 पावमान्यश्च कूश्माण्ड्यः वैश्वानर्य ऋचश्च याः ॥

धृतौदनेन ता जुह्वन् सप्ताह सवनत्रयम् ।
 मौनवृत्तिर्हविष्याशी निगृहीतेन्द्रियक्रियः ॥
 सिंहे म इत्यपां पूर्णे पात्रेऽवेक्ष्य चतुष्पथे ।
 मुच्यते सर्वपापेभ्यो महतः पातकादपि ॥
 वृद्धत्वे यौवने बाल्ये यः कृतः पापसञ्चयः ।
 पूर्वजन्मसु वा जातस्तस्मादपि विमुच्यते ॥
 भोजयित्वा द्विजानन्ते पायसेन ससर्पिषा ।
 गोभूमितिलहेमानि भुक्तवद्भयः प्रदापयेत् ॥

इत्येवमादि । अलमतिप्रसङ्गेन । प्रस्तुतमभिधीयते यस्त्वस्य
 विशेषः स उच्यते ॥

यावत्सकृदाददीत तावदश्नीयात् ॥ १९ ॥

यावन्मात्रं हविष्यमेकेन पाणिना सकृदादातुं शक्यात्
 तावन्मात्रं नेष्वेवाहस्सु अश्नीयात् । ग्रासमात्रचोदनैषा । तथाऽऽह
 मनु.—

एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।

त्र्यह चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रस्स उच्यते ॥

इति । अभ्यक्षस्तृतीयः, स कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । पूर्वत्र य एव
 भोजनकाल उक्तः, तत्रैव केवलमुदकं पिबेत् । स एवरूपस्तृ-
 तीय कृच्छ्रातिकृच्छ्रो भवति । तृतीयग्रहणं द्वितीयं तृतीयमि-
 ति केवलोक्तावपि तत्प्रतिपत्त्यर्थम् । तथाच वक्ष्यति—‘प्रथमं
 चरित्वा’ इत्यादि । अङ्गिस्तृतीय इति वक्तव्ये भक्षग्रहणमपा-
 मप्यन्नकार्यकरणप्रदर्शनार्थम् । ततश्चोपदिष्टकालव्यतिरेकेण उ-
 दकपानाभावः । सज्ञाकरणं व्यवहारार्थम् ॥

इदानीमेतेषां फलमाह—

प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति ॥

प्रथमं प्राजापत्यं चरित्वा शुचिरपगतविहिताकरणनिमित्त-
दोषः पूतः प्रतिषिद्धाचरणजनिताधर्मक्षयश्च कर्मण्य' काम्य-
नित्यकर्मयोग्यश्च भवति सम्पद्यते ॥

ननु च इदमनर्थकं प्रायश्चित्तविधानादेवैतस्य सिद्धत्वात्
कुर्यादित्यत्र पापक्षपणहेतुत्वस्य प्रतिपादितत्वात् । तत्रापि प्र-
थमादित्येव सिद्धत्वाच्चरित्वाग्रहणमप्यनर्थकम् । तथाच शुचिः
पूत इत्यनेनाधर्मावान्तरभेदकथनं मदफल, पूत इत्येतावतैवोभ-
यसिद्धेः, तथा कर्मण्य इत्येतदपि । यदि तावदपेताधर्मत्वेन
कर्माधिकाराभिप्रायः ततोऽर्थसिद्धत्वादवचनीयं, अथ विशिष्ट-
तरफलप्राप्त्यभिप्रायः तदप्ययुक्तम् । यस्य कर्मणो यत्फल त-
देव, न फलातिशयो भवतीति ॥

अत्रोच्यते—देहान्तरकृतोभयविधाधर्मक्षपणसाधनत्वज्ञापना-
र्थोऽयमारम्भः । चरित्वाग्रहणं सकृत्प्रयोगेण भवतीति ज्ञाप-
नार्थः, उपरिष्ठात् 'यदन्यन्महापातकेभ्यः' इत्यभिधानात् । प्रति-
षिद्धसेवन एव प्रायशः प्रायश्चित्तविधानात् । पूतशब्देन च
प्रतिषिद्धविषय एवाशङ्का स्यादिति शुचिग्रहणम् । तस्य च
ज्ञातस्येति द्रष्टव्यं, अज्ञातस्य वेदोदितानामित्युक्तत्वात् । नन्वे-
तदपि सर्वप्रायश्चित्ताभिधानात् सिद्धं, तस्य बुद्धिपूर्वाबु-
द्धिपूर्वकृतानां सामान्यत्वात् । उच्यते—निर्दिष्टविषयमिदं, अ-
निर्दिष्टविषय तदिति । एव प्रतिषिद्धविषयेऽपि द्रष्टव्यम् । क-
र्मण्य इत्येतदप्यधर्मसम्बन्धे सति कर्मफलप्रतिबन्धो भवतीत्य-
स्यार्थस्य ज्ञापनार्थम् ॥

द्वितीयं चरित्वा यदन्यन्महापातकेभ्यः पापं
कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते ॥ २१ ॥

अतिकृच्छ्रं चरित्वा महापातकव्यतिरिक्तपापनिर्मुक्तो भ-
वतीति । एवञ्च पूर्वेण यमनियमलोपपापक्षयः क्रियते, अनेन
तूपपातककृतपापक्षपणमिति पूर्वसहितस्य च सर्वप्रायश्चित्तवच-
नान्महापातकमप्यनभिसन्धिकृतं क्षपयतीति द्रष्टव्यम् ॥

तृतीयं चरित्वा सर्वमेनो व्यपोहति ॥ २२ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रं चरित्वा महापातकमप्यनभिसन्धिकृतं वि-
नाशयति कुतः ? अस्य पूर्वयोस्तुल्यत्वात्, चान्द्रायणसहितस्य
सर्वप्रायश्चित्तस्य अभिसन्धिकृतस्य महापातकस्य विनाशहेतु-
त्वाच्च । एवञ्च पूर्वयोस्स्थान इदमपि कर्तव्यम् । द्वितीयमित्या-
द्यापि तद्विषय द्रष्टव्यम् । सर्वप्रायश्चित्ते सर्वसमुच्चयो मा भूदि-
त्युपदेशः ॥

अथैतांस्त्रीन्कृच्छ्रांश्चरित्वा सर्वेषु वेदेषु स्नातो
भवति सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति यश्चैवं वेद य-
श्चैवं वेद ॥ २३ ॥

अथ अनन्तरमप्यव्यवहितानेतांस्त्रीनेव न तप्तकृच्छ्रादीन् ।
कृच्छ्रानिति पीडातिशयेनानुष्ठानार्थम् । एवं चार्द्रवस्त्रतादीन्यपि
द्रष्टव्यानि । तथा जपहोमादीन्यपि । सर्वान् वेदानधीत्य स्ना-
तस्य यत्फलं तत्तुल्यफलसम्बन्धो भवतीत्यभिप्रायेणोक्तं सर्वै-
ष्वित्यादि । सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति तल्लोकगमनसमर्थ इत्यर्थः । य-
श्चैवं वेद यश्च कृच्छ्रस्वरूपेति कर्तव्यताफलं विजानाति । च-

कारः पूर्वेण समुच्चयार्थः । ज्ञात्वा कृतस्य पूर्वोक्त फल न कर्ममात्रेण ज्ञानमात्रेण वेति । एवञ्च प्रत्येकमपि फलमानुरूप्येण द्रष्टव्यम् । केचित्प्रत्येकमपीच्छन्ति, तदयुक्त, अनुष्ठानादेव पापक्षपणं न ज्ञानमात्रादिति । तथा च मनु —

फल कृतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।

न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये पञ्चविंशोऽध्यायः



उक्तं कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति । तत्र कृच्छ्रातिकृच्छ्रविधिरुक्तः । अधुना चान्द्रायणविधिविवक्षयाऽऽह —

अथातश्चान्द्रायणम् ॥ १ ॥

व्याख्यास्यामः । इति शेषः । अथशब्दोऽधिकारार्थः । कृच्छ्रातिकृच्छ्रफलस्य तत्तुल्यत्वादनन्तरोक्तं न भवतीति । अतश्शब्दो हेतौ, यत एतत् फलसयुक्तमिति । चान्द्रायणमिति संज्ञा । अन्वर्थत्वात् चन्द्रगतिवशात् भवतीति । जात्यामेकवचनम् । एवञ्च स्मृत्यन्तरोक्तस्य यतिचान्द्रायणादे सर्वप्रायश्चित्तत्वं ज्ञापयति । तथाऽऽह मनुः—

अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान्माभ्यंदिने स्थिते ।

नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं चरेत् ॥

चतुरः प्रातरश्नीयाद्विजः पिण्डान्कृताह्निकः ।

चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं चरेत् ॥

यथाकथञ्चित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीस्समाहितः ।

मासेनाश्रन् हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ इत्यादि ॥

तस्योक्तो विधिः कृच्छ्रे ॥ २ ॥

तस्य सर्वप्रकारस्य, तच्छब्दोपादानात् । उक्तो विधि इति-
कर्तव्यता । कृच्छ्रे प्रथमे ' तिष्ठेदहनि ' इत्यादि । यस्त्विह विशेष
स उच्यते—

वपनं व्रतं चेत् ॥ ३ ॥

वपनं केशाद्यपनयनं कर्तव्यं व्रत चेत् । प्रायश्चित्तार्थम-
स्यैतद्भवति चेत् । व्रतशब्देन स्पृत्यन्तरे प्रायश्चित्तमुक्तमिति ।
यथाऽऽह मनु —

एतैर्द्विजातयश्शोभ्या व्रतैराविष्कृतैः ॥

इति । एवञ्च यद्यदृष्टार्थं तदानीं वपनमन्तरेणापि तद्भवतीति
ज्ञापितम् । अन्ये तु ब्रह्मचारिव्रतमाहुः ' चतुरो व्रतिनोपि '
इत्यादौ तथा दर्शनात् । अस्मिन्पक्षे गृहस्थस्य तदन्तरेणापि
भवति । अयं न्यायः कृच्छ्रादावपि द्रष्टव्यः ॥

स्वरूपाभिधानार्थमाह—

श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत् ॥ ४ ॥

उपवासो भक्त्यागः, तं चतुर्दश्यां कुर्यादित्यर्थः ॥

**आ प्यायस्य सं ते पयांसि नवोनव इति चै-
ताभिस्तर्पणमाज्यहोमो हविषश्चानुमन्त्र-
णम् ॥ ५ ॥**

' आप्यायस्व समेतु ते, सते पयांसि समुयन्तु वाजाः, नवो-
नवो भवति जायमान ' इत्येताभिस्तिसृभिरुदकतर्पण घृतेन च
होमो हविषश्च वक्ष्यमाणस्यानुमन्त्रण कर्तव्यम् । तत्रैक आहु —

अङ्गभूयस्त्वे फलभूयस्त्वाभ्युपगमात् कृच्छ्रविध्यतिदेशाच्च कृच्छ्रे
 रौद्रेण यजुषा य उदकतर्पणादय उपदिष्टाः तैरसह समुच्ची-
 यन्त इति । तदयुक्त, 'अतिदेशप्राप्त हि प्रत्यक्षश्रुतेन निवर्त्यते'
 इति न्यायान्नित्यवृत्तिरेव न्याय्येति । अथ किमेताभिः यथासं-
 ख्येनैकैक कर्तव्यं, ? उत समुच्चिताभिस्सर्व ? विसमासनि-
 र्देशात् समुच्चिताभिर्न्याय्यम् । अन्य आहु — आज्यहोम इत्ये-
 कवचननिर्देशादेकैकं कुर्यात्, समुच्चये हि मन्त्रबहुत्वात् क-
 र्मबहुत्वमिति होमपृथक्त्वे च बहुवचनं प्रसज्येतेति ॥

उपस्थानं च चन्द्रमसः ॥ ६ ॥

चशब्दादेताभिरेव कर्तव्यम् । यद्यसौ न दृश्यते तदा आ-
 दित्यस्य कार्यं, 'सुषुम्नस्सूर्यरश्मिः' इति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् । *
 अत्राभिन्नार्थत्वात् कृच्छ्रविध्यतिदेशप्राप्तमादित्योपस्थानं निवर्तते ॥

यद्देवा देवहेडनमिति च चतसृभिर्जुहुयात् ॥ ७ ॥

'यद्देवा देवहेडनम्' इति ऋग्भिः । अनादेशादाज्यं जुहु-
 यात् । स्त्रीलिङ्गसंख्यानिर्देश ऋगर्थः, यजूष्यप्येवमादीनि यजु-
 र्वेदे पठ्यन्त इति तन्निवृत्त्यर्थः । अतः पूर्वेण सहिताः पञ्चा-
 ज्याहुतयः सप्त वा ॥

देवकृतस्येति चान्ते समिद्धिः ॥ ८ ॥

'देवकृतस्य' इत्यादय उक्ता । तैर्मन्त्रैरष्टौ समिद्धोमान्
 कुर्यात् । अन्ते चान्द्रायणसमाप्तौ । चशब्दादादौ च ॥

ओं भूर्भुवस्स्वस्तपस्सत्यं यशश्श्रीरूगिडौज-
स्तेजः पुरुषो धर्मश्चिव इत्येतैर्ग्रासानु-
मन्त्रणम् ॥ ९ ॥

प्रणवाद्यः पञ्चदशैते मन्त्राः । तेषामेकैकेनानुपूर्व्या ग्रासा-
नुमन्त्रणं कर्तव्यम् । पूर्वं हविषोऽनुमन्त्रणमुक्तं, यदा चान्त्यः
पिण्डो व्यावर्तते तदाऽन्त्यमन्त्रोपीति मन्त्रान्तो द्रष्टव्यः ॥

प्रतिमन्त्रं मनसा नमस्स्वाहेति वा सर्वान् ॥ १० ॥

मन्त्रं मन्त्रं प्रति नमस्कार स्वाहाकार वाऽन्ते कृत्वा स
र्वान्ग्रासान्मनसाऽनुमन्त्रयेत् । इच्छातो विकल्पः सर्वग्रहणाद्वि-
भक्तानामनुमन्त्रणं, न पुनरविभक्तानाम् । अनुमन्त्रणमन्त्राश्चैते
न भक्षणमन्त्राः, अतोऽन्नमेवमभिमन्त्रय भुञ्जीत ॥

ग्रासप्रमाणमास्याविकारेण ॥ ११ ॥

यावता ग्रासेन मुखं न विक्रियते नातिविवृतमित्यर्थं ताव-
देव प्रमाणं स्यात् ॥

चरुमैक्षसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूल-
फलोदकानि हवींष्युत्तरोत्तरं प्रशस्तानि ॥ १२ ॥

द्वादशैतानि द्रव्याणि । एतेषां हविर्द्रव्याणां यद्यदुत्तर त-
त्तत्पूर्वस्मात् पूर्वस्मात्प्रशस्ततर पीडातिशयहेतुत्वात् । चरुर्ह-
विष्यः स्वयं श्रपयितव्यः । मैक्षं यस्योपपद्यते ब्रह्मचार्यानीतं
वा । शेषाणि प्रसिद्धानि । हविर्ग्रहणं हविष इव संस्कारार्थं

ततो लवणगुडादिवर्जनसिद्धिः । तत्र द्रव्याणां पुटिकया ग्रासक-
ल्पना, तत्र 'गुरुषु गुरुणि' इत्यनेन न्यायेन कल्पना कर्तव्या ॥

**पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासान् भुक्तैकापचयेना-
परपक्षमश्रीयात् ॥ १३ ॥**

चतुर्दश्यामुपवासं कृत्वा एतेषामन्यतमस्य हविषः पञ्च-
दश्यां पञ्चदशग्रासानशित्वा तत प्रतिपदमारभ्य एकैकहान्या कृ-
ष्णपक्षमश्रीयात् । अपरपक्षग्रहणं व्याप्त्यर्थम् । सकल पक्षमनेन
प्रकारेण व्याप्नुयात्, न त्वनियमेन सख्यां पूरयेदिति । सकृ-
द्भोजनार्थं वा गम्यमानस्य पुनर्वचनम् ॥

अमावास्यायामुपोष्य एकोच्चयेन पूर्वपक्षम् ॥

ततः अमावास्यायामुपवासं कृत्वा प्रतिपदप्रभृत्येकैकस्थो-
च्चयेन वृद्ध्या शुक्लपक्षमश्रीयात् । तथा पौर्णमास्यां पञ्चदश
ग्रासा भवन्ति । मध्यतनुत्वात् पिपीलिकामध्यमिदम् ॥

विपरीतमेकेषाम् ॥ १५ ॥

एकेषामाचार्याणां मतेन विपरीतमिदमेव भवति । चतु-
र्दश्यामुपवासं कृत्वाऽअमावास्यायामेक पिण्डमश्रीयात् । तत
प्रतिपदमारभ्यैकैकवृद्ध्या शुक्लपक्षमश्रीयात् । तथाच चतुर्दश्यां
पञ्चदश भवन्ति । तत पौर्णमास्यामुपवासः, प्रतिपदि पञ्च-
दश ग्रासाः । तत एकैकहान्या कृष्णपक्षमश्रीयादिति । अन्ये
त्वन्यथा विपरीतमाचक्षते—पौर्णमास्यामुपोष्य प्रतिपदमारभ्यैकै
कापचयेनापरपक्षमश्रीयात्, ततोऽअमावास्याप्रभृत्येकैकोच्चयेन पूर्व-
पक्षमश्रीयादिति । मध्यपृथुत्वाद्यवमध्यमिदम् । तस्मात्पूर्वोक्तोऽ
यं च पिपीलिकामध्य ॥

एष चान्द्रायणो मासः ॥ १६ ॥

चन्द्रो येन हासवृद्धिभ्यामनुगम्यते तच्चान्द्रायणं, तत्सह-
चरितोपि मासः चान्द्रायण इत्युच्यते ॥

एतमाप्त्वा विपापो विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति ॥

एतमेवंविधं चान्द्रायणमाप्त्वा विपापः विहिताकरणनिमि-
त्तस्यैनसः क्षयेण । विपाप्मा प्रतिषिद्धाचरणनिमित्तकिलिष-
विनाशात् । अन्यदपि देहान्तरगतमपि सर्वप्रकारमेनो हन्ति ।
एवञ्च विहितकरणे प्रतिषिद्धसेवने च कुष्ठाद्युपघाते सति
चान्द्रायण कर्तव्यमिति सूचित भवति ॥

द्वितीयमाप्त्वा दश पूर्वान्दशापरानात्मानं चैक-
विंशं पङ्क्तिं च पुनाति ॥ १८ ॥

निगदव्याख्यानं सूत्रम् ॥

संवत्सरं त्वाप्त्वा चन्द्रमसस्सलोकतामाप्नो-
त्याप्नोति ॥ १९ ॥

तुशब्दोऽव्यवहितार्थः । सलोकतां सालोक्यं गच्छति ॥

इति मस्करीये गौतमभाष्ये सप्तविंशोऽध्यायः.



इदानीं 'स्वामी रिक्थक्रय' इति, 'रिक्थभाज ऋणम्'
इति च सूचित दायविभागमाह—

ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा रिक्थं भजेरन् ॥ १ ॥

ननु कस्मादितरवत् प्रायश्चित्तात् प्रागनभिधानं? तत्रैक आहुः—यदि पुत्रा पितर बलाद्विभागाय प्रवर्तयन्ति, पिता वा पुत्राणां कर्माधिकारे सति यथाप्राप्तं विभागं न करोति, ततोऽनयोः प्रायश्चित्तं नास्तीत्येवमर्थमिति । न पुनरेतद्विचारणीयं येन न कचिदापे व्यतिक्रमे प्रायश्चित्ताभाव इष्यते । अतः प्रायश्चित्तगौरवार्थमेवमभिधानम् । सूत्रमिदानीं विव्रियते—ऊर्ध्वं जीवनात् पितुः प्रेते तस्मिन्नित्यर्थः । एकशेषश्च द्रष्टव्यः, 'पिता मात्रा' इति । तथाऽऽह मनु.—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरस्सह ।

भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतो ॥

इति । पितृशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात् पुत्रग्रहणं गम्यमानमपि क्रियते पुरुषाणामेव विभाग इत्येवमर्थम् । तथाच स्त्रीणां तावत्तत्तिरीयकश्रुतौ श्रूयते 'तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीः' इति । तथा नपुंसकानां वसिष्ठ आह—'अनशास्त्वाश्च मान्तरगता क्लोबोन्मत्तपतिनाश्च' इति । 'जीवति वेच्छति' इति वचनादूर्ध्वमिति गम्यमानमपि अभिधीयते एकोद्दिष्टादि-संस्कारकरणादूर्ध्वमिति प्रतिपादनार्थम् । रिक्थं पैतृकं द्रव्य कृष्णादिलब्धं रूढ्या । विभजेरन् । अत्र विचार्यते—स्वत्वे सति विभागः? उत विभागे सति स्वत्व? अत्र केचिदाहुः विभागे सतीति । तदयुक्तं, सर्वेषां विभागप्राप्तेः । वचनात् पुत्राणामेव नियम्य इति चेत्—'अनीशास्ते हि जीवतोः' इति लिङ्गात् । कुत? ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्चेति नियमादेव प्रागविभागे सिद्धे—पुनरीशत्वमात्रप्रतिषेधात् स्वत्वासित्वं ज्ञापयति । इतरथा अनर्थकः प्रतिषेधः प्राप्त्यभावात् । तस्मात् स्वत्वे सत्येव विभागः । एव तर्हि जातपुत्रस्य पुत्रसकमित-

त्वात् परस्वादानं प्राप्नोतीति चेत् जातिवदुभयत्र वर्तत इत्य-
दोषः । ईशत्वप्रतिषेधात् पुत्राणां दानाभावोऽर्थसिद्धः ॥

निवृत्ते रजसि मातुर्जीवति वेच्छति ॥ २ ॥

उपरतरजस्कायां वा मातरि जीवत्यपि पितरि तदनुज्ञया
विभागः, इच्छा च पितुः न पुत्राणां, जीवतीति सामानाधि-
करण्यात् । सोऽयं विभागः पुत्राणां कर्माधिकारापेक्षया द्रष्टव्यः ॥

सर्वं वा पूर्वजस्येतरान् बिभृयात्पितृवत् ॥ ३ ॥

ज्येष्ठ एव वा सर्वं धनमादाय इतरान् यवीयसो भ्रातृ-
न् बिभृयात् पोषयेत् न विभाग कुर्यादित्यर्थः । पितृवत्
यथा पिता बिभर्ति । अयमपि यवीयसां कर्मानुष्ठानसामर्थ्या
भावे ज्येष्ठवृत्तित्वे सति द्रष्टव्यः ॥

विभागे तु धर्मवृद्धिः ॥ ४ ॥

तुशब्दो हेत्वर्थः । यस्मात्प्रत्येकमतिथिदानादिकर्मानुष्ठानेन
धर्मवृद्धिस्तस्माद्विभाग एव युक्ततर इति । अर्भकावस्थाया-
मपि भिन्नवृद्धित्वे सति विभागः कर्तव्य इत्येवमर्थ उपदेशः ।
वृद्धिवचनाच्चांशप्रदातुरपि धर्मोऽस्त्येवेति ज्ञापयति ॥

अधुना कथं पुनस्सविभाज्य इत्याह —

**विंशतिभागो ज्येष्ठस्य मिथुनमुभयतोदयुक्तो
रथो गोवृषः ॥ ५ ॥**

सर्वस्मात्पितृधनाद्विंशतितमो भागो ज्येष्ठस्य । मिथुनं गो-
मिथुनं प्रसिद्धम् । उभयतोदतः अश्वाश्वतरगर्दभाः, तेषां यथा-

सम्भवमभ्यतमाभ्यां युक्तो रथः । गोवृष प्रसिद्धः । अयमुद्धारः सति सम्भवे ज्येष्ठस्य ॥

काणखोरकूटवण्टा मध्यमस्यानेकाश्वेत् ॥ ६ ॥

काणः प्रसिद्धः । खोरो वृद्धः । खोट इति पाठे तु पादविकलः । कूटः शृङ्गविकलः । वण्टो विलोपितवालाधिः । अविशेषितत्वात् गवाश्वादीनामपि सर्वेषां यथासम्भवो द्रष्टव्यः । मध्यमस्यायमुद्धारः, ते च यदि बहवो भवन्ति । इतरेषामपि सन्तीत्यर्थः ॥

अविधान्यायसी गृहमनोयुक्तं चतुष्पदां चैकैकं यवीयसः ॥ ७ ॥

अविः प्रसिद्धः । एकवचनादेकं, धान्य व्रीह्यादि । अयो लोह आनुरूप्येण धान्यायसोः कल्पनार्थं द्विवचनम् । एवञ्च न सर्वं गृह्णीयात् । गृहमेकं शकटयुक्तं चतुष्पदां च गवादीनामेकैकं पृथक्पृथगानुरूप्येण यवीयसः कनिष्ठा गृह्णीयुः । अयं कनिष्ठोद्धारः ॥

समधेतरत्सर्वम् ॥ ८ ॥

एवमुद्धृतोद्धारशिष्टं समं विभक्तव्यम् । ननु च विभागे समधैव सर्वस्मिन् प्राप्ते वचनादुद्धार उक्ते शेष समधैव प्राप्नोतीति नार्थोऽनेन सूत्रेण । नैष दोषः, यदि हि पिता विभागं करोति तदोद्धारप्रतिषेधार्थमिदमिति । अन्ये तु पितुरुद्धारप्रतिषेधार्थमिदमिति वृवते । अयं च प्रकारो ज्येष्ठे कनिष्ठे च गुणवति द्रष्टव्यः ॥

द्वयंशी वा पूर्वजस्य ॥ ९ ॥

द्वावंशौ द्वयंशं, तदस्य विद्यत इति द्वयशी, भागद्वयं ज्येष्ठस्योद्धार इत्यर्थः ॥

एकैकमितरेषाम् ॥ १० ॥

अयं विभागो यदि ज्येष्ठ एव गुणवान् अन्ये निर्गुणाः तदा द्रष्टव्यः ॥

एकैकं वा धनरूपं काम्यं पूर्वः पूर्वं लभेत ॥

एकैकं वाऽर्थजातमभिप्रेत ज्येष्ठानुक्रमेण गृहीयुः । तत्राभिप्रेतार्थविशेषग्रहणमेवोद्धारः । अयमपि सर्वे गुणवन्तश्चेद्द्रष्टव्यः ॥

किञ्च—

दशतं पशूनाम् ॥ १२ ॥

धनरूपमित्यनेन काम्यस्यैकस्य पशोर्ग्रहणे प्राप्ते सख्यानियमेन ग्रहणार्थमिदं पशूनां दश ग्राह्या इति ॥

तत्रापि—

नैकशफद्विपदानाम् ॥ १३ ॥

अश्वादीनां खगादीनां च न दश दश ग्राह्या इत्यर्थः । यदि सर्वे निर्गुणास्तदानीं सममेव विभागो द्रष्टव्यः । अत्र विशेषानुपादानात्, स्मृत्यन्तरे च द्विरुक्ते. पूर्वस्य तत्प्रयोजनत्वात् । यथाऽऽह वसिष्ठ. 'अथ भ्रातॄणां दायविभागः' इति । यदा केचित् गुणवन्तः केचिन्निर्गुणास्तदा ज्येष्ठो दशममुद्धार गृहीत्वा अन्यत्समं विभजेत् । यथाऽऽहोशना—'ज्येष्ठस्य दशमो-

द्धारः कनिष्ठस्याभिप्रेतो भागः ' इति । अस्मिन्देशे अयमेव विभागो द्रष्टव्यः, समाचारात् ॥

समानजातीयानामेकमातृकाणां विभाग उक्तः । अधुना समानजातीयत्वेऽप्यनेकमातृकाणां वक्तुमाह--

ऋषभोऽधिको ज्येष्ठस्य ॥ १४ ॥

कनीयस्याः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य ऋषभ उद्धारः । सममन्यत् ॥

ऋषभषोडशा ज्यैष्ठिनेयस्य । १५ ॥

ज्येष्ठायां जातो ज्यैष्ठिनेयः, तस्य पञ्चदश गावः वृषभ-
श्चैक उद्धारः । सममितरत् ॥

समधा वाऽज्यैष्ठिनेयेन यवीयसः ॥ १६ ॥

सम एवाय विभागो भवति अज्यैष्ठिनेयेन कनिष्ठायां जा-
तेन ज्येष्ठेन सह यवीयसः ज्येष्ठायाः पुत्रस्य कनीयसः । एकस्य
मातृतो ज्यैष्ठ्यमन्यस्य जन्मतः । अयमपि गुणवद्विषयो द्रष्टव्यः ॥

प्रतिमातृ वा स्ववर्गे भागविशेषः ॥ १७ ॥

यदा तु बह्वयः समानजातीया असमानापत्याश्च जाया
भवन्ति, तदा पुत्राश्रयस्य विभागस्य दुष्करत्वान्मातृत एव
विभज्यते । स्वे स्वे वर्गे भागविशेषोऽपि द्रष्टव्यः । स उक्तो
' विशतिभागो ज्येष्ठस्य ' इत्यादिना । पुत्रवतस्तावदेव, अपुत्र-
वतस्तु—

**पितोत्सृजेत् पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं
चेष्टाऽस्मदर्थमपत्यमिति संवाद्य ॥ १८ ॥**

पिता न तु माताऽपि । उत्सृजेत् अर्पयेत् न तु दद्यात्

शास्त्रेण पुत्रत्वात्, 'पाणिग्राहणिका मन्त्रा कन्यास्वेव प्रति-
ष्ठिताः' इति चोक्तत्वात् । पुत्रिकां दुहितरम् । अनपत्य. अ
विजमानपुत्र. । आग्नेयी प्राजापत्यां चेष्टि कृत्वा अनाहिताग्नि
श्चेत् स्थालीपाकविधानेन आहुतिद्वयं हुत्वेति द्रष्टव्यम् । ततो
दानकालेऽस्मदर्थमपत्यं यदस्यां भविष्यतीत्येव वरेण सह स-
वादं कृत्वा । तत एव प्रतिपादितायां य पुत्र. स मातामहस्य
पुत्रो भवति, नोत्पादयितुरित्यभिप्रायः ॥

अभिसन्धिमात्रात्पुत्रिकेत्येकेषाम् ॥ १९ ॥

यदा तु पूर्वस्य विधेः करणासम्भवः दानात्पूर्वं वरणादि
ना संकल्पमेव करोति—यदस्यामपत्यं भविष्यति तन्ममेति । अ-
नेनैव पुत्रत्वं भवतीत्येके मन्यन्ते । सम्भवापेक्षो विकल्पो
द्रष्टव्यः ॥

तत्संशयान्नोपयच्छेदभ्रातृकाम् ॥ २० ॥

तदाशंकया न गृह्णीयात् कस्यचिदप्यनपत्यस्य सर्वा दु-
हितरः । कुत. ? तस्मिन् वक्तव्ये अभ्रातृकामित्यारम्भात् । यस्य
तु पुत्रिकाऽपि न सम्भवति तस्य—

पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धा रिक्थं भजेरन् ॥ २१ ॥

पिण्डसम्बन्धा. सपिण्डाः, तदभावे गोत्रसम्बन्धाः सगोत्राः,
तदभावे ऋषिसम्बन्धा समानार्षेया । एवमासन्नस्याभावे विप्र
कृष्टस्तद्रूप्यभागिति ॥

स्त्री चानपत्यस्य ॥ २२ ॥

पुत्रिकापुत्रस्याप्यभाव एतत् । कुत ? 'पुत्रिकामनपत्यः' इत्य-

नपत्याधिकारे पुनरनपत्यग्रहणात् । ते यद्वैव पिण्डादिसंबन्धा रि-
क्तं भजेरन् तदा स्त्रियपि भागं लभेत । चशब्दादाचार्यं शि-
ष्यश्च, सामर्थ्यात् सर्वाभावे । तदाह वसिष्ठः. 'तदभावे क-
त्विगाचार्यौ' इति ॥

बीजं वा लिप्सेत ॥ २३ ॥

यद्वा - सपिण्डादिभ्यो बीजमिच्छेदपत्यमुत्पादयेदित्यर्थः ॥
इच्छातो विकल्पः नियोगतो वा ॥

देवरवत्यामन्यजातमभागम् ॥ २४ ॥

विद्यमानदेवरायामन्येनोत्पादितमपत्यमभागार्हं, कामजत्वात्
क्षेत्रजापवादोऽयम् ॥

स्त्रीधनं दुहितृणामप्रदानामप्रतिष्ठितानां च ॥

स्त्रीधनं षट्कारम् । यथाऽऽह मनुः—

अध्यश्नचध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।

मातृभ्रातृपितृप्राप्त षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥

इति, यच्चान्यत्तया कर्मणोपात्तं तत्तस्यां मृतायां तस्या एव दु-
हितृणां अदत्तानामनपत्यानां च भवति । अन्य आहुः—अप्रति-
ष्ठितानां पुत्राणां अकृतविवाहानां इति । अपरे निस्स्वानामि-
ति । चशब्दात् भर्तुश्च । अत्र अदत्तानां दुहितृणामभावे पुत्रा
निस्स्वा गृह्णीयुः, तदभावे अकृतविवाहाः, तदभावे अनपत्याः
स्त्रियः, सर्वेषामभावे भर्तेति क्रमो द्रष्टव्यः ॥

भगिनीशुल्कं सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः ॥ २६ ॥

भगिनीप्रदाननिमित्तं यद्द्रव्यं लब्धमार्षासुरविवाहयोः त-

त्सोदर्याणामूर्ध्व मातु , तस्यां सृतायामित्यर्थः । एवं च पितु-
रभावे मातैव तस्येष्ट इत्युक्तं भवति ॥

पूर्वं चैके ॥ २७ ॥

प्रागपि मातृमरणात् भगिनीशुल्कं सोदर्याणां भवतीत्येके
मन्यन्ते । तस्या वृत्तापेक्षया विकल्पो द्रष्टव्यः । अथवा पूर्व-
मेव यदुक्तं 'स्त्रीधनं दुहितृणाम्' इति, तच्चोर्ध्वमेव मातुर्न जी-
वन्त्यामित्येके मन्यन्ते । उक्तो विषयः ॥

असंसृष्टिविभागः प्रेतानां ज्येष्ठस्य ॥ २८ ॥

असंसृष्टिनो विभक्ताः सन्तः पृथक् पृथक् यदा भ्रातरो
व्यवहरन्ति तेषां यः प्रैति तस्य अनपत्यस्य । कुत ? अनप-
त्याधिकारात् । यो भागः सः स्वस्वज्येष्ठस्यैव भवति न स-
र्वेषां, सः पितृसम इति । द्वैमातृकाणां समानजातीयानां अस-
माजातीयानामभिन्नमातृकाणां च यो भागः सः स्वस्ववर्ग-
ज्येष्ठस्यैव भवति ॥

संसृष्टिनि प्रेते संसृष्टी रिक्थभाक् ॥ २९ ॥

यस्तु विभक्तोपि पुनः कार्यवशात् संसृज्यते स एव त-
द्भागभाक् भवति । पुनः प्रेतग्रहणं सोदर्यार्थम् अन्येषां यथाप्रा-
प्तमेवेति ॥

विभक्तजः पित्र्यमेव ॥ ३० ॥

'निवृत्ते रजसि मातुः' इत्यनेन पुत्राणां विभज्यः पुनः
दारक्रियया यदि पश्चात्पुत्रो जायते सः पित्र्यमेव लभेत । एवं

जीवद्विभागपक्षे पितुरप्यशभाक्त्वमर्थासिद्धम् । तदाऽपि 'द्वौ भागौ पितुः' इति स्मृत्यन्तरात् द्वौ भागौ पितुर्द्रष्टव्यौ ॥

स्वयमार्जितमवैद्येभ्यो वैद्यः कामं न दद्यात् ॥

यत्तु पितुर्द्रव्यमनुपपन्नता स्वयमुपात्त भवति, वैद्यग्रहणाद्वा प्रतिग्रहादिना, तदितरेभ्यः काममिच्छातो न दद्यात् ॥ यथाऽऽह मनु -

अनुपपन्नपितुर्द्रव्य श्रमेण यदुपार्जयेत् ।

स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ॥ इत्यादि ॥

अवैद्यास्समं विभजेरन् ॥ ३२ ॥

यत्तु मूर्खाः कृष्यादिनोपार्जयेयुः तत्सममेव विभजेयुः । तथा चाह—

अवैद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।

समस्तत्र विभागः स्यादपिड्य इति धारणा ॥

इति । अर्थसिद्धमपि चैतदुच्यते नियमार्थम् । ततश्च वैद्य असममपि न ददाति अवैद्योपात्त चेत् वैद्योपि सममेवेति ॥

'पुत्रा रिक्थं भजेरन्' इत्यभिधानादौरसेष्वेव संप्रदायो मा भूदित्यत आह—

**पुत्रा औरसक्षेत्रजदत्तकृत्रिमगूढोत्पन्नापविद्धा
रिक्थभाजः ॥ ३३ ॥**

औरसः स्वस्य भार्यायां स्वयमुत्पाद्यते । तथाऽऽह—

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेत्तु यम् ।

तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥

इति । क्षेत्रजो यो नियोगद्वारेणोत्पाद्यते । यथाऽऽह—

यस्तल्पज प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।

स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥

इति । दत्तो यः प्रतिग्रहेणान्यतो लब्धः । यथाऽऽह—

माता पिता वा दद्यातां यमाद्भिः पुत्रमापदि ।

सदृश प्रीतिसयुक्त स ज्ञेयो दत्तिमस्सुतः ॥

इति । कृत्रिमो यः क्रियते त्वं मम पुत्र इति । यथाऽऽह—

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविवर्जितम् ।

पुत्रः पुत्रगुणैर्युक्तः स विज्ञेयस्तु कृत्रिमः ॥

इति । गूढोत्पन्नो निगूढमुत्पादितः । यत्र बीजी न ज्ञायते सोऽयं बीजिनः अविज्ञानान्मातृजातीयः । एवं सहोढकानोनावपि—

उत्पद्यते गृहे यस्य न विज्ञायेत कस्य सः ।

स गृहे गूढ उत्पन्नः तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥

इति । अपविद्धो यः परित्यक्तोऽन्येन गृह्यते विज्ञानेन । यथाऽऽह—

मातापितृभ्यामुत्सृष्ट तयोरन्यतरेण वा ।

यं पुत्रः प्रतिगृह्णीयादपविद्धस्स उच्यते ॥

इति । एते रिक्थभाजः ।

कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्रस्वयंदत्तक्रीताः

गोत्रभाजः ॥ ३४ ॥

कानीनः कन्यायामुत्पन्नः, यश्च तामुद्ब्रूते तस्यासौ भवति । तथाऽऽह—

पितृवेदमनि कन्या तु यः पुत्रं जनयेद्रहः ।

कानीनः तं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥

इति । सहोदः सगर्भायामूढायामुत्पद्यते । यथाऽऽह—

या गर्भिणी सस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।

बोदुः स गर्भो भवति स सहोद इहोच्यते ॥

इति । पौनर्भवो व्यभिचारिणीपुत्रः । यस्तां पुनः संस्कृत्य तस्यां पुत्रमुत्पादयति, तस्यासौ भवति । यथाऽऽह—

या पत्या संपरित्यक्ता विधवा स्वेच्छयाऽपि वा ।

उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥

सा चेदक्षतयोनिस्स्यात् गतप्रत्यागताऽपि वा ।

पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥

इति । पुत्रिकापुत्रः पूर्वोक्तः । स्वयंदत्तो यः स्वयमेवात्मानं प्रतिपादयति । तथाऽऽह—

मातापितृविहीनो यः त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।

आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयदत्तस्तु स स्मृतः ॥

इति । क्रीतः धनेन स्वीकृतः । यथाऽऽह—

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यर्थं मातापित्रोर्थमन्तिकात् ।

स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽदृशोऽपि वा ॥

इति । एते गोत्रभाजः उदकदानादिना पुत्रार्थं कुर्वन्तीत्यर्थः । एवंचैते न रिक्थभाजः, पूर्वं तु रिक्थभाजो गोत्रभाजश्च । कुत एतत् ? औरसेन सहाभिधानात् स्मृत्यन्तराच्च—

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्त कृत्रिम एव च ।

गूढोत्पन्नोपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥

इति । बान्धवा गोत्रभाज इत्यर्थः । पुत्रत्वादेव गोत्रभाकत्वेन प्राप्ते तद्वचनमिह रिक्थभाकत्वप्रतिषेधार्थम् । औरसादिसद्भावे च

तेषां रिक्थभाक्त्वप्रतिषेधादौरसादिसद्भावे चैते ग्रासाच्छादन-
मात्रमर्हन्ति पुत्रत्वादेतेषाम् । यथा —

सर्वेषामपि तु न्याय्य दातु शक्त्या मनीषिणा ।

ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥

इति । तदभावे तु भवत्येव रिक्थभाक्त्वं, पुत्रप्रतिनिधित्वात् ।
यथाऽऽह —

क्षेत्रजादीन् सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।

पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मर्नाषिणः ॥

इति । प्रतिनिधिश्च मुख्यद्रव्याभावे समग्रफल एव भवति, सो-
माभावे पूतीकवत् । पुत्रिकापुत्रस्येहाभिधानं गोत्रभाक्त्वप्राप-
णार्थम् । रिक्थभाक्त्व त्वौरससद्भावेऽपि भवत्येव । यथाऽऽह —

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।

समस्तत्र विभागः स्यात् ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥

इति । शूद्रापुत्रस्येहानभिधानमनौरसत्वादरिक्थभाक्त्वाद्वा । तथा-
चाह —

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् ।

यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥

चतुर्थींशिनो वौरसाद्यभावे ॥३५॥

षण्णामौरसाद्यानामभावे कानीनादयश्चतुर्थींशभाजः, सम-
स्तभाजो वा, वाशब्दात् । तथाऽऽह शङ्ख — ‘उपार्जितं ज्येष्ठाय
तदभावे क्षेत्रजपुत्रिकापुत्रयोस्तयोरप्यभावे त्रयाणामितरेषां ते-
षामप्यभावे षड्भ्यः’ इति । गुणापेक्षश्चायं विकल्पः, शेषं सपि-
ण्डादिसम्बन्धिभ्य इति । अन्ये तु ‘औरसाद्यभावे’ इत्येतदुत्तर-

सूत्रार्थमाहुः । ततश्च कानीनादयश्चतुर्भागार्हा जीवनमात्रसम्बन्धि-
नो वेति ॥

सवर्णापुत्राणां विभाग उक्तः । असवर्णासुतानां तु विशेष-
माह —

ब्राह्मणस्य राजन्यापुत्रो ज्येष्ठो गुणसम्पन्नस्तु-
ल्यभाक् ॥३६॥

ब्राह्मणस्य राजन्यापुत्रो ज्येष्ठो गुणसम्पन्नश्च यः स
ब्राह्मणीपुत्रेण यवीयसा तुल्यभाक् ॥

ज्येष्ठांशहीनमन्यत् ॥३७॥

ज्येष्ठांशो य उद्धार. पूर्वमुक्तो 'विंशतिभागो ज्येष्ठस्य'
इत्यादिना तद्विरहितमन्यद्रूपं सम लभेत उद्धारो न भव
तीत्यर्थः । यद्यपि द्रव्यपरो निर्देशः, तथाऽपि ज्येष्ठांशप्रतिषेध-
मात्रमेवात्र विवक्षित, आरम्भसामर्थ्यात् । अन्यथा हि 'गुणस-
म्पन्नो ज्येष्ठभाक्' इत्येवं वक्तव्यमासीदिति गुणहीनः नासौ तु-
ल्यभाक् । तत्र मनूक्त द्रष्टव्यं —

चतुरोऽशान् हारेद्विप्रस्त्रीनिंशान् क्षत्रियासुतः ।

वैश्यापुत्रो हरेद्वचंशमंश शूद्रासुतो हरेत् ॥

इति । शूद्रापुत्रस्य प्रतिषेध उक्त इति चेत् - उच्यते, क्षतयोन्या-
मुत्पन्नस्य प्रतिषेधः । अक्षतयोन्यामुत्पन्नस्य अंशभाक्त्वमिति । पौ-
नर्भवादिद्वारेण क्षतयोन्यामपि सम्भवत्येवेति । येषामौरसाद्यभाव
इति शेषः, ते औरसाद्यभावे तुल्यभाक्त्वमस्य व्याचक्षते । तेषु
सत्सु स्मृत्यन्तरोक्त द्रष्टव्यम् । तथाऽऽह वसिष्ठः—'त्र्यश ब्राह्म-
ण्याः पुत्रो हरेत् द्व्यश राजन्याया पुत्र सममितरे भजेरन्'
इति । वृत्तापेक्षया विषयविकल्पो द्रष्टव्यः ॥

राजन्यावैश्यापुत्रसमवाये यथा स ब्राह्मणी
पुत्रेण ॥ ३८ ॥

यदा वैश्यापुत्रो गुणसम्पन्नो ज्येष्ठः, क्षत्रियासुतो यवी-
यान्, ब्राह्मणीसुतस्तु नास्तेव, तदा यथा स ब्राह्मणीपुत्रेण क्ष-
त्रियापुत्रस्तुल्यभाक् एव क्षत्रियापुत्रेण वैश्यापुत्रस्तुल्यभाक् ज्ये-
ष्ठांशहीन । एव च क्षत्रियापुत्रस्य ज्येष्ठस्य अस्मिन्विषये ज्ये-
ष्ठांशोस्तीति ज्ञापितं भवति ॥

क्षत्रियाच्चेत् ॥ ३९ ॥

वैश्यापुत्रां ज्येष्ठो गुणसम्पन्नस्तुल्यभागिति वर्तते । क्षत्रि-
यादपि वैश्यापुत्रो ज्येष्ठश्चेत् क्षत्रियापुत्रेण यवीयसा तुल्यभा-
गभवतीत्यर्थः । एवं वैश्याच्छूद्रापुत्रस्य द्रष्टव्यमित्येके, तदयुक्तं
मनुनोक्तत्वात् ॥

शूद्रापुत्रोऽप्यन्नपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूल-
मन्तेवासिविधिना ॥ ४० ॥

अविद्यमानद्विजातिपुत्रस्य ब्राह्मणस्यापि शूद्रयोऽन्यामुत्पन्नः
यावता कृष्यादिकर्मानुष्ठानसमर्थो भवति तावन्मात्रं लभेत स
यदि शिष्यवच्छुश्रूषापरो भवति । आतर तद्वार्या च गुरुमि-
वानुवर्ततेत्यर्थः । अन्तेवासिविधेः शुश्रूषाविशेषणत्वात् । चतुर्थ-
भागे तदपत्यं वृत्तीत्यादि कुत ? क्षतयोऽन्या ग्रहणादिति चेत्,
गर्हार्थापिशब्देहेतोरस्यांशभाक्त्वं च ॥

सवर्णापुत्रोऽप्यन्यायवृत्तो न लभेतैकेषाम् ॥ ४१ ॥

समानवर्णापुत्रोऽपि, अपिशब्दाज्ज्येष्ठोऽपि दुर्वृत्तः पतित इति

यावत् । न लभेत इत्येके मन्यन्ते । तथाऽऽह वसिष्ठः—‘अ-
नशास्त्वाश्रमान्तरगताः क्लीबोन्मत्तपतिताश्च’ इति । लभेतेत्या-
चार्यः । शक्यविनेयत्वापेक्षया विकल्पः ॥

श्रोत्रिया ब्राह्मणस्यानपत्यस्य रिक्थं भजेरन् ॥

श्रोत्रियाः त्रैविद्यवृद्धाः, न तु छन्दोमात्राध्यायिनः । त-
थाऽऽह मनुः—‘त्रैविद्याश्शुचयो दान्ता.’ इत्यादि । अनपत्य-
स्य अविद्यमानपुत्रस्य धनभाज इत्यर्थः । राज्ञाऽनुज्ञाता रिक्थं
भजेरन्, उत्तरत्र राजग्रहणात् ॥

राजेतरेषाम् ॥ ४३ ॥

क्षत्रियादीनां राजैव हरेत् सर्वाभावे ॥

जडक्लीबौ भर्तव्यौ ॥ ४४ ॥

जडः उपहतमना । क्लीबः तृतीयाप्रकृतिः । एतावशना-
च्छादनेन भर्तव्यौ । मूकादीनामप्युपलक्षणमिदम् । तथाऽऽह
मनुः—

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।

उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ इति ॥

अपत्यं जडस्य भागार्हम् ॥ ४५ ॥

जडस्य यदपत्यं तद्भागयोग्यं भवति । अर्हग्रहणाद्यदि
योग्य भवति, न तु जडापत्यतयैव । जडापत्यमिति वक्तव्ये
विसमासः क्लीबादीनां क्षेत्रजापत्यप्रापणार्थः । तथाऽऽह मनुः—

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात् क्लीवादीनां कथंचन ।

तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं भागमर्हति ॥

इति । अस्मादेव लिङ्गात्तेषां यथासम्भव संस्कारानुमानं, अ-

न्यथा सावित्रीपतितत्वे सति तदपत्यस्यात्ययोग्यत्वमेवेति । कृतप्रायश्चित्तस्य वा द्रष्टव्यम् । एवञ्च यत्पूर्वमपि पतितस्याप्यनुज्ञात तदपि कृतप्रायश्चित्तस्य द्रष्टव्यम् । एवं ब्रुवन्नेतत् ज्ञापयति—विभागोत्तरकालमपि तदपत्यस्य भागो दातव्य इति ॥

शूद्रापुत्रवत्प्रतिलोमासु ॥ ४६ ॥

प्रतिलोमासु स्त्रीषु जातानामपि शुश्रूषणां शूद्रापुत्रवत् वृत्तिमूलं दातव्यमित्यर्थः । तत्र चण्डालादीनां शुश्रूषाऽसंभवात् हीनतर देयमिति द्रष्टव्यम् । एव प्रतिलोमानामप्ययमेव धर्म इति द्रष्टव्यम् ॥

उदकयोगक्षेमकृतान्नेष्वविभागः ॥ ४७ ॥

उदकं कृपादिकम् । योगः इष्टं, क्षेमः पूर्तम् । तथाऽऽह लोकाक्षिः—

क्षेमं पूर्तं योगमिष्टमित्याहुस्तत्त्वदर्शिनः ।

अविभाज्ये तु ते प्रोक्ते शयनं त्वन्नमेव च ॥

इति । कृतान्ने उत्सवार्थमुपकल्पिते । कृतग्रहणात्तण्डुलादौ न दोषः । एतेषु विभागो नास्ति । तत्र शयनवत्, तण्डुलादीन्येकस्यैव दातव्यमिति केचित् । ज्येष्ठस्य कनिष्ठस्य वेच्छन्ति । अन्यानि समुदाय एव स्थाप्यानीति द्रष्टव्यम् ॥

स्त्रीषु च संयुक्तासु ॥ ४८ ॥

याश्च स्त्रियो मैथुनोपभोगार्थेन परिगृहीताः परलोकवीतभयैः पितृभिः । ननु च दोषाभावः कस्मान्न गृह्यत इति चेत्—‘प्रतिलोमे वधः पुंसाम्’ इत्यनेन प्रायश्चित्तश्रवणात् ।

तासु च पुत्रैर्न विभागः । तासां वृद्धानामशनाच्छादनं दात-
व्यं, अन्याभिर्गन्तव्यमित्यभिप्रायः । चकारादन्यदप्येकत्वादश-
क्यम् । यथाऽऽह मनु —

वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियम् ।

योगक्षेमं प्रचार च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ इति ॥

**अनाज्ञाते दशावरैश्शिष्टैरुहवद्भिरलुब्धैः प्रश-
स्तं कार्यम् ॥ ४९ ॥**

आज्ञातं ज्ञातं तद्विपरीतमनाज्ञातं, तस्मिन् यथावदनवगते
वा सन्दिग्धे वा दशावरैः सर्वाल्लपैरित्यर्थः । शिष्टैरवगतवेदार्यैः ।
तथाऽऽह मनु.—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृहणम् ।

ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥

इति । ऊहवद्भि ऊहापोहसमर्थैः मीमांसादिशास्त्रकृतबुद्धिभिरि-
त्यर्थः । अलुब्धैः वीततृष्णैः प्रशस्तं स्तुतं इदमत्र युक्तमिति ।
तत्कार्यमनुष्ठेयम् । तत्सन्निधाने कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥

**चत्वारश्चतुर्णां पारगा वेदानां प्रागुत्तमाः त्रय
आश्रमिणः पृथग्धर्मविदस्त्रय एतान् दशा-
वरान् परिषदित्याचक्षते ॥ ५० ॥**

ब्राह्मणा एव, धर्मप्रवचने तेषामेवाधिकारात् । तथाऽऽह
वसिष्ठः— ‘ब्राह्मणो धर्मान् प्रवृत्तात्’ इति । चत्वारः, नैकश्च-
तुर्वेदोपि । चतुर्णां वेदानां पारगा सरहस्यमध्येतार वेदानां
साङ्गानाम् । उत्तमाः प्राक्त्रय आश्रमिणः तृतीयाध्याय उक्ता ।

ब्राह्मणग्रहणं मा भूदित्याश्रमग्रहणम् । एतेऽपि वेदार्थज्ञा एव परिगृह्यन्ते, अज्ञानामनधिकारात् । स्वधर्मानुष्ठानापेक्षया त्वेवमुक्तम् । पृथग्धर्मशास्त्रज्ञाः त्रयः, नैकस्सर्वधर्मज्ञोऽपि । ते च वेदवित्त्वे सत्याश्रमित्वे च तान्पर्यमङ्गीकृत्य पृथगुच्यन्ते । एतान् दशावरान् परिषदिति शिष्टा आचक्षते । एतदपि स्मृत्यन्तरेण सहैकवाक्यत्वार्थम् । तदप्येषामसम्भवे त्र्यवरादीनामुपसङ्गुहार्थम् । तथाच मनु —

दशावरा वा परिषद्य धर्मं परिकल्पयेत् ॥

त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्थाः तं धर्मं न विचालयेत् ॥

इति । तथा वसिष्ठोऽप्याह—

चत्वारो वा त्रयो वाऽपि यं ब्रूयुर्वेदपारगाः ।

स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ॥

इति । तत्र बहुत्वासम्भवे स्वल्पग्राह्यमिति द्रष्टव्यम् ॥

असम्भवे त्वेतेषां श्रोत्रियो वेदविच्छिष्टो विप्र-
तिपत्तौ यदाह ॥ ५१ ॥

तत्कार्यमिति शेषः । तुशब्दोऽवधारणे । असम्भव एव एतेषां, न यथासम्भवं कतिपयानामप्यसम्भव इति । अश्रोत्रियो वेत्यभावविकल्पेन वाशब्देनैव सिद्धौ एवमुपदेशः पूर्वोक्तानां सर्वेषामसम्भवे, न दशावरासम्भवमात्र इति । श्रोत्रियः समस्तवेदपारगः, न स्मृत्यन्तरोक्तमन्त्रब्राह्मणाध्यायी बहुपाठस्याभीष्टत्वात् । परिच्छेदे वेदवित् तदर्थज्ञः । विनाऽपिच ग्रन्थप्रकर्षेण तदर्थज्ञानस्य दर्शनाच्छ्रोत्रियग्रहणम् । शिष्टः स्वधर्मावस्थितः । विप्रतिपत्तौ अभिप्रायभेदे एकोऽपि प्रमाणम् ॥

अत्र कारणमाह—

यतो यमप्रभवौ भूतानाम् ॥ ५२ ॥

यस्माद्वेदात् यमप्रभवौ, यमशब्देन संसारनिवृत्तिरुच्यते, प्रभवशब्देन तस्यैव प्रवृत्तिः, उभयसाधनस्य च वेदादधिगमः । तेन वेदः प्रमाण विप्रतिपत्तौ । यथाह मनुः—

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा पृथक् ।

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्धिमैत् ॥

आदौ च यमग्रहणं संसारनिवृत्ति परमपुरुषार्थ इति ज्ञापनार्थम् ॥

किञ्च—

हिंसानुग्रहयोगेषु ॥ ५३ ॥

वेद एव प्रमाणमिति वाक्यशेषः । हिंसासंबन्धे—एते पश्वादयो यज्ञे हिंस्या इत्यत्र, अनुग्रहयोगे—सर्वे ब्राह्मणादयो-नुग्राह्या इत्यत्रापि वेद एव प्रमाणम् । तद्वारेण च वेदाविदित्यभिप्रायः ॥

सांप्रत धर्मविदः फलमाह—

धर्मिणां विशेषेण स्वर्गं लोकं धर्मविदाप्नोति
ज्ञानाभिनिवेशाभ्याम् ॥ ५४ ॥

धर्मी केवलधर्मी । विशेषेण आप्रलयादित्यभिप्रायः । धर्म-वित् ज्ञात्वाऽनुष्ठायी । कुत ? ज्ञानग्रहणात् । अभिनिवेश-तदनुष्ठानम् । तथाच वसिष्ठः—‘धार्मिकः’ इत्यादि ॥

इति धर्मो धर्मः ॥ ५५ ॥

वेदो धर्ममूलमित्यारभ्य एतत्पर्यन्तं धर्मसंज्ञा गौतमस्ये-
ति व क्यशेषः ॥

इति पुराणमस्करीये गौतमभाष्ये अष्टाविंशोऽध्यायः
समाप्तं चेदं गौतमीयं निबन्धनं
मस्करिकृतं भाष्यम्.



अथ गौतमसूत्रे क्रियाकाण्डः.

अथाचारान्प्रवक्ष्यामि । आचाराल्लभते धर्म-
माचाराल्लभते धनमाचाराल्लभते सुखमाचारादेव
मोक्षं प्राप्नुयात् । उत्थाय पश्चिमे यामे शान्तमा-
नसोऽपनिद्रस्सति विरोधे तं त्यक्त्वा नो चेत्तत्र सं-
स्थितः । समौ प्राणापानौ धृत्वा दिवाकरं समु-
त्थाप्य दिवाकरेण प्रोत्फुल्लिते पद्मे मानसं हंसं
समाश्रयेत् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं परापरं ज्योतीरूपं
समालोक्य दिव्यं दिव्येन चक्षुषा । यथालाभमु-
षःकाले स्थित्वा स्तोत्रैरनेकधा स्तुत्वा । सो
पानत्को बहिर्यायात्सजलाशयं विरळम् । अस्थि-
विण्मूत्रभस्मकीटादिकं नाक्रामन् । द्विजस्स्थि-
रमनाः । शुचिस्थाने द्रव्यजातं निधाय । वालु-
काक्रिमिदूर्वादिना विमुक्तां मृत्तिकामादाय । रथ्या-
या दूरतस्स्थाप्य धौतं जलान्तिकेऽध्वनो दूरं ग-
त्वा ततो मौनी दक्षिणकर्णोपवीतवान् । निवीतं

पृष्ठतः कृत्वा । संवृतमस्तको मूर्धानमस्पृशन् । रहस्ये विसृजेन्मलम् । वस्त्रच्छन्नोर्ध्वकायः । नासाग्रन्यस्तनेत्रः । दिवा संध्यासु सौम्यास्यः । रात्रौ चेदक्षिणामुखः । महावातेऽक्षिरोगे दिग्भ्रमे गुप्तस्थाने यथासुखमुखो भूत्वा । मृगचोरभयादिषु । अयज्ञाङ्गतृणच्छन्ने भूतले मलं विसृजेत् । केशवस्यार्हा भूदेवी जगद्धात्री वसुंधरा । विश्वंभरा क्षमा यरमात्तामाच्छाद्य मलं त्यजेदिति । मुनिदेवालयारामवल्मीकजलभस्मगोमयदूर्वासस्यक्षेत्रसरःपर्वताश्मभूगर्तेषु नोत्सृजेन्मलमूत्रे ॥ १ ॥

नभोविण्मूत्रद्विकचन्द्राग्रथादित्यगोविप्रस्त्रीदेवताभिमुखो मूत्रपुरीषे न विसृजेत् । पथिकविश्रान्त्युपयोगिच्छायायां न विसृजेत् । स्वां तुच्छायामवमेहेत् । न सोपानन्मूत्रपुरीषे कुर्यात् । कृष्टे पथ्यप्सु च । तथा ष्ठीवनमैथुनयोः कर्माप्सु वर्जयेत् । अयज्ञाङ्गैस्तृणैः पायुमलमुन्मृज्य । अधोदृष्टिश्च । वामपाणिना शिश्रं गृहीत्वा । किमप्यस्पृशन् । शौचस्थानं समागम्य । शौचं कामण्डुलुकैस्तोयैराचरेद्द्वामपाणिना । एका लिङ्गे तिस्रस्त-

स्मिन् हस्ते । द्वयोर्द्वे च । पश्चापाने । वामहस्ते
दश । उभयोस्सप्त । तिस्रस्तिस्रश्चरणयोः । लिङ्गे
त्रिपर्वमाना स्यात् । अन्यत्रामलकोपमा । स्त्रीशू-
द्राणां गन्धलेपादिक्षयकरं कुर्यात् । ब्रह्मचार्यादीनां
द्विगुणत्रिगुणादि । दिवा यद्विहितं शौचं निशि त-
दर्धम् । तदर्धमातुरे । तदर्धमध्वनि । पथिदेवाल्या-
रामवल्मीकमूषिकबहिश्चरसंबन्धिनी मृत्तिका न
ग्राह्या । शौचाचारविहीनस्य समस्ताः क्रिया नि-
ष्फलाः । सूकरास्थिपुष्पितस्त्रीश्वकाकान्नावलोक-
येत् ॥ २ ॥

पश्चाद्देशान्तरगत उपवीतवानाचामेत् । अ-
न्तर्जानुशुचौ देश उदङ्मुखोपविष्टः । न प्रह्वो न
तिष्ठन् न प्राग्वासाः । ब्राह्मेण तीर्थेन शनैश्शनैः
पिबेत् । कुशपूतं तोयं पिबेत् । कुशपूतमुपस्पृशेत् ।
कुशाग्रमिश्रितं तोयं सोमपानसमं दिनेदिने । क-
निष्ठप्रदेशिन्यङ्गुष्ठमूलानि करस्याग्रं च क्रमात्प्रजा-
पतिपितृब्रह्मदेवतीर्थानि । दक्षिणं करं गोकर्णाकु-
तिवत्कृत्वा । जलं गोकर्णाकुतिना त्रिः पिबेद्ब्रह्म-
तीर्थेन । समस्ताङ्गुलिसाहित्यमेव गोकर्णाकुतिः । ते-

न पीतं सोमपानसमम् । असाहित्यं सुरासमम् ।
 अङ्गुष्ठमूलेनास्यं द्विरुन्मृज्य प्रदेशिन्यादितिसृभि-
 स्सहिताभिस्सकृदुपस्पृशेदास्यम् । अर्धं तोयं गृही-
 त्वा दक्षिणेन प्रोक्षणं सव्यहस्ते पादयोश्चिरसि च ।
 तदनन्तरं खान्युपस्पृशेत् । अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां नासि-
 के । अङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां चक्षुषी । श्रोत्रेऽङ्गुष्ठानामिका-
 भ्याम् । अङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां नाभिम् । तथा तलेन
 हृदयम् । शिरस्समस्ताङ्गुलिभिस्स्पृशेत् । अङ्गुल्य-
 ग्रैरंसौ द्वौ । द्विजशुद्धिमवाप्नुयात् । काष्ठाब्ज-
 वेणुकालाबुचर्माश्मनारिकेलैर्नाचामेत् । वामहस्ते-
 न च नाचामेत् । यद्याचामेत्सदाऽशुचिरेव स्यात् ।
 कटिदोरान्वितो यश्च श्रौतस्मार्तानुष्ठानं करोति तत्सर्वं
 निष्फलं भवति । नरकं चैव गच्छति । इत्याच-
 मनविधिः ॥३॥

अव्यग्रः प्राङ्मुखो निषण्णो दन्तधावनं कु-
 र्यात् । सार्द्धं दन्तकाष्ठं समं छिन्नं सत्वकपर्वकं क-
 षायं तिक्तं कटुकं कण्टकान्वितं सुगन्धिम् । वृक्ष-
 गुल्माक्षीरिणो वा भक्षयेत् । दन्तधावनं कीटाय-
 दूषितं शुचिं वितस्तिमात्रम् । ककुभाशोकजम्बवा-

अकपित्थवकुलोद्भवं गृहमेधिनामतिमुख्यम् । अ-
पामार्गं प्रशस्तम् । ताळहिन्ताळगुवाककेतकीमह-
द्वटखर्जूरनारिकेळास्सप्तैते तृणराजकाः । एतेषु द-
न्तधावनं प्रभादादपि च नाचरेत् । यद्याचरेच्चण्डा-
लयोनिस्स्यात् । शालमलयश्वत्थकिंशुकबिल्वकरञ्ज-
वकुलश्लेष्मातकविभीतकशमीबन्धूकाम्रार्कप्लक्षानि-
गुण्डिसूचीमुखवटकण्टकवदपामार्गान्वर्जयेत् । का-
र्पासं वा भस्म पूतिगन्धं च वर्जयेत् । भानावभ्यु-
दिते विकृतिं विना दन्तधावनं न कुर्यात् । कुर्या-
च्चेन्मुनयो मन्त्रा वेदा देवाः पितरस्तत्पराङ्मुखा
भवन्ति । पूर्वाभिमुखो धृतिशरीरारोग्यवान् । दक्षि-
णास्यो रोगी । पश्चिमास्यो निर्धनः । उत्तरास्यो भोगी
स्यात् । गवां नाश इत्येके । तत्र-आयुर्वलं यशो
वर्चः प्रजाः पशुवसूनि च । ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च
त्वं नो देहि वनस्पते ॥ इतीमं मन्त्रं समुच्चार्य
समाहरेदन्तकाष्ठम् ॥ ४ ॥

अष्टम्यां चतुर्दश्यां द्वादश्यां त्रिजन्मसु च तै-
लं मांसं व्यवायं दन्तकाष्ठं च वर्जयेत् । प्रतिप-
त्पर्वषष्ठीनवमीदशमीद्वादशीषु दन्तकाष्ठसंयोगे द-

हत्या सप्तमं कुलम् । निषिद्धदिवसे विप्रः कुर्या-
 दाम्रपत्रैः दन्तधावनम् । पुनराचम्याहरहस्स्नानं
 देवर्षिपितृतर्पणं स्वाध्यायोऽतिथिकार्यं च षट्कर्मा-
 णि दिनेदिने । रवावनुदित उपस्युषसि सिन्धुसंग-
 मकासारतटाकनदनदीषु स्नानं प्राजापत्येन तुल्यं
 महापातकनाशनम् । सतिलैः कुशैः प्रतिकृतिं
 कृत्वा यममुद्दिश्य दक्षिणाभिमुखो निमज्जति ।
 देवान्पूर्वाभिमुखो मुनीनुत्तराभिमुखः पितॄन् दक्षि-
 णाभिमुखो जलमध्ये प्रतर्पयेत् । उत्तीर्यापसव्ये
 यथाविधि वस्त्रं पीडयेत्—येकेचास्मत्कुले जाता
 अपुत्रा गोत्रिणो मृताः । ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनि-
 ष्पीडनोदकमिति ॥ ५ ॥

कुशांत्सव्यहस्ते धृत्वाऽऽचमनक्रियां मन्त्रैः ।
 जलावगाहे वारुणम् । भस्मनाऽऽग्नेयम् । गोरज-
 सा वायव्यम् । आपोहिष्ठादिभिर्मन्त्रैर्ब्रह्मस्नानम् ।
 नाभेरधः प्रक्षाळनमूर्ध्वं चार्द्रवाससा शरीरसंमा-
 र्जनं कापिलम् । अव्ययानन्दचित्स्वरूपविष्णुचि-
 न्तनं मानसम् । यत्सातपवर्षं तद्विव्यस्नानम् । श-
 रीरस्यासामर्थ्या देशकालयोर्वैषम्यात्स्नानान्येतानि

तुल्यानि । श्रेष्ठं मानसमुच्यते । भेषजासक्ते स-
रुजे राजचोराद्युपद्रवे मन्त्रस्नानमापोहिष्ठादिभिर्म-
न्त्रैर्विधीयते—भुवि मूर्ध्नि तथाऽऽकाशे मूर्ध्न्याका-
शे तथा भुवि । आकाशे भुवि मूर्ध्नि स्यान्मन्त्र-
स्नानविधिः क्रमादिति ॥ ६ ॥

सदशमखण्डं श्वेतं धौतवस्त्रद्वयं स्नाने दाने
जपे होमे देवपूजने भोजने धार्यम् । रक्तं नीलं
मलिनं दशाहीनं च वर्जयेत् । मौनाभावे स्नानं
हरति तेजः । जुह्वतोऽग्निश्चिश्चयं हरति । भुञ्जानो
मृत्युमाप्नोति तस्मान्मौनं चरेन्निषु विशिखोऽनुप-
वीती यच्च करोति तन्निरर्थकम् । स्नानदानादिकं
कर्मासुरं भवति । दिनमेकमपि यज्ञोपवीतेन वि-
ना स्थितः शूद्रत्वमाप्नोति मृतस्सूकरतां व्रजेत् ।
कायस्थमेव धार्यम् । कदाचन नोद्धरेत् । तस्य स-
कृदुद्धरणेन प्रायश्चिती भवेत् । वटोरेकमुपवीतम् ।
गृहस्थारण्यवासिनोर्द्वे वस्त्राभावे तृतीयमुत्तरीयार्थं
धार्यम् । एकमेव यतीनां स्यादिति ॥ ७ ॥

शुद्धक्षेत्रोत्थं कार्पासं समादाय जीवभर्तृकया
ब्राह्मण्या वा सूत्रं कारितम् । त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्य।

एको ग्रन्थिस्तस्येष्यते । कायमानेन तं कृत्वा न खर्वं न चायतम् । प्रथमस्तन्तुरोङ्कारो द्वितीयोऽग्निस्तृतीयो नागदैवत्यश्चतुर्थो वायुदेवताकः पञ्चमः पितृदेवताकष्षष्ठः प्राजापत्यस्सप्तमो विष्णुदैवत्योऽष्टमस्सूर्यस्सर्वदैवत्यो नवम इति । एते नव तन्तवः । एतन्नाभिजानाति यदा तदा स्याद-
 शुचिर्नरः । परवारिषु सप्तपिण्डानुद्धरेत् । कूपा-
 त्रीन्पिण्डानुद्धृत्य । आदित्याभिमुखो भूत्वा स्ना-
 यात् । नदीमुखो नद्यां स्नायात् । अन्यां नदीं न प्रशंसेत् । धनुस्सहस्राण्यष्टौ गतिर्यस्यास्सा नदी नद्यां विद्यमानायामन्यवारिषु न स्नायात् । गया-
 गङ्गाकुरुक्षेत्रादितीर्थानि । एतानि संस्मृत्य जला-
 शये त्रिर्निमज्जेत् । पद्भ्यां न जलं ताडयेत् । ना-
 शुद्धो जलं प्रविशेत् । असृक्शकृन्मूत्रष्ठीवनरेतां-
 स्यप्सु न निक्षिपेत् । तदभावे गृहे कुर्यात् स्नानं प्रतिदिनम् । अष्टपञ्चनवभिः कुम्भैर्गायत्र्या चाभि-
 मन्त्रितैः । एकवासाः कर्माणि न कुर्यात् । एक-
 वाससा जलं न विशेत् । आचम्य तीरस्थः क्षा-
 लयेन्मलं देहजम् । जपो होमो दानं यागः स्वा-

ध्यायः पितृकर्म चोर्ध्वपुण्ड्रं विना तत्सर्वं भस्मी-
भवति । अनाचारोऽशुचिर्वा पापं मनसाऽऽचर-
न्नूर्ध्वपुण्ड्राङ्कितशुचिरेव भवेत् । द्वारवत्युद्भवगोपी-
चन्दनोर्ध्वपुण्ड्रधारी नित्यं नित्यं पापं हन्ति ॥८॥

जपहोमदानवैश्वदेवशिवार्चनश्राद्धेषु तिर्यग्भ-
स्मना त्रिपुण्ड्रधारिणे सर्वमक्षयं भवति । जाह्न-
वीतीरसंभूततिलकचन्दनधारिणं दृष्ट्वा ब्रह्महा शु-
द्ध्येत् । गोपीचन्दनधारी सूर्यरूपं विभर्ति । केवलं
तमोनाशाय । सालग्रामशिलालग्नं कुङ्कुमं चन्दनं
यस्तु देहे धारयते स मुक्तो भवति । स्नानदानज-
पहोमसंध्यातर्पणपूजनेषु पवित्रपाणिस्स्यात् । अ-
न्यथा चासुरं भवेत् । अग्रं चतुरङ्गुलं ग्रन्थिरेकाङ्गु-
ला वलयं द्व्यङ्गुलमिति पवित्रस्य लक्षणम् । अग्रं
ब्रह्मदैवत्यं ग्रन्थिर्विष्णुदैवत्यो वलयं चैश्वरं पवित्र-
स्याधिदेवताः । पथिजातचित्तिजातकुशान् शमशा-
नपितृतर्पणास्तरणासनपिण्डसंबन्धिनः कुशान्व-
र्जयेत् । कुशमूलकुशमध्यकुशाग्रेषु क्रमेण ब्रह्म-
विष्णुमहेश्वरास्तिष्ठन्ति । तस्मान्नित्यं धारयेत् ।
कुशपाणिस्सदा तिष्ठेदम्भवर्जितः । नित्यं हन्ति

पापान्यनलस्तूलराशिमिव । कुशपूतं तोयं पिबे-
त्कुशपूतमुपस्पृशेत् कुशाग्रमिश्रितं सोमपानस-
मम् ॥ ९ ॥

स्थिरमनाः प्राङ्मुखस्समे पीठ उपविश्य पा-
दौ हस्तौ च प्रक्षाल्य जानुमध्यकरो द्विराचम्य
ततस्संध्यामुपासीत । आसने समासीनः प्राणा-
यामांस्समाचरेत्—सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं
शिरसा सह । त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामस्स
उच्यते ॥ इति । स्वस्वशाखोक्तविधिना संध्यावन्दन-
माचरेत् । संध्याहीनो नित्यमशुचिस्स्यात् । सर्व
कर्मस्वनर्हः । इहैव जन्मनि शूद्रस्सन् ब्राह्मण्या-
द्धीयते । सूर्यनक्षत्रवर्जिता याऽहोरात्रयोस्संधिस्सा
संध्या समाख्याता ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । दृष्ट-
नक्षत्रोत्तमा । लुप्ततारा मध्यमा । दृष्टसूर्या चाधमा
प्रातस्संध्या त्रिधा । माध्याह्निकसंध्या घटिकात्रय-
युक्ता । श्रेष्ठाऽर्धार्कमण्डला । अस्तमितसूर्या म-
ध्यमा । दृष्टनक्षत्रा चाधमा सायंसंध्याऽपि त्रिधा ।
स्वस्थस्सन्नेकाहमप्यनुपास्यंश्चेत्पतितो भवति । ग-
र्तप्रस्रवणादिषु दशगुणा बहिस्संध्या । प्रसिद्धतीर्थेषु

शतम् । जाह्नवीजले सहस्रम् । गृहेषु संध्या
प्रकृतिः । गोष्ठे शतगुणम् । नद्यां सहस्रम् । शि-
वसंनिधावनन्तम् । प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य करा-
भ्यामुदकमादाय गायत्र्याऽभिमन्त्रितं सूर्याभिमु-
खस्तिष्ठन् त्रिरूर्ध्वं संध्ययोः क्षिपेत् । प्रातः प्राङ्मु-
खस्तिष्ठन्ना सूर्यदर्शनात्सावित्रीं जपेत् । आतारकोद-
यात्सायं प्रत्यङ्मुख आसीनस्सावित्रीं जपेत् । त-
त्कालजनितं दशभिश्शतेनाहोरात्रकृतं पापं सह-
स्रेण वर्षजं किल्बिषं गायत्री हन्ति ॥ १० ॥

गृहे जप्यमेकगुणम् । नद्यां द्विगुणम् । गोष्ठे
शतगुणम् । अग्न्यगारे शताधिकम् । शुद्धक्षेत्र-
तीर्थेषु देवतासन्निधौ दशकोटीनां सहस्रम् । अन-
न्तं शिवसन्निधौ । दारिद्र्यं वंशासने । व्याधिसंभवः
पाषाणे । धरण्यां दुःखसमृद्धिः । दारुकासने दौ-
र्भाग्यम् । तृणासने यशोहानिः । चित्तविभ्रमः प-
ल्लवे । ज्ञानसिद्धिः कृष्णाजिने । व्याघ्रचर्मणि मो-
क्षः । श्रीर्वस्त्रासने । रोगनाशो वेत्रासने । कौशेयं
पुष्टिकरम् । कम्बलं दुःखमोचनम् । एकगुणमङ्गु-
लिजपेन । रेखास्वष्टगुणम् । रौप्यैर्दशगुणम् ।

शङ्खैश्शतगुणम् । प्रवालैस्सहस्रम् । मौक्तिकैर्लक्षम् ।
 पद्माक्षैः कोटिः । सुवर्णैश्शतकोटिः । अनन्तं मा-
 नसम् । रुद्राक्षैस्संख्या न विद्यते । ततस्सूर्यमुपा-
 सीत—एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते ।
 अनुकम्पय मां देव गृहाणाघर्यं नमोस्तु ते ॥ इत्येकं
 तर्पणं कृत्वा । समाचम्य समादाय तीर्थतोयम् ।
 आत्मनो मन्दिरं गच्छेत् । स्वस्वशाखोक्तविधानेन
 नित्यहोमं कुर्यात् । ब्रह्मयज्ञेन विधिवत्कृत्वा । त-
 र्पणमाचरेत् । देवा एकैकमञ्जलिम् । सनकादयो
 द्वौ द्वौ । पितरस्त्रींस्त्रीनर्हन्ति । स्त्रियस्त्वेकैकमञ्ज-
 लिम् । पितृवन्मातृणां कार्या ॥ ११ ॥

एवं मातामहानाम् । पिता माता सापत्नी ज-
 ननी मातामहो मातृमाता स्वभार्या सुतो भ्राता
 पितृव्यः तत्सुता सपरिग्रहा मातुलस्स्वसा श्वशुरौ
 दौहित्रो दुहिता भागिनेयकस्सुषा पितृष्वसा मातृ-
 ष्वसा जामाता भावुकश्शालकस्सगोत्रजनितान्क्र-
 मेण विधिवत्तर्पयेत् । आवाहने स्नाने तर्पणे उद्वा-
 सने द्वितीया कार्या । नमस्कारेऽन्नदाने चतुर्थी
 कार्या । आसने षष्ठी । संबुद्धिश्शेषे । विना रजत-

रुक्माभ्यां दध्नेश्च विना ताम्रपात्रेण विना न पितृणां तृप्तिः । भृगुरविसप्तमीत्रयोदशीमृताहेषु तिलैस्तर्पणं न कुर्यात् । तीर्थे तिथिविशेषे प्रेतकार्ये च निषिद्धेऽपि दिने कुर्यात्—नरकेषु सहस्रेषु यातनासु च ये स्थिताः । तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया ॥ येऽबान्धवा बान्धवा ये येऽन्यजन्मनि बान्धवाः । ते तृप्तिमखिला यान्तु मया दत्तेन चाम्बुना ॥ इति ॥ १२ ॥

ततो देवगृहं गत्वा पूजासंभारवानुपविश्यासने शुद्धे देवमर्चयेत्—आरोग्यं भास्करादिच्छेदनमिच्छेद्भुताशनात् । ऐश्वर्यमीश्वरादिच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात् ॥ इति । आवाहनासनपाद्यार्घ्यस्नानोद्वर्तनवस्त्रोपवीतगन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्याचमनफलताम्बूलप्रदक्षिणैरुपचारैर्षोडशभिरिष्टदेवं समर्चयेत् । आवाहनेन शतक्रतुफलं लभेत् । आसनेन शक्रत्वं लभते । पाद्येन पातकं हन्यात् । अर्घ्येण पापानि । स्नानेन सर्वभयम् । वस्त्रेणायुष्यवर्धनम् । यज्ञोपवीतेन ब्रह्मलोकावाप्तिः । गन्धर्वत्वं गन्धेन । पुष्पैः पुण्यमवाप्नुयात् । धूपः पापा-

नि दहति । मृत्युविनाशनो दीपः । नैवेद्यं विविधं
सर्वकामप्राप्तये । शुचितां व्रजेदाचमनेन । फलेन
स्वर्गम् । ताम्बूलेन रूपम् । प्रदक्षिणेन सत्यलो-
कम् ॥ १३ ॥

पुरुषसूक्तेन गायत्र्या वा षोडशोपचारैः तल्लि-
ङ्गैरपि मन्त्रैर्नमोन्तैः । प्रणवेनैककालं त्रिकालं वा ।
रेवासमुद्रवे लिङ्गे भूतेशमर्चयेत् । सालग्रामे म-
णौ यन्त्रे स्थण्डिले प्रतिमायां हरेः पूजा कार्या ।
न तु केवलभूतले । हरेस्तुलसीदलैरर्चनं यः कु-
र्यात्स संसारं पुनर्न याति । मुक्तिभागी स्यात् । मु-
निपुष्पकृतमालया जनार्दनं येऽर्चयन्ति तेषां देवे-
न्द्रोपि करसंपुटं करोति । कर्णविलम्बितां मुनिपु-
ष्पमालां दृष्ट्वा दशजन्मसु दैत्यारिः प्रीतो भवति ।
अगस्त्यकुसुमैः पत्रैश्चिंशद्वर्षाणि पञ्च पितरो हृष्टा
भवन्ति । गवामयुतदानेन यत्फलं कार्तिके मुनि-
पुष्पेणैकेन तत्फलं लभते । सर्वाणि पुष्पाणि वि-
हाय कार्तिके केवलं मुनिपुष्पैर्भक्त्या योऽर्चयेद्वा-
जपेयफलं लभेत् । तुलसीदलवासितं सालग्राम-
शिलातोयं यः पिबेत्तस्य पुनस्तन्यपानं न वि-

द्यते । कोटिजन्माघनाशनं विष्णुपादोदकमवश्यं
पेयम् । भूमौ बिन्दुनिपातनात्तदेवाष्टगुणं पापं भ-
वेत् । हस्तेन पिबेन्मातृगमनवत् । रूपं हृदि नाम
मुखे हरेर्नैवेद्यमुदरे पादोदकं च मस्तके तुलसी
यस्य कर्णे सोऽच्युतो भवति ॥ १४ ॥

ततो गुरून्वृद्धान् श्रोत्रियांश्चाभिवादयेत् ।
अभिवादनहीनस्य चत्वारि न वर्धन्ते प्रज्ञाऽऽयुर्य-
शो बलम् । यज्ञशालायां सभायां देवतायतने च
प्रत्येकं न नमस्कुर्यात् । कुर्याच्चेत्किल्बिषं प्राप्नोति ।
मध्याह्नपर्यन्तं ताळपर्णासिनासीनो वेदाध्ययनं च-
रेत् । अथवा शिष्येभ्यः प्रयच्छेत् । देवार्चनयज्ञ-
दानादिकर्मसु वेद एव ब्राह्मणस्य निश्श्रेयसकरः ।
द्विजो वेदाननधीत्य योऽन्यत्र कुरुते श्रमं सान्व-
यस्स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति । वेदानामन-
भ्यासेन लङ्घनादाचारस्यालस्यादन्नदोषाच्च विप्रा-
न्मृत्युर्जिघांसति ॥ १५ ॥

ततो माध्याह्निकविधिं कृत्वा भुञ्जीत । प्राप्ते मु-
हूर्तपञ्चके माध्याह्निकं कृत्वा भुञ्जानस्य सफला वे-
दोक्ताः क्रिया न निवर्तन्ते । प्रमादादकृतानि दिवो-

दितानि कर्माणि शर्वर्याः प्रथमे यामे तानि क-
 र्माणि कुर्यात् । कृतकृत्यः पोष्यवर्गजनोपेतो भु-
 ञ्जीत । मातृपितृगुरुभ्रातृपुत्रदाराभ्यागतातिथयः
 पोष्यवर्ग इति । अज्ञातकुलगोत्रोऽध्वगः श्रान्तस्सं-
 प्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिस्स्वर्गसंग्रहः । सर्वेषामेव
 दानानामन्नदानं परम् । अन्नदानं महापुण्यफलप्र-
 दम् । तथा तोयदानं च । यस्य गृहाद्ग्राशोऽति-
 थिर्निवर्तते स तस्य दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय ग-
 च्छति । आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते दक्षिणामुखो
 यशस्यं प्रत्यङ्मुखश्चिथ्यं भुङ्क्ते ऋतमुदङ्मुखः ।
 यातुधानाः पिशाचाः क्रूराश्चैव राक्षसा अन्नस्य
 रसं हरन्ति मण्डलेन विना । विप्राणां चतुरश्रम् ।
 त्रिकोणं क्षत्रियाणाम् । वैश्यानां वर्तुलम् । शूद्र-
 स्यार्धचन्द्रकमिति । गोमयेन मण्डलं कृत्वा भो-
 क्तव्यम् । पलाशपद्मकुटजमधूककदलीदलैः पुष्टि-
 करं श्रीकरमायुष्करम् । कासश्वासज्वरहरं कद-
 लीपत्रभोजनम् ॥ १६ ॥

घृतसूपव्यञ्जनोपेतमन्नं मन्त्रतो दक्षिणहस्ते-
 नापोशनं कृत्वा प्राणाय तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठैर्जुहु-

यात् । अपानाय मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैः । व्यानाय कनिष्ठिकानामिकाङ्गुष्ठैः । उदानाय कनिष्ठिकां विना सर्वैः । समानाय सर्वाङ्गुलिभिः । प्राण आत्मा स्थितः । अपाने स्थिता भूतयोनयः । पाताळवासिनो नागा व्याने संस्थिताः । देवा उदाने संस्थिताः । समाने पितरः स्थिताः । अन्नप्रदक्षिणेन शिष्टं तोयं न पिबेत् । पिबेच्चेच्चान्द्रायणं चरेत् । वाग्यतो भूम्यां पादौ प्रतिष्ठाप्य भोक्तव्यम् । कबळेकबळेऽतिरात्रफलमश्रुते । प्राणाहुतिसमय एव हस्तेन पात्रस्पर्शः । तदूर्ध्वं न कर्तव्यः । कदाचन पात्रं स्पृष्ट्वा यो भुङ्क्ते स यात्यधोगतिम् । सायं प्रातरेवम् । पादेन पात्रं स्पृष्ट्वा भोक्तव्यम् । नान्तरा भोजनम् । अग्निहोत्रसमो विधिः । आसने पादमारोप्य प्रत्यक्षलवणं मुखेन धमते चान्नं गोमांसभक्षणतुल्यम् ॥ १७ ॥

गोघृतं गोक्षीरं दधि तक्रं सक्तु चापक्वं तैलपक्वं शूद्रादपि न दुष्यति । भस्मनाऽग्निना स्तम्भेन सलिलेन अन्तरा द्वारदेशे वा पङ्क्तिदोषो न भव-

ति । गण्डूषसमये तर्जन्या दन्तचालनं न कुर्यात् ।
 कुर्याच्चेद्रौरवं नरकं व्रजेत् । एवं भोजनानन्तरमा-
 चमनं कुर्यात् । आचान्तोपि यावत्पात्रमनुद्धृतं
 स्यात्तावत्पर्यन्तमशुचिस्स्यात् । यावन्मण्डलशुद्धि-
 र्न स्यात्तावत्पर्यन्तमशुचिस्स्यादुद्धृतेऽपि । सुपूगं
 सुपत्रं सुवासनसमन्वितं दत्वा सुरेभ्यो विप्रेभ्य-
 स्तनस्ताम्बूलं भक्षयेत् । एकपूगं सुखारोग्यम् ।
 द्विपूगं निष्फलम् । त्रिपूगं श्रेष्ठम् । अधिकं नैव
 दुष्यति । पर्णमूले व्याधिः । पर्णान्ते पापम् । सि-
 रा बुद्धिविनाशिनी । तस्मात्तान्वर्जयेत् । दिवा
 स्वापं मैथुनं च न कुर्वीत । यदि कुर्यात्क्रमेणायुः-
 पुण्ययोर्हानिः । आ सायं सिद्धान्तचिन्तनं कुर्यात् ।
 ततस्सायन्तनीं संध्यां विदध्यात् । होमानन्तरं देवा-
 र्चनविधिं चरेत् । रात्रौ भोजनं कुर्यात् । बलवीर्य-
 विवर्धनम् । अलक्ष्मीपरिहारार्थं यत्किञ्चित्पुष्पानु-
 लेपनं कुर्यात् । शयीत शुद्धशय्यायां भार्यया सह
 निशिद्धदिवसेषु वर्जयित्वा । स्वगृहे प्राक्छिराः स्व-
 प्यात् । श्वशुरगृहे दक्षिणाशिराः । प्रवासे प्रत्य-

विछराः । कदाचिन्नोदविछराः । एवं विज्ञाय कर्त-
व्या दिनचर्या । पुनः प्रातरुत्थाय यथोक्तमखिलं
चरेत् । एवं क्रियाकाण्डमाचरतो धर्मार्थकाम-
मोक्षाणां सिद्धिर्भवति सिद्धिर्भवति ॥ १८ ॥

इति गौतमसूत्रे क्रियाकाण्डस्समाप्तः



अशुद्ध संशुद्धिः.

| पुटे | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|------|---------|------------------|-----------------|
| — | — | — | — |
| 1 | 11 | शरीरान्द्रिष | शरीरोन्द्रिय |
| 44 | 5 | इती ॥ | इति ॥ |
| 74 | 20 | गार्हस्थ्यस्य | गार्हस्थ्यस्य |
| 79 | 7 | कान्तरयां | कान्तरायां |
| 91 | 6 | स्य विरुद्धवाक्य | विरुद्धवाक्यस्य |
| 116 | 22 | पाठ, | पाठ , |
| 123 | 17 | संज्ञाना | संज्ञानां |
| 129 | 11 | पौर्ण | पूर्ण |
| 132 | 22 | प्यष्टावा— | प्यष्टावा— |
| 143 | 4 | दूर्ध्व | दूर्ध्व |
| 147 | 18 | काम्मे | काम्ये |
| 192 | 16 | इहेति । | त्विहेति । |
| 265 | 7 | शयनः | शयानः |
| 315 | 8 | हारात्र | होरात्र |
| 332 | 24 | अध्यापना | अनध्यापना |
| 342 | 22 | वृषभैक | ऋषभैक |
| 343 | 12 | वर्णाणि | वर्षाणि |
| 387 | 20 | तिष्ठदह | तिष्ठेदह |
| 431 | 22 | हर्विष्यस्य | हवीष्यस्य |
| 444 | 17 | पुन | पुनः |



गौतमधर्मसूत्रस्थपदसूची.

अ
अशभाक् 11, 11
अकरणे 18, 36
अकरान् 10, 11
अकल्या 9, 29
अकस्मात् 9, 7 51
अकामेन 15, 18
अकार्पण्य 8, 21
अकृतान्न 16, 49
अक्रिया 19, 3
अक्रोधे 10, 51
अगम्यागामि 15, 17
अगारद हि ,,
अगुरुतल्प 21, 8
अग्नय 26, 16
अग्नि 9, 13. 14, 11 18, 19
अग्नि 3, 27 9, 8 25, 2 3
28, 18
अग्नि 5, 7 11
अग्निमुखोपधमन 9, 33
आग्नेष्टता 19, 11

अग्निष्टदन्त 22, 9
अग्निष्टोम 8, 18
अग्निहवन 2, 8
अग्निहोत्र 8, 17
अग्नीन्धन 2, 12 23, 20
अग्नीषोमाभ्या 26, 16
अग्नेत्व पारय 24, 11
अग्नौ 3, 8 5, 11 22, 1
अग्नयाधेय 8, 17
अग्नयुत्सादि 22, 36
अग्राम्यभोजी 3, 28
अग्नेदिविषू 15, 15
अघमर्षण 19, 13 24, 12 14
अघ्नन् 12, 42
अङ्ककरणानि 12, 44
अङ्ग 3, 20 12, 1
अङ्गस्य 23, 5
अङ्गानि 11, 21
अङ्गे 1, 47
अज 7, 15
अजड 12, 34

अजप 15, 17
 अजप 6, 13
 अजपाल 15, 15
 अजा 17, 21
 अजाविषु 12, 22
 अजिह 23, 11
 अजिन 23, 18
 अजिनवासा 3, 34.
 अजिनानि 1, 18 7, 9
 अजीजनत् 4, 18
 अज्ञानपूर्वम् 20, 8
 अज्ञानाध्यापनात् 21, 12
 अञ्जन 2, 19
 अञ्जन्यवेक्षण 9, 33
 अञ्जलिना 9, 9
 अञ्जलौ 23, 11.
 अतिकृच्छ्र 26, 18
 अतिकृच्छ्रौ 19, 20
 अतिक्रमे 12, 14
 अतिचरेत् 18, 2
 अतिचारिणी 22, 37
 अतिथि 5, 26
 आतिथि 5, 41
 अतिद्वितीय 18, 9
 अतिपञ्चगुण 12, 33

अतिरात्र 8, 18
 अतिसन्धाय 12, 1
 अतिसवत्सर 3, 35
 अतिसावत्सरी 12, 27
 अतीत्य 18, 21
 अतीयात् 18, 5
 अत्यग्निष्टोम 8, 18
 अत्यन्तौपहताना 1, 36
 अथर्वशिर 19, 13
 अदण्ड्य 8, 12
 अदत्तादान 2, 23
 अदधि 17, 12
 अदन्तान् 11, 30
 अदृष्टदोष 17, 36
 अदृष्टेन 2, 32
 अदेवरात् 18, 8
 अदोष 23, 30
 अद्भि 1, 49 24, 6
 अद्भ्य 5, 16
 अधर्मसयुक्ते 5, 24 12, 47
 अधश्शय्यासनिन 14, 35
 अधश्शय्यासनी 2, 27
 अधश्शायिता 19, 16
 अधस्तात् 11, 7
 अधस्स्थान 2, 33

अवार्मिकै 9, 17
 अविक 10, 7 39 48
 अधिक 12, 3 28, 14
 अधिका 10, 2
 अविकृत्य 25, 7
 अधिकै 10, 29
 अधिगच्छेत् 9, 63
 अविगन्तु 10, 37
 अधिगमेषु 10, 38
 अविगम्य 9, 1 10, 35
 अवितिष्ठेत् 3, 32 9, 16
 अधिपतये 26, 12
 अधिभोगा 12, 32
 अधिरोहेत् 9, 34
 अविक्षुर्योपस्थायी 5, 41
 अधीत्य 9, 28
 अर्थायीत 9, 27 16, 1 5
 अधीहि 1, 52
 अवेनु 9, 20
 अव्ययन 5, 22
 अध्ययन 10, 1
 अर्धर्ध 12, 7
 अव्यापन 7, 4
 अध्याभवेत् 13, 27
 अध्याभवेयु 12, 38

अध्वसयोग 5, 22
 अनङ्गुष्ठ 1, 52
 अनङ्गुत् 13, 29
 अनङ्गुद्वारे 22, 23
 अनङ्गुह 7, 15
 अनङ्गुहौ 17, 28
 अनतिक्रामन् 23, 26
 अनतियि 5, 43
 अनतिभोग 12, 36
 अनत्याश 5, 38
 अनन्तर 4, 16
 अनन्तर्धीय 9, 42
 अनन्तानि 5, 21
 अनन्यपूर्वा 4, 1
 अनपत्य 28, 18
 अनपत्यस्य 28, 22 40. 42
 अनपदेश्य 17, 15
 अनभिवाद्या 6, 9
 अनर्धित 17, 19
 अनलसप्तमृद्धं 9, 65
 अनवरोध्य 13, 5
 अनसूया 8, 21
 अनस्थिमता 22, 23
 अनाज्ञाते 28, 49
 अनात्रेय्या 22, 19

अनादेशे 19, 19
 अनाद्यप्राशनेषु 29, 10
 अनामय 5, 42
 अनायास 8, 21
 अनारम्भी 3, 25
 अनार्जव 29, 10
 अनार्ययो 10, 66
 अनार्यै 26, 8
 अनावृते 12, 18
 अनाशक 14 11
 अनाशक 19, 16
 अनाहिताग्ने 18, 30
 अनिचय 3, 11
 अनिचयाय 18, 32
 अनिन्दन् 9, 59
 अनिन्दिता 13, 2
 अनिन्दितान् 12, 39
 अनिन्दितेन 18, 21
 अनिन्द्यौ 11, 34
 अनिबद्ध 13, 5
 अनिबद्धै 13, 9
 अनियम 6, 6
 अनिर्दशाहाया 17, 20
 अनिर्देश्यानि 21, 7

आर्नवृत्ति 10, 15
 अनिषुच्चारि 17, 15
 अनुकर्षेत् 9, 1
 अनुगमन 7, 2
 अनुग्रहयो 3, 25
 अनुग्रहयोगेषु 28, 53
 अनुग्राह्य 6, 25
 अनुज्ञात 1, 60 2, 46 10,
 अनुज्ञातस्य 2, 56
 अनुज्ञान 12, 49
 अनुदक 20, 4
 अनुपयुक्ष्य 25, 5
 अनुपालयेत् 9, 67
 अनुप्रश्न 5, 42
 अनुबन्धविज्ञानात् 12, 48
 अनुभूय 11, 31
 अनुमन्त्रण 27, 5
 अनुमन्त्रयेत् 25, 7
 अनुलोमा 4, 16
 अनुवचन 1, 61
 अनुव्रजेत् 2, 34
 अनुव्रज्या 5, 39
 अनुष्ठान 8, 15
 अनुसवन 26, 10

अनृत 23, 30 32
 अनृतवचने 13, 24
 अनृतानि 5, 25
 अनृताभिशासन 21, 10.
 अनृत्विक् 14, 11
 अनृशंसार्थ 5, 45
 अनेका 28, 6
 अनेनसि 21, 18.
 अन्त 24, 8
 अन्तत 5, 37
 अन्तरागमने 1, 63
 अन्तरिक्ष 20, 11
 अन्तरिक्षे 5, 17
 अन्तरेण 17, 5
 अन्तर्जले 24, 14
 अन्तर्वेदि 4, 9
 अन्तश्शव 16, 19.
 अन्तस्सज्ञाना 8, 2
 अन्तावसायिनीगमने 23, 33
 अन्तावसायिन्या 20, 1
 अन्तावसायिभि 20, 1
 अन्ते 14, 40 26, 15 27, 8.
 अन्तेवासिविधिना 28, 40
 अन्त्य 5, 42
 अन्त्य 4, 28

अन्त्या 16, 39.
 अन्त्याना 14, 40
 अन्न 22, 30.
 अन्न 9, 59 19, 17
 अन्नदान 5, 35
 अन्नप्राशन 8, 13
 अन्नविशेषान् 5, 33
 अन्नस्य 15, 6
 अन्य 9, 64
 अन्यजात 28, 24
 अन्यतमत् 19, 13
 अन्यतरस्मिन् 13, 3
 अन्यधृत 9, 4
 अन्ययज्ञे 22, 9
 अन्याम् 5, 45
 अन्यायवृत्त 28, 41.
 अन्यै 25, 11
 अन्योन्येन 16, 33.
 अन्वक्ष 14, 9
 अन्वह 6, 1.
 अन्वाधि 12, 39
 अन्वालभेरन् 20, 5
 अप 1, 38. 9, 8 13. 20, 7
 10 25, 10 13
 अपकर्षणे 1, 48

अपकर्षाभ्या 4, 22
 अपक्रामेत 22, 4
 अपचारे 25, 12
 अपजित्य 10, 46
 अपण्य 7, 8
 अपति 18, 4
 अपतितत्याग्नि 21, 1
 अपतिता 1, 14
 अपत्य 18, 9 28, 18 45
 अपत्यलिप्सु 18, 4
 अपत्यसमेन 6, 10
 अपथ्यानि 7, 12
 अपन्नदत् 17, 29
 अपमार्जन 2, 6
 अपर 19, 7
 अपरपक्ष 27, 13
 अपरपक्षस्य 15, 2
 अपररात्र 9, 28
 अपररात्रात् 16, 25
 अपराध 12, 48
 अपरान् 4, 33
 अपराह्णान् 9, 48
 अपराह्णे 16, 28
 अपरिवाद्य 8, 12.
 अपरिष्ठताना 12, 25

अपरिहार्य 8, 12
 अपर्तु 3, 21
 अपतौ 16, 10
 अपविद्धा. 28, 33
 अपा 2, 14
 अपाङ्क्याना 17, 16 21, 11
 अपातकानि 5, 25
 अपाश्रयण 2, 20
 अपीष्टिता 1, 27
 अपुरुषापराधेन 12, 39
 अपूत 25, 7
 अपृथग्जये 10, 21
 अपृष्टा 13, 6.
 अपेय 17, 22
 अपोगण्डधन 12, 34
 अप्तोर्यामि 8, 18
 अप्पूर्व 5, 19
 अभ्रजनत्वात् 3, 3
 अभ्रणोद्यानि 17, 3
 अभ्रतिग्राह्य 24, 2
 अभ्रतिभाया 13, 28
 अभ्रतिष्ठिताना 28, 25
 अभ्रत्ताना 28, 25.
 अभ्रयच्छन् 18, 23
 असु 13, 19 24, 2

| | |
|------------------------|------------------------|
| अफलान् 9, 48 | अभिचार 11, 19 |
| अबन्ध्य 8, 12 | अभिजन 11, 13. |
| अबहिष्कार्य 8, 12 | अभिजित्यै 25, 6 |
| अब्द 21, 3. | अभित 16, 40 |
| अब्भक्षः 26, 19 | अभिपूजित 9, 59 |
| अब्भ्रदर्शने 16, 10 | अभिरक्षेत् 11, 9 |
| अब्राह्मण 5, 21 | अभिरत 8, 9 |
| अब्राह्मण 5, 43 10, 44 | अभिरमयेत् 9, 29 |
| अब्राह्मणवचनात् 13, 5 | अभिरूपस्य 10, 43 |
| अब्राह्मणात् 7, 1 | अभिवाद 6, 5 |
| अब्राह्मणान् 10, 10 | अभिवादन 9, 47 |
| अब्राह्मणानां 13, 14 | अभिवादाने 6, 6 |
| अब्लिङ्गाभि 25, 10 | अभिविनीत 8, 11 11, 3 |
| अभक्ष्यनियम 7, 24 | अभिव्याहारयेत् 2, 9 |
| अभक्ष्यभक्षण 19, 3 | अभिशास्त 2, 42 17, 15. |
| अभक्ष्या 17, 32. | अभिशास्यमान 19, 11 |
| अभद्र 9, 21 | अभिसधाय 14, 22 |
| अभय 17, 3 | अभिसंधिपूर्वे 25, 10. |
| अभये 23, 20 | अभिसविमात्रात् 28, 19 |
| अभाग 28, 24 | अभिहत्य 12, 1 |
| अभिक्रमण 2, 32. | अभुक्त्वा 18, 32 |
| अभिक्रान्त्यै 25, 6. | अभुञ्जान 23, 21 |
| अभिकृद्ध 21, 20 | अभोजनम् 23, 24 |
| अभिगमन 13, 16 | अभोज्यम् 17, 8 24, 3 |
| अभिगम्य 6, 2 | अभोज्यभोजने 23, 23 |

अभ्यञ्जन 2, 19
 अभ्यवहारसयोगेषु 1, 50
 अभ्यस्तमित 23, 21
 अभ्युक्षेत् 1, 40
 अभ्युक्ष्य 17, 36
 अभ्युद्यत 17, 3
 अभ्युपाय 11, 25
 अभ्यूह्य 11, 26
 अभ्रातृका 28, 20
 अमत्या 23, 2 34
 अमातृ 6, 7
 अमानुषीषु 22, 38
 अमावास्याया 15, 1 16, 35. 25,
 3 27, 14
 अमु 20, 4
 अमेध्यपात्र 20, 4
 अमेध्यालितस्य 1, 48
 अमेध्यानि 9, 13 16
 अम्बष्ठ 4, 16.
 अयेज्ञ 5, 43
 अयाज्ययाजनं 19, 3
 अयुज 15, 8.
 अयुद्धे 14, 10
 अयोनौ 25, 10.
 अरोगे 23, 20

ऋषीपचयेन 10, 34
 अर्घ्य 5, 33
 अर्चिते 2, 30
 अर्थ 9, 48
 अर्थान् 11, 24
 अर्थेन 2, 55
 अर्थेषु 23, 32
 अर्धपञ्चमान् 16, 2
 अर्धमास 14, 4
 अर्वाक् 5, 30
 अलकारान् 18, 21
 अलकृता 4, 6
 अलकृत्य 4, 10
 अलाभे 2, 44
 अलुब्धैः 28, 49
 अलोम 17, 26
 अलोलुप्यमान 2, 48
 अल्पश 5, 40
 अल्पे 12, 15
 अल्पेषु 23, 32
 अवकर 23, 13
 अवकरात् 20, 4
 अवकीर्ण 15, 17. 21, 11.
 अवकीर्णी 23, 17 25, 1
 अवक्रीत 12, 39.

अवगोरणे 21, 20
 अवचने 13, 7
 अवच्छातस्य 22, 1
 अवयवदनं 19, 3
 अवधेन 2, 49
 अवध्य 8, 12
 अवर 14, 28
 अवर 6, 11 14, 28
 अवरदौर्बल्यात् 1, 5.
 अवरुद्धस्य 12, 30
 अवसन्न 17, 29
 अवसिक्किका 2, 20
 अवस्फोटनानि 2, 21 9, 51
 अवाप्नोति 3, 9
 अवि 7, 15
 अविकृत 1, 20
 अविकृता 17, 34
 अविख्यातदोषस्य 24, 1
 अविज्ञाते 22, 12
 अविप्रयुक्तं 3, 20
 अविप्रोष्य 6, 7
 अविभाग 28, 47
 अविमोचने 21, 19
 अविरुद्धा 11, 22
 अविरोधि 3, 10.

अविशेषात् 25, 9
 अवृत 9, 54
 अवृत्ता 12, 45
 अवैद्या 28, 32
 अवैद्ये 5, 35
 अवैद्येभ्यः 28, 31
 अवोक्षणेभ्यः 2, 6
 अशक्तौ 2, 50 7, 22 9, 6
 अशन 9, 47
 अशल्यक 17, 25
 अशाक 17, 14
 अशित्पी 17, 7
 अशीतिकावर 6, 10
 अशुचि 9, 12 17
 अशुचि 23, 22
 अशुचि 16, 47
 अशोच 2, 7
 अशौद्रेण 7, 22
 अरनीयात् 9, 58 26, 2 19
 27, 13
 अश्मभि 9, 15
 अश्रोत्रियस्य 5, 32
 अश्व 7, 15 12, 21 13, 16
 अश्व 19, 17
 अश्वत्थ 1, 25.

अश्वमेधावभृथे 22, 8
 अश्वमेधावभृथेन 24, 12
 अश्वमेधेन 19, 10
 अश्ववत् 13, 22
 अष्टका 8, 16.
 अष्टका 16, 38
 अष्टम 10, 23
 अष्टमे 1, 7
 अष्टापाद्य 12, 12
 अष्टाभि 26, 10
 अष्टौ 8, 22 23 25, 14
 असकर 8, 3
 असनिधौ 2, 47
 असभवे 28, 51
 असविज्ञातोपसगमनात् 4, 13
 अससृष्टिविभाग 28, 28
 असापिण्डाना 14, 42
 असापिण्डे 14, 19
 असमवेता 13, 6
 असमानग्राम 5, 41
 असमानप्रवरै 4, 2
 असमानायां 4, 27
 आसिद्धि 21, 5
 असोमपात् 18, 31

अस्यन्वता 22, 22 24
 अस्थि 1, 33 24, 8
 अस्पृहा 8, 21
 अस्मदर्थ 28, 18
 अस्वतन्त्रा 18, 1
 अस्वम् 23, 20
 अस्वयकृते 10, 5
 अस्वर्ग्य 21, 20
 अस्वामिक 10, 35
 अह 16, 24 31 23, 21 25,
 13
 अहत्वा 22, 10
 अहनि 6, 14 9, 36 26, 6
 अहमयमिति 6, 5
 अहिंस्र 9, 70
 अहीनकर्मभ्य 18, 33
 अहुतात् 2, 2
 अहोरात्र 16, 34
 अहोरात्र 19, 18
 आ
 आकालिक 16, 48
 आकालिका 16, 22
 आकाशाय 5, 17
 आक्रोश 23, 28

| | |
|--|-------------------------------------|
| आख्याय 2, 35 | आज्याहुतय 26, 14 |
| आग्रयण 8, 17 | आज्योतिष 2, 17 |
| आग्रहायणी 8, 16 | आत्तवीर्याणि 9, 58 |
| आचक्षते 9, 62 28, 50 | आत्मगुणा. 8, 20 22 23 |
| आचक्षाण 12, 40 22, 3 23, 18 | आत्मन 24, 8 |
| आचक्षीत 9, 24 18, 34 | आत्मवन्त 9, 62 |
| आचमन 17, 17 | आत्मान 4, 33 9, 35 21, 13 27, 18 |
| आचमनकल्प 2, 5 | आत्मोपजाविन 10, 31 |
| आचमनार्थे 10, 52 | आत्ययिके 13, 30 |
| आचामेत् 1, 30 38 9, 11 25, 13 | आत्रेय्या 22, 11 |
| आचार 9, 67 | आददति 7, 25 12, 25 26, 19 |
| आचार्य 2, 24 44 5, 27 28 10, 4 14, 27 | आदध्यात् 25, 14 |
| आचार्य 1, 11 2, 57 | आदानात् 4, 12 |
| आचार्यपरिवेषणे 16, 15 | आदाने 1, 61 |
| आचार्या 3, 36 4, 23 | आदित 1, 61 |
| आचार्यार्गनत्व 3, 5 | आदित्य 9, 13 |
| आचार्याय 20, 13 | आदित्य 2, 18 23, 22 |
| आचार्यार्पदेश 11, 33 | आदित्य 25, 13 |
| आचार्या 11, 34 | आदित्याय 26, 12 |
| आच्छाद्य 4, 6 | आदित्योपस्थान 26, 13 |
| आज्य 20, 12 24, 11 | आदिमध्यान्तेषु 2, 43 |
| आज्यहोम. 22, 20 27, 5 | आद्यन्तयो 1, 59. |
| | आद्रियेत 11, 17 |

आधय 12, 39

आधाय 3, 27 23, 11 25, 5

आनति 4, 11

आनीय 20, 4

आनुपूर्व्यात् 4, 18

आन्त 3, 5.

आन्वीक्षिक्या 11, 3

आपतेत् 14, 6

आपत्कल्प 7, 1 9, 67

आपो हिष्ठा 26, 10

आप्त्वा 27, 17 18

आप्नोति 27, 19 28, 54

आप्यायस्व 27, 5

आप्रदानात् 14, 37

आभ्युदायिकानि 11, 19.

आमणिबन्धात् 1, 38

आमन्त्रेयत् 1, 52

आमेन 7, 21

आम्नाय 1, 51

आम्नायै 11, 22

आयत्त 8, 2

आयन्ति 19, 8

आयु 11, 31

आयुध 10, 17

आयोगव 4, 17

आरभेत 1, 37

आरात् 9, 44

आरोग्याणा 5, 42

आर्त 5, 25 16, 7

आर्तवी 14, 24

आर्तसयोगेषु 23, 30

आर्द्रवस्त्रता 19, 16

आर्धरात्रात् 16, 30

आर्य 10, 66

आर्य 10, 60

आर्य. 6, 11

आर्यजनभूयिष्ठ 9, 65

आर्यवृत्त 9, 68

आर्यस्त्रयभिगमने 12, 2

आर्यस्य 22, 4

आर्षात् 4, 30

आर्षे 4, 8

आलम्भने 2, 22

आवपन 1, 34

आवपेत् 24, 3

आवर्जितेन 9, 12

आवर्तयन् 24, 14

आवर्तयेत् 24, 13.

आवसथात् 9, 44
 आवसितु 9, 65
 आविक 17, 22
 आवृत्ति 21, 15
 आव्यवहारप्रापणात् 10, 45
 आशोच 14, 1 22 28
 आशौचेषु 16, 18.
 आश्रमधर्म 19, 1
 आश्रमाविकल्प 3, 1
 आश्रमा 11, 31
 आश्रमान् 11, 9
 आश्रमिण 28, 50
 आश्रयीत 10, 60
 आदिल येत् 23, 10
 आश्वयुजी 8, 16.
 आषाढी 16, 37.
 आषोढशात् 1, 14
 आसन 2, 33 5, 39 9, 47
 12, 5 17, 3
 आसन 1, 56 9, 46
 आसनाभ्या 22, 5
 आसनोदके 5, 32
 आसन्दस्थिभोजन 9, 33
 आसिञ्च्यु 23, 1
 आसीत 2, 17 26, 6

आसीन 11, 7
 आसीन 1, 38
 आसुरः 4, 11
 आस्याविकारेण 27, 11
 आस्थे 23, 1 24, 8
 आस्ताववत् 1, 46
 आहवे 10 16
 आहुः 19, 5
 आहूताध्यायी 2, 36.

इ

इच्छता 14, 11.
 इच्छति 28, 2
 इच्छन्त्या 4, 10
 इज्या 10, 1
 इडा 27, 9
 इत 23, 32
 इतरेण 25, 2
 इतरेषु 5, 23
 इतिहास 8, 6
 इत्थ 25, 7
 इन्द्रधनु 9, 22 16, 9
 इन्द्राग्निभ्या 26, 16
 इन्द्राय 26, 12 16
 इन्द्रिय 25, 2
 इन्धनाना 10, 20

इमे 25, 6

इयात् 3, 14

इष्टा 19, 8 9 28, 18

ई

ईक्षेत 2, 18 23, 22

ईयात् 12, 40

ईशानाय 26, 12

ईश्वर 9, 63

ईष्टे 11, 1

उ.

उक्त 2, 11 3, 4 14, 23

उक्त 19, 1 24, 10. 27, 2

उक्थ्य 8, 18

उप 4, 16

उग्राय 26, 12.

उच्चारित 16, 11

उच्छिष्ट 1, 47

उच्छिष्ट 1, 30

उच्छिष्टभोजि 17, 15

उच्छिष्टाशन 2, 39

उच्छिष्टाशन 10, 59

उत्कर्ष 4, 22

उत्कृत्य 23, 11

उत्तमपुरुषाय 26, 12

उत्तमा 28, 50

उत्तर 10, 61

उत्तरा 2, 17

उत्तरेषा 3, 10 10, 56

उत्तरोत्तर 10, 65

उत्तरोत्तर 27, 12

उत्तिष्ठत् 2, 33

उत्थानव्यपेतानि 17, 17

उत्पातचिन्तका 11, 17

उत्सङ्गे 9, 56

उत्सर्ग 1, 36 22, 33

उत्सवे 16, 43

उत्सृजेत् 28, 13.

उत्सृज्य 18, 21

उत्सृष्ट 17, 15

उत्सृष्टलोमा 16, 3

उत्सृष्टाग्ने 15, 15

उदक 5, 36 7, 12 14, 11

17, 3 28, 47

उदक 2, 48 23, 2

उदकक्रिया 14, 38

उदकतर्पण 26, 11

उदकदान 5, 5 14, 32

उदकादीनि 20, 2 25

उदकानि 27, 12

उदकुम्भे 5, 16

उदकेषु 16, 12
 उदकोपस्पर्शन 19, 16 26, 10
 उदकोपस्पर्शनात् 24, 4
 उदकोपस्पर्शी 22, 5
 उदक्या 14, 29
 उदक्यागमने 23, 35.
 उदङ्मुख 1, 37 60 9, 39.
 उदर 2, 28 9, 50
 उदाहरणे 12, 4
 उद्गारे 16, 20
 उद्गार 10, 21
 उद्धृतस्नेह 9, 58
 उद्धृतोदकेन 9, 11
 उद्ध्वन्धन 14, 11
 उन्मत्तवाक्यानि 5, 25
 उन्मर्दन 2, 39
 उपकुर्वाणान् 10, 11
 उपघ्रात 17, 11
 उपजीवेत् 10, 18
 उपतिष्ठेत् 25, 5
 उपनयन 1, 7 8, 13
 उपनयनात् 2, 1
 उपनयनादि 2, 10
 उपनिषद् 19, 13
 उपनिष्क्रमण 9, 65

उपपत्ति 10, 16
 उपपातक 21, 11
 उपपातकेषु 20, 26 22, 36
 उपयच्छेत् 28, 20
 उपयमेषु 18, 19
 उपयुञ्जान 23, 26
 उपयुञ्जीत 3, 31 17, 36
 उपरि 9, 52 11, 7
 उपल 1, 32
 उपवसेत् 26, 5 27, 4
 उपवास 1, 64 19, 12
 उपविशेत् 1, 60
 उपविष्ट 10, 17
 उपवेदा 11, 21
 उपशृण्वत् 12, 4
 उपसगृह्य 1, 52
 उपसग्रहण 4, 40 6, 8
 उपसग्रहणानि 2, 39
 उपसपन्ने 14, 21
 उपसदन 1, 63.
 उपसमाधाय 25, 3
 उपस्थान 27, 6
 उपस्थाने 5, 28
 उपस्पर्शन 2, 14
 उपस्पर्शयेत् 20, 10.

उपस्पृशेत् 1, 41. 14, 28 25,
10

उपस्पृश्य 20, 7

उपहन्यात् 12, 1 14, 31

उपाकृत्य 16, 1

उपाददीत 3, 20

उपानत् 2, 19. 10, 58

उपानहौ 9, 5

उपायसपन्न 11, 4

उपासनानि 5, 39

उपासीरन् 11, 7

उपाहित 16, 34

उपेयात् 5, 1

उपोत्थाय 25, 5

उपोष्य 27, 14.

उभयतोदत् 17, 26.

उभयतोदद्युक्त 28, 5

उल्का 16, 27

उल्का 16, 22

उल्बण 9, 4

उष्ट्र 12, 20 23, 5,

उष्णा 23, 1

ऊ.

ऊर्क् 27, 9

12, 24 14, 18 15, 20

16, 43 20, 8 28, 1 26

ऊर्ध्वरेतसे 26, 12

ऊर्ध्वरेता 3, 12

ऊर्ध्ववाल 23, 18

ऊर्म्याय 26, 12

ऊहवाद्भि 28, 49

ऋ

ऋग्यजुषा 16, 21

ऋण 12, 37

ऋतु 18, 5

ऋतून् 18, 21

ऋतो 18, 22,

ऋतौ 5, 1 16, 24

ऋत्वन्तरारमणे 24, 4

ऋत्विक् 5, 28 6, 9

ऋत्विगाचार्यौ 15, 14 21, 12

ऋत्विज 11, 20

ऋत्विजे 4, 9

ऋध्यते 11, 16

ऋषभ 7, 15.

ऋषभ 28, 14

ऋषभषोडशा 28, 15

ऋषभैकशता 22, 16

ऋषभैकादशा 22, 18
 ऋषि 3, 29 5, 3
 ऋषिनिवास 19, 15
 ऋषिसबन्वा 28, 21
 ऋषिसबन्धेभ्य 18, 6

ए

एकः 19, 18
 एकवराय 26, 12
 एकजाति 10, 50
 एकदेश 8, 23
 एकपाणि 9, 12
 एकभक्ति 24, 7
 एकरात्र 20, 8
 एकविंश 27, 18
 एकवेदे 2, 52
 एकशफ 17, 26 28, 13
 एकादशद्वादशयो 1, 13
 एकादशरात्र 14, 2
 एकान्तर 4, 16
 एकापचयेन 27, 13
 एकाह 14, 20
 . एकेषा 25, 7 27, 15
 एकैक 10, 30 28, 7 10, 11
 एकैकास्मिन् 22, 24
 एकोच्चेन 27, 14,

एताभि 27, 5
 एताभ्य 26, 15
 एध 17, 3
 एध्वान् 12, 25
 एन 26, 22 27, 17
 एनस 25, 14
 एनस्वी 12, 42
 एनस्सु 19, 19
 एवंवृत्त 3, 9
 एवम चार 9, 71

ऐ

ऐकरात्रिक 5, 41
 ऐरुशफ 17, 22
 ऐकाश्रम्य 3, 36

ओ

ओ 27, 9
 ओकार 1, 62
 ओपूर्वा 1, 57
 ओज 27, 9
 ओषवि 3, 20

औ

औरस 28, 33
 औरसाद्यभावे 28, 35
 औषध 7, 12 10, 26
 औषधार्थ 5, 22

औष्ट्र 17, 22

क

कङ्क 17, 27

कच्छप 17, 25

कण 27, 12

कण्ठप्रावृत्त 2, 20

कतिधा 25, 1

कदर्य 17, 15

कन्या 18, 19

कन्या 9, 32

कन्यावते 4, 8

कपार्दने 26 12

कपाल 9, 16

कपाल 9, 21

कपालपाणि 22, 3

करण 4, 21

करीष 9, 45

करोमि 20, 4

कर्णश्राविणि 16, 6

कर्म 2, 35 3, 17 6, 20 10,

30 12, 40 19, 6. 22, 3

23, 18 25, 7

कर्मकर 20, 4

कर्मण 10, 66

कर्मणि 25, 10

कर्मण्य 26, 20

कर्मफल 11, 31

कर्मवियोग 12, 44

कर्मशेषेण 3, 6

कर्मसयता 18, 3

कर्मसु 8, 9.

कर्माणि 11, 15

कर्षक 11, 23

कर्षकै 10, 23

काह्मचित् 21, 15

कलविङ्क 17, 26

कलभर 6, 16

काक 17, 27 22, 21

काण 28, 6

कानीन 28, 34

काम 2, 19

काम 9, 55 28, 31.

कामचारवादभक्ष 2, 1

कामरूपिणे 26, 12

कामाभिद्रुग्धोस्मि 25, 4

कामाय 26, 12

कामावकीर्णाऽस्मि 25, 4

कामेभ्य 9, 48

काम्येषु 9, 45
 कायिका 12, 32
 कारयितु 17, 6
 कारव 11, 23
 कारिता 12, 32
 कार्तिकी 16, 37
 कार्पास 1, 20
 कार्य 28, 49
 कार्यनिरोधात् 14, 43
 कालनियम 15, 5
 काला 19, 18
 काषाय 1, 21.
 कितव 15, 17
 किलासि ,,
 किसलय 17, 30
 कीटावपन्न 17, 9
 कुकुट 17, 27
 कुचर 15, 15.
 कुण्डाशि 15, 17
 कुतपा 1, 19
 कुट्टाग्रप्रवेश 9, 33
 कुनखि 15, 17
 कुमार 5, 26
 कुमारी 7, 14 18, 21
 कुरुते 26, 21.

कुर्यात् 9, 39 15, 12
 कुर्यु 20, 2
 कुर्वन्ति 1, 47
 कुलकुल 9, 53
 कुल 11, 31
 कुलगर्मा 11, 22
 कुलसगत 17, 6
 कुश 9, 65
 कुशल 5, 42
 कुसीदि 10, 6 48 12, 33
 कुसीदवृद्धि 12, 26
 कुसीदि 11, 23 15, 17
 कृच्छ्र 19, 20
 कृच्छ्र 23, 2
 कृच्छ्रातिकृच्छ्र 26, 19
 कृच्छ्रान् 26, 1 23
 कृच्छ्राब्द 23, 33
 कृच्छ्रे 27, 2
 कृतजटस्य 14, 52
 कृताञ्जलि 10, 17
 कृतान्न 7, 9
 कृतान्न 5, 23
 कृतान्नयो 7, 19
 कृतान्नेषु 28, 47
 कृत्तिवाससे 26, 12

कृत्रिम 28, 33

कृत्वा 23, 22

कृषि 10, 5 48

कृष्ट 9, 45

कृष्ण 1, 18

कृष्णशकुनि 17, 10

कृष्णाय 26, 12

कूट 28, 6

कूटसार्क्ष 15, 15

कूर्चादीनि 10, 58.

कूर्शमाण्डानि 19, 13

कूर्शमाण्डै 20, 12 22, 38 24,
11

केवल 17, 12

केश 9, 16 17, 9

केशी 17, 26

कोशात् 10, 47

कौटमाक्ष्यं 21, 10

कौपीनाच्छादनार्थ 3, 18

क्याकु 17, 30

क्रमेण 1, 17

क्रय 10, 38

क्रयान् 6, 19

क्रियेरन् 19, 19

कुद्ध 5, 25

क्रोध 2, 19

क्लीब 15, 15

क्लीबौ 28, 44

क्षत्त 4, 17

क्षत्र 11, 16

क्षत्रवृत्ति 7, 6

क्षत्रिय 1, 13 4, 19 12, 11

क्षत्रिय 10, 18 12, 6

क्षत्रियस्य 5, 44 10, 40 14,
2

क्षत्रिया 4, 19

क्षत्रियात् 28, 39

क्षत्रिये 12, 8

क्षत्रेण 11, 29

क्षपण 18, 15

क्षान्ति 8, 21

क्षिप्रकाम 26, 6

क्षीण 10, 60

क्षीयते 19, 6.

क्षीर 7, 11. 17, 20

क्षुत्वा 1, 43

क्षुद्रपश्वनृते 13, 15

क्षेत्रकर्षक 17, 6

क्षेत्रशद 12, 33

क्षेत्रिकयो 12, 15

क्षेत्रे 12, 18 18, 11

क्षौम 1, 19 7, 9

ख

खट्वाङ्ग 22, 3

खड्ग 17, 25

खराणा 23, 5

खरे 12, 20

खादयेत् 23, 14.

खानि 1, 41

खोर 28, 6

ग

गण 17, 15

गणप्रेष्य 15, 17

गच्छन्त 2, 34

गच्छेत् 9 52 54

गन्ध 1, 48 2, 19 7, 9

गन्धाघ्राणे 23, 7

गमयेत् 10, 46 11, 26. 27.

22, 34.

गरद 15, 17

गरीय 6, 22 13, 31

गर्त 16, 7

गर्दभ 16, 8

गर्दभेन 23, 17

गर्भमाससमा 14, 16

गर्भस्य 14, 16

गर्भादिमख्या 1, 9

गर्भावान 8, 13

गर्भिणी 5, 26

गर्भे 22, 12

गवा 17, 11

गवि 12, 19 23, 12

गा 9, 24 20, 13 22, 20

गा 9, 13 22, 14 16 18

गान्धर्व 4, 10

गार्हस्थस्य 3, 36.

गीत 2, 19.

गीतशीलान् 15, 17

गुण 15, 6

गुणवत्सहाय 11, 4

गुणवन्त 15, 21

गुणसपन्नः 28, 36

गुप्ता 22, 37

गुरवे 2, 46

गुरु 2, 44 9, 64 10, 4

17, 4

गुरु 1, 52

गुरु 2, 55 7, 3 5

गुरुतत्पग 21, 1

गुरुतत्पग 23, 9

गुरुतत्पेषु 24, 12

गुरुदर्शने 2, 20 33

गुरुप्रसूता 18, 5

गुरुभार्याणा 2, 40

गुरुषु 19, 19

गुरूणा 2, 57

गुरूणि 19, 19

गुरो 1, 58 2, 29 3, 6 21,

10 23, 32

गुर्वभावे 3, 7

गुर्वर्थ 5, 22

गुर्वर्थेषु 23, 31

गूढात्पन्न 28, 33

गृध्र 17, 27

गृहदेवताभ्य 5, 14

गृहस्थ 3, 2. 3

गृहस्थधर्मान् 9, 1

गृहान 23, 18

गृह्णामि 20, 11

गृह्याणि 5, 8

गो 10, 17 13, 16

गोऽग्नयर्थे 12, 25

गोत्रभाज 28, 34

गोदानादि 2, 15

गोवा 17, 25

गोपायेत् 9, 35

गोप्ता 12, 3

गोब्राह्मणहताना 11, 9

गोमिथुन 4, 8

गोवत् 13, 21

गोवर्ज 22, 38

गोवृष 28, 5

गोष्ठ 19, 15

गोहन्त 21, 11

गौ 19, 17

ग्रहणान्त 2, 54

ग्राम 3, 14 33 20, 7 22, 3

ग्रामान्त 16, 18

ग्रामे 3, 21

ग्राम्य 17, 27

ग्राम्यकुक्कुट 23, 6

ग्रामप्रमाण 27, 11

ग्रामान् 27, 13

ग्रामानुमन्त्रण 27, 9

घ.

घातयेत् 23, 15

घृत 27, 12
 घृतं 19, 17 23, 2
 घृतघटः 22, 26
 घृतप्राशन 1, 65 19, 14 23,
 7 27
 घृतहोम 22, 38
 घृतेन 24, 6
 घ्नन् 2, 51

च

चक्रकालः 12, 31,
 चक्रवाक 17, 26
 चक्रि 6, 25
 चक्षु 3, 17 9, 50 18, 3
 चक्षुर्मना 1, 53
 चण्डाल 14, 29 15, 24
 चण्डाला 4, 17
 चण्डालान् 4, 18
 चतुरन् 24, 2
 चतुर्णां 28, 50
 चतुर्थ 10, 37
 चतुर्थ 10, 49
 चतुर्थ्याशिन 28, 35
 चतुर्मुहूर्त 16, 45
 चतुर्विंशत्यह 19, 18
 चतुर्विंशस्य 8, 2.

चतुष्पथादीन् 9, 66
 चतुष्पथे 23, 17
 चतुष्पदा 28, 7.
 चत्वार 4, 14 19, 18 28, 50
 चतुर्विंशत् 8, 19 22
 चत्वारिंशता 8, 8
 चन्द्रमस 27, 6 19
 चन्द्रललाटाय 26, 12
 चरित्वा 26, 20 21 22 23
 चरु 27, 12
 चरु 26, 15
 चरेत् 2, 52 23, 18
 चर्मणा 1, 35
 चर्यता 4, 7
 चर्या 10, 14
 चलते 11, 10
 चलन 8, 2
 चलनाया 22, 28
 चातुर्मास्यानि 8, 17
 चान्द्रायण 19, 20 27, 1
 चान्द्रायण 27, 16
 चापलानि 9, 50
 चारण 6, 17
 चारित्र 4, 6
 चिकित्सक 17, 15.

चित् 16, 31
 चिरस्थाने 12, 28
 चीर 1, 19 3, 34.
 चेलपिण्डात् 12, 24
 चेलवत् 1, 35
 चैत्री 8, 16
 चोरसम 12, 46
 चोरहत 10, 46
 चौल 8, 13
 च्यवते 9, 71
 च्युत 1, 45
 च्युतेषु 1, 46

छ

छत्र 2, 19 10, 58
 छन्दासि 16, 1
 छर्दन 23, 27
 छर्दि 16, 34
 छाया 9, 45
 छेदन 9, 51

ज

जघन्य 3 15
 जघन्यसवेशी 2, 27
 जघन्यान् 5, 26
 जटिल 1, 29

जड 28, 44
 जडस्य 28, 45
 जतुभ्या 12, 4
 जनने 14, 13
 जनयितु 18, 9
 जन्म 1, 10 11, 31
 जन्ये 22, 2
 जप 19, 12
 जपन् 20, 8 23, 21
 जपेत् 3, 6 20, 11 24, 2 12
 जलक्लिन्नवासा 24, 7
 जलजा 17, 27
 जात 6, 14
 जातकर्म 8, 13
 जाता 4, 16
 जाति 6, 20 11, 22 31
 जान्वन्तरा 1, 38
 जालिपादा 17, 33
 जितेन्द्रिय 3, 9 11, 4
 जिह्वाच्छेद 12, 4
 जिह्वाभिमर्शनात् 1, 44,
 जीर्ण 9, 3
 जीर्णानि 10, 58
 जील 22, 28

जीवति 28, 2

जीवन 8, 2 13, 24 25

जेता 10, 19

जुहुयात् 20, 12 24, 11 25,
7 26, 15

जुहोति 25, 3

जुहोमि 24, 8

ज्ञसमवाये 6, 5.

ज्ञात 26, 23

ज्ञाति 2, 44 10, 4

ज्ञानपूर्व 20, 9

ज्ञानाभिनिवेशाभ्य 28, 54

ज्या 15, 17

ज्यामौवा 1, 17

ज्यायसि 18 19

ज्येष्ठ 28, 36

ज्येष्ठसामग 15, 28

ज्येष्ठसाम्ना 19, 13

ज्येष्ठस्य 28, 5 14 28

ज्येष्ठाशहीन 28, 37

ज्येष्ठाय 26, 12

ज्येष्ठिनेयस्य 28, 15

ज्येष्ठिनेयेन 28, 16

ज्योतिषो 16, 16

ज्वलन्ती 23, 10

ट

टिट्ठि 17, 32

त

तक्ष 17, 15

तक्षण 1, 31

तत्पुत्र 14, 27

तत्पुत्रस्त्री 2, 24

तत्पुत्रीषि 15, 22

तत्प्रसूत 11, 15

तत्सशयात् 28, 20

तत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने 14, 29

तत्स्त्रीणा 14, 33

तदधीन 11, 18 13, 24

तदपत्ये 3, 7

तदपेक्ष 8, 7

तदभावे 3, 8 15, 14

तदर्थ 10, 62

तदर्थ 12, 9.

तदलाभे 7, 6 7.

तदह 15, 23

तदुपस्पर्शनात् 2, 7

तद्गुह्या 6, 3

तद्वन्धूना ,,

तद्भार्यापुत्र 2, 47

तद्भार्यापुत्रेषु 2, 38

| | |
|-----------------------------|-----------------------------|
| तद्रक्षणधर्मित्वात् 10, 27 | तल्पसम 23, 12 |
| तद्वर्णसकर 7, 24 | तान्त 24, 12 |
| तद्विदा 1, 2 | तान्तवाना 1, 31 |
| तद्वृत्ति 15, 15 | तापसाय 26, 12 |
| तद्वृत्ति 8, 7 | ताल 15, 17 |
| तद्वृत्त्या 10, 18 | तावप् 26, 19. |
| ततद्रू 24, 12 | तावान् 21, 17 |
| तनुभ्यां 2, 50 | तिर्यग्वातसेवाया 2, 33 |
| तन्त्र 18, 36 | तिल 7, 9 |
| तन्त्रपीडाया 13, 12. 18, 36 | तिला 19, 17. |
| तन्निमित्ते 22, 6 | तिलाना 7, 20 |
| तन्मन्त्रकृत् 21, 11 | तिलै 15, 26 |
| तन्मूलत्वात् 6, 23 | तिष्ठन् 9, 10 43 |
| तप 19, 12 23, 28. 27, 9 | तिष्ठेत् 2, 17 20, 8 23, 21 |
| तपश्शील 3, 26 | 26, 6 |
| तपस्विन 11, 14 | तिष्ठमि 26, 10 |
| तपासि 19, 16 | तिष्ठ 16, 38 |
| तप्तानि 23, 2 | तीक्ष्णरूपिणे 26, 12 |
| तप्ते 23, 9 | तीक्ष्णाय ,, |
| तरति 19, 10 | तीर्थानि 19, 15 |
| तरत्समन्दी 24, 2 | तुल्यबलविरोधे I, 6. |
| तरत्समन्दीभि. 20, 11 | तुल्यभाक् 28, 36 |
| तर्क 11, 25 | तुष 9, 16 |
| तर्पण 27, 5 | तृण 5, 36. 7, 12 10, 26 |

तृतीय 14, 38
 तृतीय 24, 6 26, 22
 तृतीय 26, 19
 तृथ्यन् 2, 48
 तेज 27, 9
 तेभ्य 10, 33
 तेषु 9, 49
 तैजस 1, 31
 तैजसवत् 1, 32.
 त्यक्तात्म 15, 17
 त्यजेत् 20, 1
 त्याग 14, 39
 त्रपु 12, 4
 त्रय 1, 55 19, 18 28, 50
 त्रयया 11, 3
 त्रि 22, 1
 त्रिणाचिकेत 15, 28
 त्रिपूरुष 4, 30
 त्रिभागादिप्रवृत्तौ 16, 26
 त्रिभि 6, 17
 त्रिभ्य 15, 20
 त्रिमधु 15, 28
 त्रिरात्र 16, 38 20, 9
 त्रिरात्र 23, 35
 त्रिरात्रपरम 23, 28

त्रिरात्रावर 23, 24
 त्रिसुपर्ण 15 28
 त्रीणि 21, 7 22, 32
 त्रीन् 18, 21
 त्रैविद्यवृद्धेभ्य 11, 27
 त्रैवार्षिक 22, 15
 त्रयम्बकाय 26, 12
 त्रयवर 22, 7
 त्रयह 1, 64 14, 17 26 26, 3
 4 5
 त्रयह 19, 18
 त्वच 24, 8

द

दक्षिण 1, 38
 दाक्षिणत 1, 60
 दक्षिणा 25, 8
 दक्षिणाप्रतीची 23, 11
 दक्षिणाभिमुख 9, 41
 दक्षिणामुख 20, 4
 दक्षिणायन 16, 2
 दण्ड 11, 30 33
 दण्डनियोग 12, 48
 दण्डभूयस्त्व 12, 14
 दण्डा 12, 38
 दण्डो 1, 24

दण्ड्य 12, 5 13, 23
 दत्त 28, 33
 ददातिषु 5, 20
 दद्यत् 4, 6 8 15, 25 20,
 13 28, 31
 दद्यु 15, 13 20, 11
 दधि 17, 3 27, 12
 दन्तजन्मादि 14, 41
 दन्तधावन 2, 19
 दन्तधावन 9, 46
 दन्तवत् 1, 44
 दन्तश्लिष्टेषु ,,
 दमदानशालि 9, 70.
 दमनात् 11, 30
 दमयेत् 11, 30.
 दम्भ 9, 62
 दया 8, 21
 दभै 1, 54
 दर्शनात् 2, 17
 दर्शनाय 9, 55
 दर्शपूर्णमासौ 8, 17
 दशगुणोत्तरान् 13, 16
 दशत 28, 12
 दशपूर्वान् 27, 18

दशमस्थि 13, 25
 दशम्या 14, 18
 दशगत्र 14, 1 22 24, 6
 दशवर्षभुक्त 12, 34
 दशवर्षवृद्ध 6, 15
 दशापरान् 27, 18
 दशावरान् 28, 50
 दशावरै 28, 49
 दष्टस्य 23, 8
 दहर 22, 21
 दाण्डिक 17, 15
 दान 4, 9 6, 25 10, 1 15,
 10 19, 12
 दाय 21, 16
 दायानि 5, 7
 दारव 1, 31
 दारुवत् 1, 33
 दास 20, 4
 दासीघटात् 20, 4
 दिग्देवताभ्य 5, 12
 दित्सत. 12, 30
 दिधिषूपति 15, 15
 दिवा 9, 39 16, 5
 दिवाकीर्त्य 16, 19

दिवास्वप्न 2, 19
 दीक्षित 14, 1
 दीक्षित 6, 19
 दीक्षितनामानि 2, 24
 दीप्तरूपिणे 26, 12
 दीप्ताय ,,
 दुरितेभ्य 9, 71
 दुर्बलहिंसाया 21, 19
 दुर्बाल 15, 17
 दुर्बालात् 17, 16 21, 11
 दुर्बालादीन् 15, 30
 दुष्ट 15, 24
 दुहितृणा 28, 25
 दूत 10, 17
 दृढकारी 9, 70
 दृष्ट 1, 3
 दृष्टार्थे 1, 5
 दृष्ट्वा 23, 22
 देय 10, 34
 देयानि 19, 17
 देव 3, 29 5, 3 9 8, 15 9,
 64 11, 29, 13, 14
 17, 4
 देवकृतस्य 25, 14 27, 8
 देवता 9, 13

देवता 9, 14
 देवताभ्य 26, 15
 देवरचत्वा 28, 24
 देवरात् 13, 4
 देवायतन 9, 66
 देवेभ्य 26, 16
 देश 11, 22 15, 4
 देशा 19, 15
 देशान्तरित 14, 42
 देशे 1, 38
 दैव 4, 9
 दैवात् 4, 31
 दैवै 26, 23
 दोष 10, 16 13, 12 24 18,
 36 21, 17
 दोषवति 25, 10
 दोषिण 13, 7
 दोषी 18, 23
 दौर्ब्यन्त 4, 16
 द्यूत 12, 38
 द्यूत 2, 23
 द्यौ 20, 11
 द्रव्य 15, 4
 द्रव्यलाभे 22, 33
 द्रव्यशुद्धि 1, 31

द्रव्यमाविभाग 5, 22
 द्रव्यहस्त 1, 30
 द्रव्यादान 18, 25
 द्रव्यापचये 22, 7
 द्वादश 18, 18 22, 3
 द्वादशरात्रं 14, 3
 द्वादशरात्र 23, 34
 द्वादशरात्रस्य 26, 15
 द्वादशवर्षाणि 2, 52
 द्वादशाह 19, 18
 द्वाधु 5, 13
 द्वाविंशते 1, 15
 द्वि 21, 18
 द्विगुण 5, 21
 द्विगुणोत्तराणि 12, 13
 द्विजातिकर्मभ्य 21, 4
 द्विजातीन् 12, 1
 द्विजातीना 10, 1 17, 1
 द्वितीय 1, 10 24, 6 26, 21
 27, 18
 द्वितीया 3, 21
 द्विपदाना 28, 13
 द्विषद्विद्युक्तानि 11, 19
 द्वैगुण्य 12, 28.

द्वौ 8, 1 19, 18

द्वयशी 28, 9

द्वयधिकाया 1 16

द्वयन्तरासु 4, 16

द्वयह 16, 36

ध

धन 10, 4

धनरूप 28, 11

धनलाभवधेषु 22, 30

धनुर्भ्या 10, 14

धन्वन्तरि 5, 11

धयन्ती 9, 24

धर्मे 9, 48. 13, 12

धर्म 8, 3 27, 9 28, 55

धर्मज्ञ 15, 28

धर्मतन्त्रसंगे 18, 26

धर्ममूल 1, 1.

धर्मवित् 28, 54

धर्मवृद्धि 28, 4

धर्मव्यतिक्रम 1, 3

धर्मव्यवस्था 11, 24

धर्मशास्त्राणि 11, 21

धर्मस्य 6, 23 11, 11

धमहीन 4, 25

धर्मिणा 28, 54
 धर्मे 18, 1
 धर्मोत्तर 9, 49
 धर्म्या 12, 26
 धर्म्या 4, 14
 धर्मेषु 5, 20
 धाना 17, 3
 धान्य 13, 21
 धान्यायसी 28, 7
 धारणे 12, 4
 धारयति 11, 29
 धारयेत् 9, 8
 धार्मिकाधिष्ठित 9, 65
 धार्मिकेभ्यः 9, 64
 धीवर 4, 19
 धून्वते 26, 12
 धृतव्रता 8, 1
 धेनु 7, 15 13, 29 17, 28
 धेनुभव्या 9, 20.
 ध्यायेत् 9, 18
 ध्रुवशील 3, 13
 न
 नकुल 1, 64 22, 21
 नक्त 16, 6 25 30 26, 3
 नक्तवरा 17, 32

नक्तचरेभ्यः 5, 18
 नखानि 24, 8
 नगरे 16, 46
 नमः 9, 60
 नदीबाहुतरण 9, 33
 नम 26, 12
 नमस्कार 10, 63
 नमस्कारान् 9, 47
 नमस्स्वाहा 27, 10
 नयाति 15, 22
 नरक 21, 6
 नरक 13, 8 18
 नर्मे 23, 30
 नवमे 1, 8
 नवमेषु 14, 38,
 नवावरान् 15, 7
 नवोनव 27, 5
 नश्यन्ति 11, 32
 नष्टा 12, 39
 नष्टे 18, 15
 नाम 6, 12
 नामकरण 8, 13
 नामगोत्र 2, 29
 नामग्राह 20, 4
 नारी 9, 29

| | |
|--|-------------------------|
| नाव १, 34 | निराकृति 15, 17 22, 36 |
| नासाग्रप्रमाणा 1, 28 | निरुत्साहान् 10, 10 |
| नारतिक 15, 15 21, 1 | निरुद्धपशुबन्ध 8, 17 |
| निरृति 23, 17 | निर्घात 16, 22 |
| निकेतन 9, 65 | निर्णक्त 9, 6 |
| निगिरन् 1, 46 | निर्णिज्य 3, 19 |
| निघाते 21, 21 | निर्णेजनानि 1, 31 |
| निचय 10, 62 | निर्दिशेत् 2, 29 |
| निचुदाह 17, 32 | निर्यासा 17, 30 |
| नित्य 2, 26 5, 34. 7, 14, 9, 2 70 12, 24 16, 46 17, 8 22 26, 9 | निर्विष्ट 10, 41 |
| नित्ययुक्त 10, 28 | निवृत्ताशी. 3, 16 |
| नित्यस्व ध्याय 5, 4 | निवृत्ति 18, 17 |
| निधाय 1, 30 | निवृत्ते 28, 2 |
| निधि 12, 39 | निवेद्य 2, 46 5, 27 |
| नित्यविगम 10, 42 | निवेश 5, 22 |
| निन्दितकर्माभ्यासि 21, 1 | निशा 16, 12 |
| निपतन्ति 1, 47 | निशाया 16, 45 |
| निबन्ध 13, 10 | निशि 25, 3 |
| निमन्त्रय 2, 55 | निश्श्रेयस 11, 28 |
| निमय 7, 16 | निषाद् 4, 16 |
| नियम 2, 10 10, 3 16, 4 24, 10 | निष्क्रयणानि 19, 12 |
| नियुञ्ज्यात् 2, 8 | निष्ठा 11, 27 |
| | निष्ठीवित 2, 21 |
| | निष्पुगीषीभाव 23, 23 |
| | निष्प्रीत्यभितापा 13, 3 |

निहीनवर्णगमने 23, 14

निहीनवर्णसेवाया 21, 9

नीलग्रीवाय 26, 12

नीहारेषु 16, 9

नृत्त 2, 19 15, 17

नौचक्रीवन्त 10, 32

न्यायत 11, 9

न्यायवृत्त 11, 14

न्यायाधिगमे 11, 25

न्याययदण्डत्व 10, 8

प

पञ्चस्य 7, 21

पक्षिणी 14, 18

पाङ्क्तु 27, 18

पाङ्क्तिपावन 15, 27

पाङ्क्तिपावना 15, 28

पञ्च 1, 57 16, 2 25, 12

पञ्चकृष्णल 12, 15.

पञ्चदश 27, 13.

पञ्चदशमात्रा 1, 55

पञ्चनखा 17, 25

पञ्चनखेभ्य 23, 27

पञ्चभि 6, 16

पञ्चम 14, 38

पञ्चमात् 4, 5

पञ्चमाषिकी 12, 26

पञ्चमीभ्रृति 15, 2

पञ्चमे 1, 5 14, 12

पञ्चमेन 4, 23

पञ्चान्नि 15, 28

पञ्चाशत् 12, 8

पञ्चाशद्भाग 10, 24

पण्य 10, 34

पण्ये 10, 25

पतति 21, 8 9 13

पतन 8, 2

पतन 21, 4

पतनीयमेवाया 21, 12

पतित 14, 29 15, 15

पतितवर्ज 2, 42

पतितवृत्ति. 4, 27

पतितसावित्रीकेषु 21, 11

पतिता 21, 1

पतितात्यागि ,,

पतितावेक्षणे 15, 24

पथ 6, 25 22, 4

पथि 9, 45 12, 18

पथिषु 12, 5

पदा 20, 4

पदोपहत 17, 10

पय 17, 3 23, 2. 27,
 12
 पयोव्रत 24, 6
 पयोव्रतता 19, 14
 परत 23, 32
 परत्र 21, 5
 परदरे 22, 31
 परबलीयामि 6, 21
 परस्मात् 18, 12.
 परस्मै 9, 24
 परस्य 6, 4
 पराङ्मुख 10, 17
 परिग्रह 10, 38.
 परिचरये 10, 65.
 परिचर्या 10, 56
 परिचारका 17, 6
 परिमार्जन 1, 31
 परिमृज्यात् 1, 39
 परिधाय 23, 18
 परिवाद 2, 19
 परिवित्ति 15, 17
 परिवित् ॥
 परिश्रिते 15, 25.
 परिषत् 28, 50.
 परिष्कन्दा. 19, 15

परिहरेत् 2, 45
 परिहार्य 8, 12
 परै 12, 34
 पर्ण 9, 15
 पर्यटेत् 9, 36
 पर्याधात् 15, 17
 पर्याहित ॥
 पर्युषित 17, 14
 पलालभार 22, 25
 पवित्रवतीभि 26, 10.
 पवित्रै 25, 11
 पशव 7, 13
 पशु 10, 24 12, 36
 पशुपत्तये 26, 12
 पशुपाल 11, 23 17, 6
 पशुपीडिते 12, 16
 पशुबत् 13, 20
 पशूना 7, 18 28, 12
 पशूपज 12, 33
 पासुहरे 16, 5
 पासून् 21, 22
 पाकयज्ञसस्था 8, 16.
 पाकयज्ञै 10, 64.
 पाणि 9, 50 10, 52
 पाणिना 1, 52

पाणी 1, 38
 पातकसंयोजका 21, 2
 पातकसमानि 21, 10
 पात्र 20, 3 10 11
 पाद 9, 50 10, 52
 पादपादधावन 9, 33
 पादप्रक्षालन 2, 39
 पादप्रसारणानि 2, 20
 पादके 9, 46
 पादोपसंग्रहण 1, 58 6, 1
 पादौ 1, 40 9, 14
 पाद्य 5, 33
 पाने 23, 2
 पाप 26, 21
 पापिष्ठ 4, 28
 पापीयस 13, 25
 पार्पीयसावलेखन 9, 33
 पाप्मान 19, 10
 पारगा 8, 50
 पारदाय 26, 12.
 पारायिष्णवे ,,
 पारशव 4, 21
 पारशवा 4, 16
 पाराय 26 12
 पार्वण, 8, 16.

पाल 12, 18
 पालयते 11, 33
 पालाशं 9, 46
 पालाशौ 1, 24
 पावकवर्णाय 26, 12
 पावकाय ,,
 पावनानि 19, 13
 पावमानीभि 20, 11
 पावमान्य 19, 13
 पाशुपाल्य 10, 48
 पिङ्गलाय 26, 12
 पिण्ड 18, 6 28, 21
 पिण्ड 22, 37
 पिण्डानिवृत्ति 14, 12
 पिण्याक 9, 58
 पितर 20, 1
 पिता 28, 18
 पितु 28, 1.
 पितृ 3, 29 5, 3 9 27 6, 3
 8, 15 11, 29 17, 4
 पितृबन्धुभ्य 4, 3
 पितृभ्य 5, 5 15, 1
 पितृवत् 15, 11 28, 3
 पितृव्य 5, 28 6, 9
 पितृव्यभार्या 6, 7

| | |
|-----------------------|--------------------------|
| पितृन् 15, 22 | पुनातु 25, 13 |
| पित्रा 15, 18 | पुनीते 24, 13 |
| पित्रय 28, 30 | पुमांस 23, 15 |
| पित्रयान् 18, 21 | पुराण 11, 21 |
| पिबेत् 9, 9 | पुराणकुशल 8, 6 |
| पीडाकृते 13, 10 | पुरीष 1, 50 9, 13 23, 4 |
| पुश्वती 17, 15 | पुरीषापकर्षण 9, 15 |
| पुंसवन 8, 13 | पुरुष 7, 14 13, 16 |
| पुण्यकृत 9, 18 | पुरुष 19, 2 27, 9 |
| पुण्यतमात् 20, 10 | पुरुषगति 19, 13. |
| पुण्या 19, 15 | पुरुषशक्ति 12, 48 |
| पुण्याह 11, 19 | पुरुषसूक्त 19, 13 |
| पुत्रा 4, 29 28, 1 33 | पुरोदधीत् 11, 12 |
| पुत्रान् 4, 18 12, 38 | पुल्कसान् 4, 19 |
| पुत्राभावे 15, 13 | पुष्प 7, 12 10, 26 |
| पुत्रिका 28, 19 | पुष्पाणि 12, 25 |
| पुत्रिका 28, 18 | पूजकः 3, 29 5, 3 |
| पुत्रिकापुत्र 28, 34 | पूजा 5, 38 |
| पुन 1, 43. 5, 29 | पूजात् 17, 18 |
| पुनान्ति 4, 29 | पूत 12, 41 26, 20 |
| पुनर्वसवे 26, 12 | पूतिगन्ध 16, 19 |
| पुनस्तेमेन 19, 8 | पूरयित्वा 20, 4 10 |
| पुनस्सवन „ | पूरुषान् 23, 32 |
| पुनस्सिद्धं 17, 13 | पूर्व 1, 49 5, 26 14, 28 |

पूर्व 14, 28
 पूर्व पूर्व 7, 5 28, 11
 पूर्वजस्य 28, 3 9
 पूर्वजाना 6, 3
 पूर्वपक्ष 27, 14
 पूर्वयो. 14, 25
 पूर्वा 4, 33
 पूर्वा2, 17
 पूर्वापरान् 9, 71
 पूर्वाह्ण 9, 48
 पूर्वै 23, 8
 पूर्वोत्थायी 2, 27
 पृक्त 11, 29
 पृथग्धर्मविद 28, 50
 पृथग्दर्शणि 22, 30
 पृथिवी 20, 11
 पृथिवी 24, 3
 पृष्ट 18, 34
 पैलवौ 1, 25
 पैशाच 4, 13
 पैशुन 29, 10
 पैशुन 21, 10
 पौर्नभव 15, 17 28, 34
 पौर 6, 10 15
 पौर्णमासी 16, 37

पौर्णमासी 27, 4
 पौर्णमास्या 27, 13
 प्रकर्षेत् 15, 6
 प्रकारयेत् 5, 33
 प्रकाश 23, 14
 प्रकीर्णकेश 10, 17
 प्रकीर्णकेश 12, 40.
 प्रक्षालन 10, 52
 प्रक्षाल्य 1, 38
 प्रजापतये 26, 16
 प्रजापति 28, 18
 प्रजापति 5, 11
 प्रजासु 11, 5
 प्रति 9, 14
 प्रतिकुर्यु 12, 37
 प्रतिगृह्णीयात् 17, 2
 प्रतिगृह्य 20, 11 24, 2
 प्रतिग्रहा 7, 4 10, 2
 प्रतिग्रहीता 12, 47 21, 14
 प्रतिजानते 11, 18
 प्रतिजिघृक्षन् 24 2
 प्रतित्रयह 23, 2
 प्रतिपैत् 18, 24
 प्रातिपद्यन्ते 11, 31
 प्रातेपश्यन् 9, 13

प्रतिमन्त्र 27, 19

प्रतिमात् 28, 17

प्रतिराद्ध 22, 7

प्रतिलोमा 4, 17

प्रतिलोमात् 4, 25

प्रतिलोमासु 28, 46

प्रतिवण 12, 13

प्रतिविद्य 16, 50

प्रतिश्रवण 2, 31

प्रतिश्रुत्य 5, 24

प्रतिषिद्ध 25, 12

प्रतिषिद्धमन्त्रयोगे 22, 35

प्रतिषिद्धवर्ज 3, 30 5, 2

प्रतिषिद्धसेवन 19, 3.

प्रतिषिद्धसेवाया 12, 24

प्रतिषिद्धाचार 29, 10

प्रतिसंविशेत् 9, 28

प्रतीक्षेत् 13, 28

प्रतुद 17, 33

प्रत्ताना 14, 34

प्रत्यक्षविधानात् 3, 36

प्रत्यवहृत्य 11, 24 27

प्रत्युत्थान 6, 9

प्रथम 14, 38

प्रथमा 4, 14

प्रथमगति 21, 7

प्रदाक्षिण 9, 66

प्रदान 18, 22

प्रदाह 1, 31

प्रदोषे 16, 29

प्रधावन 2, 6

प्रनष्ट 10, 35

प्रपतनै 14, 11

प्रब्रूयु 10, 35 11, 17 13, 6.

प्रभाते 14, 8

प्रभूतैवोदक 9, 65

प्रभृतीनि 9, 58

प्रमत्तोक्ते 13, 11

प्रमाण 11, 22

प्रमुच्यते 26, 21

प्रयुञ्जान. 9, 1

प्रयुञ्जति 26, 9

प्रयोगस्य 12, 28

प्रयोज्य 2, 43

प्रवचन 10, 2.

प्रविशति 25, 1

प्रविशन्ति 20, 7

प्रविशेत् 3, 33 22, 3

प्रव्रजित 12, 35 14, 42
 प्रव्रजिते 18, 17
 प्रशस्त 9, 66
 प्रशस्त 28, 49
 प्रशस्ताना 17, 1
 प्रशस्तानि 27, 12
 प्रसंगात् 18, 17
 प्रसह्य 4, 12
 प्रसाधन 2, 39
 प्रसारयेत् 9, 14
 प्रसूति 8, 3
 प्रसृतयावक 19, 14
 प्रस्कन्ध 21, 22
 प्रस्यन्दिनि 16, 42
 प्रहीण 3, 19
 प्राक् 1, 45 18, 22 24 21,
 11.
 प्राकृत 22, 13
 प्राकूलेषु 1 56
 प्राड्मुख 1, 37 60
 प्राचीनावीतिन 20, 5
 प्राजापत्यात् 4, 32
 प्राजापत्ये 4, 7
 प्राङ्विवाक 13, 27
 प्राङ्विवाक 13, 26

प्राङ्विवाके 13, 31
 प्राणलाभे 22, 6
 प्राणव्यायच्छनानि 9, 33
 प्राणसशये 7, 23 25
 प्राणान्तिक 20, 24
 प्राणायाम 23, 22
 प्राणायामा 1, 55 65 23, 7
 प्राणायामै 24, 12
 प्राणेन 25, 2
 प्राणोपस्पर्शन 1, 54
 प्रात 1, 58 9, 59
 प्रातराशान् 26, 2
 प्राणिभाव्य 12, 38.
 प्रातिरूपिक 15, 17
 प्रातिहारिकान् 15, 15
 प्रात्ययिका 13, 2
 प्रादुष्कृतमीसु 16, 23
 प्राधीतस्य 16, 44
 प्राय 14, 11
 प्रायश्चित्त 19, 4 20, 24 22,
 1 24, 1 9 25, 9
 प्रायश्चित्ताहुती 25, 3
 प्रायश्चित्ती 12, 45
 प्रायश्चित्तेन 20, 10
 प्रावृत्य 9, 36. 37

प्राशने 23, 4
 प्रिय 2, 37 10, 4
 प्रियङ्गु 17, 3
 प्रेक्षित 17, 11
 प्रेतकर्माणि 20, 2 25
 प्रेताना 28, 28
 प्रेते 16, 32 28, 29
 प्रेतोपस्पर्शने 14, 22
 प्रेत्य 11, 31
 प्रेत्याहृत 9, 57
 प्रोच्य 6, 5
 प्रोष्ठपदो 16, 1
 प्रौढपाद 16, 17
 पूव 17, 26

फ

फल 7, 14 10, 26 12, 15.
 17, 3 27, 12
 फलभक्षता 19, 14
 फलानि 5, 21 12, 25 23, 26
 फालकृष्ट 3, 32
 फालसयुक्ते 12, 17
 फाल्गुनी 16, 37

ब

बक 17, 32
 बन्धनिक 17, 15.

बन्धु 4, 6 6, 20
 बलाक 17, 32
 बलिकर्म 5, 10
 बलिदान 10, 23
 बलिहरणयो 2, 8
 बलेन 25, 2
 बस्त 1, 18
 बहव 13, 2
 बहिर्गन्धम ल्यधारण 9, 33
 बहिर्विदि 5, 32
 बहिष्पवमान 19, 13
 बहिस्संयत्त्व 2, 16
 बहुपशो 18, 29
 बहुश्रुत 8, 1 4
 बाल 5, 25 14, 42
 बालधन 10, 45
 बाहु 2, 28
 बाहु 1, 38
 बिभृयात् 3, 18 9, 4 10, 9
 28, 3.
 बिम्ब 22, 21
 गज 28, 23
 बीजवध 3, 23
 बीजिन 4, 4
 बभुक्षमाण 24, 3.

बृहत् 19, 13
 बृहस्पति 25, 2
 बैल्व 1, 24
 ब्रह्म 2, 9 11, 29
 ब्रह्मघ्न 22, 1
 ब्रह्मचर्य 2, 11 52 19, 16 22,
 13
 ब्रह्मचारिण 3, 4 14, 35
 ब्रह्मचारिणा 14, 1
 ब्रह्मचारिणे 26, 12
 ब्रह्मचारी 2, 2 3 3, 2 15, 23
 16, 3 22, 3 23, 21
 ब्रह्मण 1, 61 8, 22 3 10, 4
 ब्रह्मणा 8, 15
 ब्रह्मणे 5, 15 26, 16
 ब्रह्मदेयानुसतान 15, 28
 ब्रह्मप्रसूत 11, 16
 ब्रह्मबन्धवा 22, 28
 ब्रह्मलोक 3, 9
 ब्रह्मलोकात् 9, 71
 ब्रह्मवर्चमेन 25, 2
 ब्रह्मसु 13, 21
 ब्रह्महत्या 24, 12
 ब्रह्महत्या 19, 10
 ब्रह्महा 21, 1.

ब्रह्मानुवचने 1, 59
 ब्रह्मोज्झ 21, 11
 ब्राह्म 4, 6
 ब्राह्मण 1, 24 4, 18 5, 21
 12, 11
 ब्राह्मण 11, 12
 ब्राह्मण 2, 26 7, 3 25 8, 1
 12, 8 13, 5 26 17, 1
 ब्राह्मणतर्पण 26, 17 *
 ब्राह्मणदण्ड 12, 43
 ब्राह्मणवधे 22, 10
 ब्राह्मणवर्ज 11, 1
 ब्राह्मणवर्दि+ 10, 17
 ब्राह्मणसन्निधाने 15, 4
 ब्राह्मणससदि 13, 14
 ब्राह्मणस्य 1, 7 14 22 5, 43
 7, 1 10, 2 39 43 14,
 44 18, 18 21, 20 22,
 6 12 23, 1 28, 36
 42
 ब्राह्मणाक्रोशे 12, 6
 ब्राह्मणान् 10, 9
 ब्राह्मणाभिंशसने 21, 17
 ब्राह्मणाय 20, 13
 ब्राह्मणी 4, 18.

ब्राह्मणीतुत्रेण 28, 38

ब्राह्मणेन 9, 19

ब्राह्मणेभ्यः 5, 44 11, 7

ब्राह्मीपुत्र 4, 33

ब्रूवते 3, 1

ब्रूयात् 9, 20

भ

भक्त 10, 33

भक्ष 17, 14

भक्षयेत् 9, 56

भक्षयेयु 14, 37

भक्षान् 9, 56

भक्ष्या 17, 33

भगाल 9, 21

भगिनीना 6, 7

भगिनीशुल्कं 28, 26

भजेरन् 21, 16 28, 1 21

42

भद्र 9, 21

भयानि 2, 19

भये 10, 13

भर्तारि 18, 15

भर्तव्य 10, 60 18, 35

भर्तव्यौ 28, 44

भर्तु 18, 14

भवच्छब्द 2, 43

भस्म 9, 16 45

भागविशेषः 28, 17

भागार्ह 28, 45

भाजयेत् 10, 22

भार्या 4, 1 9, 1

भार्यादि 5, 7

भार्यासहभोजन 9, 33

भावदुष्ट 17, 11

भिक्षमाणेषु 5, 23

भिक्षादानं 5, 19

भिक्षार्थी 3, 14

भिक्षुः 3, 2 11

भीत 5, 25

भीत 16, 17

भुक्ताधि 12, 29

भुक्त्वा 1, 43 26, 2 27, 13

भुञ्जीत 2, 46 3, 35. 9, 59

16, 3 17, 1. 26, 3

भुव 27, 9

भू

भूत 3, 29 5, 3 8, 15.

भूताना 28, 52,

भूमि 5, 36 7, 15 12, 36
 भूमि 19, 17
 भूमिकम्प 16, 22
 भूमिषु 13, 16
 भूमे 1, 34
 भूमौ 9, 42 13, 17
 भूम्यो 1, 33
 भृज्यकण्ठ 4, 20
 भृत्यभरण 10, 54
 भृत्यभरणे 17, 4
 भृत्ये 5, 45
 भेदन 9, 51
 भेरी 16, 7
 भैक्ष 27, 12
 भैक्ष 23, 18
 भैक्षचरण 2, 42
 भैक्षचरणानि 23, 20
 भैक्षचरणे 2, 12
 भैक्षाय 22, 3
 भो 1, 52
 भोक्तु 12, 34
 भोजन 5, 44
 भोजनात् 16, 43
 भोजनेषु 16, 34
 भोजयेत् 5, 26 15, 7 20

भोज्यान्ना 17, 6
 भोभवन् 6, 14
 भ्रातारे 18, 19
 भ्रातृभार्याणा 6, 8
 भ्रूणघ्ना 17, 11
 भ्रूणह 21, 9
 भ्रूणहत्याय 24, 9
 भ्रूणहन 20, 1

म

महमाय 26, 12
 मङ्गल 8, 21
 मङ्गलमयुक्तानि 11, 19
 मङ्गल्य 9, 66
 मज्जान 24, 8
 मणि 1, 32.
 मणिधनु 9, 22
 मण्डक 1, 64 22, 21
 मतिपूर्वे 12, 46
 मत्त 5, 25
 मत्स्या 17, 34
 मथित 9, 58
 मद्रु 17, 32
 मद्य 12, 38
 मद्य 2, 26.
 मद्यप 15 15

मधु 2, 19 7, 12 10, 26

17, 3

मधुपर्क 5, 28

मधुसार्पिणो 13, 20

मधूनि 17, 14 19, 13

मध्यत 5, 35

मध्यदिन 9, 48

मध्यमपुरुषाय 26, 12

मध्यमस्य 28, 6

मध्ये 5, 15

मनसा 9, 18 67 23 32 27,

10

मनसो 25, 12

मनु 21, 7

मनुष्य 3, 29 5, 3 9 8, 15

मनुष्यजातस्य 8, 2

मनुष्ययज्ञ 16, 34

मनुष्यान् 11, 29

मन्त्र 10, 63

मन्त्रब्राह्मणवित् 15, 28

मन्येत 25, 7

मन्येरन् 11, 8

मरुत 25, 2

मरुद्भ्य 5, 13

महता 1, 4

महतेदेवाय 26, 12

महादिवाकीर्त्य 19, 13 ,

महानाम्नय ,,

महापथ 16, 18

महापातकेभ्य 26, 21

महापाराय 26, 12

महापुरुषाय ,,

महावेराज 19, 13

महाव्याहृतिभि 24, 11

महिष्यो 12, 21 17, 21

मास 2, 19 7, 12 10, 26

17, 14.

मास 14, 37 16, 3 24, 8

वागध 4, 17 18

माजिष्ठ 1, 23

माता 2, 58

मातापितरौ 9, 71

मातापितृभ्या 14, 41

मातापित्रो 14, 14 21, 15.

मातु 14, 15 28, 2 26

मातुलाना 5, 28 6, 9

मातृ 6, 3.

मातृपितृयोनिसबन्धाग 21, 1

मातृसपिण्डा 15, 13
मानवीभि 23, 29
मानप 16, 47
मान्धाल 17, 32
मान्यानि 6, 20
मार्ग 17, 3
मार्जयीत 26, 10
मार्जयीरन् 14, 36
मार्जाराणा 1, 64
मार्त्तिक 1, 31
माल्य 2, 19 9, 65
माषा 12, 19
मास 12, 26 14, 5 15, 22
मास 27, 16
भासान् 16, 2
मासिमासि 10, 30
माहिष्य ८, 20
मित्रकर्म 15, 12
मिथुन 28, 5
मिथुनी 9, 26
मिथ्यावचने 13, 23
मीमासन्ते 19, 4
मुक्ताशिखा 20, 5
मुखे 24, 8
मुख्या 1, 47

मुच्यते 24, 14 25, 14
मुण्ड 1, 29
मुण्ड 3, 22
मुसली 12, 40
मूढ 5, 25
मूत्र 9, 13 15 23, 4
मूत्रित 16, 11
मूत्रोच्चारे 9, 38
मूर्ध 1, 28
मूर्धनि 1, 42
मूर्धावसिक्त 4, 19
मृल 7, 12 10, 26 17, 3
27, 12
मृलफलाशी 3, 26
मूषक 22, 21
मृगयु 17, 15
मृत 20, 24 23, 1 11
मृत्यो 24, 8
मृदङ्ग 16, 7
मृदा 1, 49
मृदु 9, 70
मेखला 1, 17
मेघस 11, 31
मेध्यानि 19, 14
मैथुन 23, 30,

मैथुनशङ्काया 2, 22
 मैथुनसयोगे 13, 19
 मोक्षयिष्यन् 9, 71
 मोक्षाभ्या 12, 41
 मोच्य 12, 1
 मोह 2, 19 9, 62
 मोहमाय 26, 12
 मौञ्जी 1, 17.
 मौञ्ज्याय 26, 12
 म्लेच्छ 9, 17

य

यक्ष्यमाण 5, 22
 यजते 19, 10
 यजुर्भि 20, 11
 यजेत 10, 64 23, 17
 यज्ञ 5, 30
 यज्ञ 9, 54
 यज्ञवास्तु 25, 5.
 यज्ञा 5, 9
 यज्ञाना 8, 15
 याज्ञिय 1, 26¹
 यज्ञोपवीति 1, 38
 यत्तेत 9, 65
 यद्देवा देवहेडन 27, 7
 यथोत्साह 5, 6 15, 8

यथाऽधिकार 11, 24
 यथार्ह 10, 22
 यथाशक्ति 9, 48
 यथास्व 5, 12
 यथाश्राद्ध 15, 2
 यथास्थान 10, 46 11, 26 22,
 34
 यथोक्त 11, 20 23, 16
 यथोक्तात् 10, 4
 यथोक्तान् 9, 1
 यथोपपापमत्रुरीष 2, 4
 यमप्रभवौ 28, 52
 यमसू 17, 23
 यव 7, 15
 यवन 4, 21
 यवस 9, 65 17, 3
 यवीयस 28, 7 16
 यवीयसा 6, 9
 यवीयसी 4, 1
 यवीयान् 18, 19
 यश 27, 9
 याचित 12, 39
 याचैत 26, 4
 याजन 7, 4 10, 2
 याजयेत् 19, 11

याज्य 14, 27
 यान 2, 19 17, 3
 यानस्थ 16, 17
 यानेषु 13, 22
 याप्य 13, 23
 याप्येन 19, 2
 यावक 27, 12.
 यावत् 16, 21. 26, 19
 यावत 21, 22.
 युक्त 2, 37
 युगपत् 9, 8
 युज्येत 18, 21
 युवतीना 2, 41.
 युवभ्य 15, 10
 यूपवक्रा 1, 27.
 योग 10, 12.
 योगक्षेम 28, 47
 योगक्षेम 11, 18.
 योगक्षेमार्थ 9, 63
 योनि 3, 3
 योनिमात्रात् 18, 7
 योनिसवन्धाः 20, 6.
 योनिसवन्धान् 20, ?
 योनिसवन्धे 14, 19
 यौधा जये 26, 9

र

रक्त 9, 4
 रक्तनिर्णिके 7, 10
 रक्तपादतुण्डा 17, 27
 रक्षण 8, 3 10, 7.
 रक्षणात् 18, 14
 रक्ष्य 10, 36 45.
 रजसि 28, 2
 रजस्वला 17, 10
 रजस्वला 9, 30
 रज्जु 1, 35 2, 50
 रथ 10, 14.
 रथ. 28, 5.
 रथन्तरे 19, 13
 रस 7, 9
 रसाना 7, 17
 रसै. ,
 रहस्थ 24, 1
 राक्षस 4, 12
 राज 13, 14
 राजकर्तृषु 13, 12
 राजक्रोधात् 14, 10.
 राजगामि 21, 10
 राजघातक 20, 1
 राजधनं 10, 42

| | |
|---------------------------------|--------------------------|
| राजन 19, 13 | रात्रौ 9, 37 41. 57. 60. |
| राजन्य 6, 18 | 26, 6 |
| राजन्य 7, 26 | राहुदर्शन 16, 22 |
| राजन्यपुरुषै 12, 35 | रिक्थ 10, 38 |
| राजन्यवत् 12, 11 | रिक्थ 28, 1 21 42 |
| राजन्यवधे 22, 13 | रिक्थभाक् 28, 29 |
| राजन्यस्य 1, 15 | रिक्थभाज 12, 37 28, 33 |
| राजन्यापुत्र 28, 36 | रुक् 1, 18 |
| राजन्यावैश्यापुत्रसमवाये 28, 38 | रुद्रा 19, 13 |
| राजप्रेष्य 15, 17 | रुद्राय 26, 12 |
| राजभ्य 6, 25 | रुद्रमधु 9, 7 |
| राजा 8, 1 10, 22 11, 1 34 | रूप 11, 13 31 15, 9 |
| 12, 42 13, 26 23, 14 | रेत 29, 10 |
| 28, 43 | रेतसा 23, 4 |
| राजानं 12, 40 | रेतस्स्कन्दने 23, 20 |
| राज्ञ 5, 31 6, 13 10, 7 20 | रेतस्याभ्या ,, |
| 37 | रोचन 20, 11 |
| राज्ञा 2, 51 6, 26 8, 12 10, | रौरव 26, 9 |
| 36 18, 34 | रौहिणे 19, 13 |
| राज्ञा 13, 2 14, 43 | ल |
| राज्ञि 16, 32 | लक्ष्य 22, 2 |
| राज्ञे 10, 23 35 | लघुषु 19, 19 |
| रात्रि 3, 21 23, 21 | लघूनि ,, |
| रात्रिशेषे 14, 7 | लब्ध 10, 39 |
| रात्री 14, 16. 26, 2 | लभते 10, 19 |

लंभत 10, 44 22, 37 28, 11.
ललाट 1, 28
लवण 7, 19
लशुन 17, 30
लिङ्ग 23, 11
लिङ्गोद्धार 12, 2
लिप्यते 19, 2
लिस्पेत 10, 57 28, 23
लुब्ध 5, 25
लेप 1, 48
लोक 8, 5
लोक 28, 54
लोक 25, 6
लोकानां ,,
लोके 8, 1
लोभ 2, 19 9, 62.
लोभ 12, 33
लोमानि 24, 8.
लोष्ट 9, 15
लोहदण्ड 22, 27.
लोहशयने 23, 9.
लोहित 16, 9.
लोहितदर्शने 21, 22
लोहितपात्र 23, 18
लोहिता 17, 30.

व

वक्तव्य 13, 9
वचनाक्रिया 5, 27.
वचनात् 2, 32
वाजिणे 26, 12
वाणिक् 10, 48 11, 23
12, 38 15, 17
17, 7
वाणिगिम् 10, 34.
वण्टा 28, 6
वत्सतन्ती 9, 52
वदन् 23, 32
वदेत् 26, 7
वध 12, 41
वध 12, 3.
वधू 6, 25.
वध्याः 17, 35
वनस्पतीना 3, 20. 12, 25.
वने 3, 26.
वपन 27, 3.
वय 11, 13. 15, 9.
वयस्य 6, 14.
वयासि 6, 20
वर 25, 8.
वराहे 22, 26.

वलीकसतान 16, 13.

वर्गे 11, 23.

वर्जयेत् 2, 19. 3, 23. 6, 12.

9, 33. 46. 47.

वर्ज 14, 28

वर्ण 10, 49. 14, 28.

वर्णधर्म 19, 1.

वर्णा 11, 31

वर्णान् 11, 9.

वर्णानुपूर्व्येण 2, 43

वर्णान्तरगमन 4, 22

वर्णेभ्य 4, 18.

वर्ष 16, 23. 41.

वर्षति 16, 12.

वर्षशत 21, 20.

वर्षाणा 1, 9

वर्षाणि 18, 18.

वर्षासु 3, 13.

वर्धते 12, 29

वशा 7, 14.

वसुविन्दाय 26, 12.

वसेत् 3, 21.

वस्त्र 13, 21.

वाक् 2, 28 3, 17. 9, 50. 11,

13. 12, 5. 15, 9. 18,

3. 25, 12

वाकोवाक्य 8, 6.

वाग्दण्डपारुष्याभ्या 12, 1

वाक्प्रशस्तानि 17, 36.

वाग्यत 1, 38 2, 17 48.

वाच 2, 25.

वाच्य 5, 19.

वाजपेय 8, 18.

वाण 16, 7.

वाणिज्ये 10 5.

वाद 2, 19

वादन ,,

वादित्र 15, 17.

वायु 9, 13.

वायु 23, 2

वायौ 16, 5.

वारयेत् 9, 45.

वारुणी 23, 29.

वारुणीभि 25, 10

वार्ष 1, 22.

वार्षिक 16, 1. 40.

वास 3, 18 9, 4. 10, 58

19, 17.

वासस 18, 24.

वाससे 7, 10.

वाससा 14, 39
 वासासि 1, 19.
 वाहन 10, 20
 वाह्येषु 12, 33.
 विंशति 12, 26
 विंशतिभाग 10, 25. 28, 5.
 विकल्प 1, 6
 विकल्पेन 19, 19
 विकिरेत् 15, 26
 विख्यापन 12, 44.
 विख्याप्य 10, 36.
 विगृह्यवाद 9, 33
 विजये 10, 12
 विजित 10, 40.
 विजृम्भित 2, 21
 विज्ञाप्य 2, 35
 विज्ञायेते 11, 11. 16. 29.
 19, 8.
 वित्त 6, 20. 11, 31
 वित्त 10, 19
 वित्तेन 4, 11
 विदध्यात् 1, 51.
 विदल 1, 35
 विदुष 12, 14
 विद्यते 2, 5

विद्या 4, 6. 6, 20 11, 13
 विद्यागुरव 20, 6.
 विद्यागुरूणा 6, 3
 विद्यागुरून् 20, 2
 विद्यात् 1, 46.
 विद्यानियमेषु 10, 4
 विद्यान्ते 2, 55
 विद्यासंबन्धे 18, 18.
 विद्याहीन 6, 18
 विद्युन् 16, 41
 विद्युत 16, 23
 विद्युति 16, 25.
 विद्युत्समा 16, 27
 विद्योपयोग 7, 1.
 विद्विषाणाना 17, 15.
 विद्वेषण 11, 19
 विधि 27, 2
 विधिपूर्व 9, 1
 विधीन् 15, 6
 विन्देथ 4, 1
 विपरीत 27, 15.
 विपरीताः 11, 32.
 विपरीते 5, 36.
 विपर्यये 13, 8.
 विपर्यस्येत् 20, 4.

विपर्यस्येयु 20, 3
 विणप 27, 17
 विणप्मा ,,
 विप्र 9, 13
 विप्रतिपत्तां 11, 27 13, 1 28,
 51.
 विप्रवास 1, 64
 विप्रुष. 1, 47.
 विप्रोष्य 2, 40 6, 2 16, 33
 विभक्तज 28, 30
 विभक्तान् 15, 18
 विभजेरन् 28, 32
 विभवे 9, 3
 विभागे 28, 4
 विमर्दन 9, 51
 वियुक्ता 9, 62
 विलम्बेत 9, 26
 विलयन 9, 58
 विलिखन 9, 51.
 विवत्साया 17, 24.
 विवासन 12, 44.
 विवाह 23, 30.
 विवाह 4, 2.
 विवाहयो. 5, 30.
 विवाहसिद्ध्यर्थ 18, 25.

विशिष्टदेश 11, 31
 विशेषेण 10, 13 28, 54
 विश्वेदेवा 5, 11
 विश्वेभ्य 26, 16
 विष 14, 11.
 विषयस्थे 16, 32
 विष्किरा 17, 33.
 विष्वञ्च 11, 32
 विस्त्रसन 1, 50.
 विहरन् 22, 5.
 विहाय 2, 31
 वीक्षेरन् 20, 6
 वीरह 15, 15
 वरित् 12, 25.
 वृक्षाविषमारोहण 9, 33.
 वृक्षारूढ 10, 17.
 वृत्त 11, 31
 वृत्ति 10, 57
 वृत्ति. 3, 7 7, 22. 10, 29.
 17, 5.
 वृत्तिक्षीण 5, 22.
 वृत्तिमूल 28, 40
 वृथान्न 17, 17
 वृथामासानि 17, 29.
 वृद्धा 9, 62.

वृद्धाय 26, 12
 वृद्धे 3, 8
 वेणाविदळाभ्या 2, 50
 वेद 8, 5 26, 23
 वेद 12, 4.
 वेद 1, 1. 11, 21
 वेदपारगेभ्य 5, 21
 वेदवित् 28, 51.
 वेदवित्समवायवचनात् 12, 49
 वेदविद 9, 62.
 वेदविप्लावक 20, 1
 वेदव्रतानि 8, 14
 वेदसमाप्ति 16, 34
 वेदाङ्गवित् 8, 5
 वेदाना 28, 50
 वेदानुवचनात् 1, 12
 वेदान्ता. 19, 13
 वेदेषु 26, 23.
 वेहत. 7, 14.
 वैखानस 3, 2. 26.
 वैदेहक 4, 17
 वैदेहकान् 4, 20
 वैद्य. 28, 31
 वैशिके 22, 29.
 वैश्य 4, 20 10, 41.

वैश्य 12, 7
 वैश्यकर्म 7, 26.
 वैश्यकर्मा 6, 18
 वैश्ययो 1, 13
 वैश्यवत् 22, 20
 वैश्यवृत्ति 7, 7
 वैश्यसूद्रयो 14, 23.
 वैश्यस्य 1, 16 10, 48 14, 3.
 वैश्या 4, 20
 वैश्ये 12, 9 22, 15
 वैश्यौ 12, 11
 वैश्वजितेषु 5, 22
 वैष्क 3, 31
 व्यतिक्षेपे 10, 66.
 व्याथित 11, 16
 व्यपोहति 26, 22
 व्यवहार 11, 21.
 व्यवहारप्राप्तेन 2, 41
 व्यश्व 10, 17.
 व्याख्यात 26, 18
 व्याख्याता 10, 31
 व्याख्यास्याम 26, 1
 व्याधित 5, 26
 व्यालहत 17, 36.
 व्याहतय 1, 57. 25, 12.

व्युदस्येत् 9, 13.

व्रजेत् 23, 11

व्रत 27, 3

व्रतानि 9, 1.

व्रश्चना 17, 31

व्रात्यस्तोमै 19, 9

व्रीहि 7, 15

श

शक्त 21, 19

शक्ति 15, 5

शङ्ख 1, 32.

शत 12, 6.

शतगो 18, 30

शद 12, 23

शपथेन 13, 13

शफरी 17, 3

शब्देषु 16, 7

शमयेत् 15, 27

शयन 12, 5

शयने 9, 27.

शयान 16, 17

शयीत 23, 9.

शय्या 5, 39. 17, 3

शय्यासनस्थानानि 2, 31

शरीरनिपातात् 23, 11

शरीरभेद 12, 4.

शर्वाय 26, 12.

शवस्पृष्टि 11, 29

शवोक्त 14, 28

शश 17, 25

शश्वत् 9, 71

शस्त्र 14, 11.

शस्त्र 7, 25

शस्त्रभृता 22, 2.

शाक 27, 12

शाकभक्षता 19, 14

शाकादाने 12, 15

शाकानि 17, 3

शाण 1, 19 7, 9

शातकुम्भमय 20, 10.

शान्त 20, 11

शान्ता ,,

शान्ति 11, 19.

शान्त्युदकं 20, 26

शारीर 12, 43.

शालामौ 11, 19.

शाव 14, 1

शास्त्रवित् 13, 26.

शास्य 2, 51.

शिखा 12, 32.

शिखाजटा 1, 29.

शिवी 3, 22

शितिकण्ठाय 26, 12.

शिर 9, 36.

शिलोच्चया 19, 15.

शिल्पवृत्ति 10, 59.

शिल्पिन 10, 30.

शिल्पोपजीवि 15, 17

शिव 20, 11.

शिव 27, 9.

शिश्र 9, 50

शिष्ट 28, 51.

शिष्टस्य 19, 3.

शिष्टाकरणे 12, 24.

शिष्टाध्यापक 9, 69.

शिष्टै 28, 49.

शिष्य 1, 60.

शिष्यभार्यासु 23, 12.

शिव्याशीष्टि 2, 49.

शिष्या 15, 13.

शिव्यान् 15, 19.

शिष्येषु 14, 27.

शाम्र 13, 29.

शीर्षण्यानि 1, 41.

शीलसपन्न 11, 13.

शीलसपन्नान् 15, 9

शीलसपन्नाय 4, 6.

शीले 1, 2

शुक 17, 32

शुक्त 17, 12.

शुक्तके 16, 20.

शुक्ता 2, 25

शुक्तीना 1 32

शुचि 1, 46 9, 2. 11, 4.

26, 20

शुचौ 1, 38

शुद्धे 20, 10

शुद्धै 24, 4.

शुद्धेयत् 14, 29. 20, 10. 24

22, 5 23, 1. 11 19.

शुद्धयेरन् 14, 6.

शुन 14, 30.

शुल्क 12, 38.

शुल्क 10, 25.

शुश्रूषा 7, 2.

शुश्रूषु 28, 40

श्रद् 9, 12.

शूद्र 6, 10. 10, 49. 12, 1.

शूद्रयाजकं 20, 1.

शूद्रयो 10, 41.

शूद्रसान्नवाने 16, 19.

शूद्रस्य ८, 42 12, 12.
14, 5

शूद्रा 4, 21.

शूद्रा 13, 4.

शूद्रात् 4, 27. 17, 5 18, 27
28

शूद्रान् 4, 21

शूद्राया 4, 26 27, 10

शूद्रातल्पग 15, 22

शूद्रापति 15, 17

शूद्रापुत्र 28, 40

शूद्रापुत्रवत् 28, 46.

शूद्रार्थयाजक 20, 1.

शूद्रे 12, 10 22, 17

शूद्रेण 6, 11.

शेष 10, 37

शेषे 1, 25

शेषेण 11, 31. 14, 6.

शोणित 24, 8.

शौच 1, 37 48. 8, 21. 9, 26.
10, 51. 14, 42.

शौचाशिष्ट 9, 69.

श्मशान 16, 18.

श्मशानाभ्यध्ययने 1, 66.

श्यावदन 15, 17.

श्रेयना 17, 27.

श्रपयित्वा 26, 15.

श्रवणादि 16, 1

श्राद्ध 16, 34

श्राद्धं 8, 16 15, 1

श्राद्धकर्म 10, 53

श्राद्धिकसयोगे 16, 49.

श्राद्धिना 16, 48.

श्राद्धी 15, 22

श्राद्धे 15, 30

श्रामणकेन 3, 27

श्रावणी 8, 16.

श्री 27, 9

श्रुत 11, 31 18, 35.

श्रुत 6, 22.

श्रुतशलिसपत्र 18, 35

श्रुतिनिरत 9, 69.

श्रुते 6, 24.

श्रुत्वा 14, 18.

श्रूयमाणे 18, 16.

श्रेयमि 2, 39.

श्रेयसो 5, 39.

श्रेष्ठ 2, 57.

श्रेष्ठाय 26, 12.

श्रोत्रप्रतिपूरण 12, 4
 श्रोत्रिय 5, 21 12, 35
 श्रोत्रिय 6, 17. 28, 51.
 श्रोत्रियस्य 5, 31 33. 22, 32.
 श्रोत्रिया 28, 42
 श्रोत्रियान् 10, 9. 15, 9
 श्रोत्रियाय 6, 26
 श्रोत्रिये 14, 21
 श्लिष्येत् 9, 31.
 श्व 1, 64 15, 24 16, 8
 श्वमि 23, 14
 श्वशुर 5, 28 6, 9.
 श्वश्र्वा 6, 8.
 श्वर्हिंसासु 22, 21
 श्वापद 23, 5.
 श्वाविट् 17, 25.
 श्वित्रि 15, 17
 श्वोभ्ता 27, 4.

ष

षट् 4, 15
 षडङ्गावित् 15, 28
 षडह 19, 18.
 षड्वाषिक 18, 15 22, 13.
 षण्डे 22, 25
 षण्मासा 19, 18

षष्ठ 10, 23. 44
 षाष्ठ्य 10, 26.
 षोडशी 8, 18

स

संकुल 16, 34.
 सगृण्हीयात् 21, 22.
 सग्रामे 10, 15.
 स ते पयासि 27, 5.
 सदर्शनात् 22, 4
 सदिग्धा 9, 34
 संध्ययो 9, 40.
 सध्या 16, 12.
 सधिनीना 17, 23
 सनिधाय 2, 48.
 सनिधाने 6, 4.
 सनिधौ 12, 34.
 सनिपात्य 20, 2.
 सप्रत्यर्थे 7, 21
 सप्रदान 10, 4
 सबन्धान् 9, 71.
 समाध्य 9, 18 20, 8
 समाषेत 9, 17 19 26, 8.
 स मा सिश्चन्तु 25, 5.
 सयत. 2, 28. 3, 17.
 सयुक्तासु 28, 48.

| | |
|---|----------------------------------|
| सयोगमन्त्र 4, 7 | सक्तु 27, 12. |
| सवत्सर 10, 36, 13, 28, 22, 17 27, 19 | सकृत् 26, 19 |
| सवत्सर 19, 18 | सखी 23, 12 |
| सवत्सरे 5, 29 | सखीना 5, 27. |
| सवत्सरेण 23, 19. | सगोत्रा 23, 12. |
| सवत्सरान् 22, 3. | सगोत्रान् 15, 19. |
| संवन्न 11, 19. | सचिव 12, 46. |
| सवसेत् 20, 1 | सचेलेदकोपस्पर्शनात् 14, 29. |
| सविभाग 10, 38 | सज्योति 16, 31. |
| सवृत 5, 43 | सज्योतिषि 2, 17. |
| सवाद्य 28, 18 | सत्य 10, 51, 26, 7 27, 9. |
| ससृष्टिनि 28, 29 | सत्यकर्म 13, 13 |
| संसृष्टी ,, | सत्यधर्म 9, 68 |
| सस्कार 15, 6. | सत्यवचन 2, 13 13, 31, 19, 16. |
| सस्कार 23, 3. | सत्यवचने 13, 8. |
| सस्काराविशिष्ट 5, 34. | सत्यवाक् 23, 29. |
| सस्कारा 8, 19, 22 | सत्यव्यवस्था 13, 1. |
| सस्काराणा 8, 23. | सत्यान्ता 1, 57 |
| संस्कारै 8, 8. | सत्याय 26, 12. |
| सस्कृत ,, | सद्भय 2, 47 |
| सस्थान 10, 15 | सद्य 14, 42, 15, 22. |
| सहिता 19, 13. | सदकू 5, 39. |
| सद्वादे 16, 8, | सदशी 1, 1. |
| साक्ति 22, 1 | सापिण्डा. 15, 13. |

सपिण्डाना 14, 1
 सपिण्डै 14, 32
 सप्त 23, 32
 सप्तम 14, 38
 सप्तमात् 4, 3
 सप्तमी 18, 32.
 सप्तमे 14, 12.
 सप्तमेन 4, 22
 सप्तरात्र 23 20 25
 सब्रह्मचारि 2, 47
 सब्रह्मचारिणि 3, 8 14, 20.
 सभ्य 13, 12
 सम 5, 21
 सम 24, 12 28, 32
 सम 3, 24 11, 5
 समग्र 9, 67
 समवा 28, 8 16
 समेप्रप्सु 12, 5
 समयात् 18, 10
 समवाये 6, 1
 समाचरन् 21, 3
 समाचरेत् 9, 62
 समानत 2, 29
 समानि 5, 39.
 समाने 6, 14

समाप्ते 7, 3
 समावृत्त 10, 15.
 समासमाभ्या 17, 18
 समिद्धि 27, 8.
 समिध 25, 5
 समिव 25, 14.
 समिधो 23, 20
 समेन 7, 21.
 सम्यग्विनीता 9, 62
 सथोनि 23, 12.
 सर्प 1 64.
 सर्पणाना 8, 2.
 सर्पे 22, 27
 सर्व 16, 26 30.
 सर्वच्छन्दस्सु 19, 13.
 सर्वत 9, 35
 सर्वथा 7, 22.
 सर्वधर्मेभ्य 13, 31
 सर्वपापेभ्य. 24, 14
 सवप्रायश्चित्त 19, 20
 सर्वभूताना 10, 7.
 सर्वभूतेषु 8, 21
 सर्वविनाशे 12, 23.
 सर्वविन्दाय 26, 12.
 सर्वस्मात् 25, 14.

सर्वास्मिन् 15, 3
 सर्वाणि 20, 2.
 सर्वातिथि. 3, 30
 सर्वासु 25, 13
 सर्वे 14, 35.
 सर्वेण 25, 2.
 सर्वेभ्य 6, 22
 सर्वेषा 17, 3.
 सर्वेषु 20, 26
 सलोकता 27, 19.
 सवनेषु 19, 16 22, 5
 सवर्ण 4, 16.
 सवर्णाभुत्र 28, 41
 सविकार 7, 11.
 सवृषण 23, 11
 सव्य 1, 52.
 सशल्का 1, 27.
 सहधर्म 4, 7
 सहधर्मचारिणीसयोग 8, 15.
 सहस्र 21, 21. 22, 22.
 सहस्रकृत्व 24, 13.
 सहस्रगो 18, 31.
 सहस्रवाक 22, 35.
 सहाध्यायिनि 14 19.
 सहोढ 28, 34.

साक्षि 13, 12
 साक्षिनिमित्ता 13, 1
 साक्षी 13, 15. 23.
 साङ्गामिक 10, 19.
 साधव 4, 29.
 साधुकारी 11, 2.
 साधुवादी ,,
 साधुवृत्ते 5, 35
 सामनी 19, 13
 सामयाचारिकेषु 8, 11
 सामशब्द 16, 21.
 साम्य 10, 66
 साय 5, 18. 9, 59. 25, 13.
 सायुज्य 8, 22 23.
 सारार्थ 10, 17.
 सार्ववर्णिक 2, 42.
 सालोक्य 8, 22. 23
 सावित्री 1, 14 61. 19, 13.
 सावित्री 20, 8. 23, 21. 24, 13.
 साहस 1, 4.
 साहस्र 5, 21.
 सिक्त्वा 25, 10.
 सीमन्तोन्नयन 8, 13.
 सीसमाष 22, 25.
 सुख 11, 31

सुगन्धस्नानशलि 9, 2.
 सुपाराय 26, 12
 सुपुरुषाय ,,
 सुप्त्वा 1, 43.
 सुरा 23 1
 सुराप 21, 1
 सुरापस्य 23, 1.7.
 सुरपान 24, 12
 सुवासिनी 5, 26.
 सूकरयो 23, 6
 सूकरौ 17, 27
 सूत 4, 17 18
 सूतके 17, 20
 सूतिका 14, 29
 सूर्मि 23, 10
 सूर्याभ्युदित 23, 21
 सूर्याय 26, 12.
 सृगाल 16, 8
 सृष्ट 22, 10
 सृष्टयन् जाना 4, 24
 सोदर्याणा 28, 26.
 सोपानत्क 9, 47
 सोमपान 19, 14
 सोमबिक्रयि 15, 17
 सोमसम्था 8, 18.

सोमाय 26, 16
 सौत्रामणी 8, 17
 सात्रय 1, 17.
 सौम्याय 26, 12.
 स्तनार्यत्तु 16, 23.
 स्तनीयत्तु 16, 28.
 स्ननयित्तुसन्निपाते 16, 41.
 स्तेन 21, 1 15, 15.
 स्तेन 12, 40
 स्तेय 24, 12.
 स्तेयकिल्बिष 12, 12.
 स्त्रिय 23, 14.
 स्त्री 14, 27. 18, 1 21, 9.
 22, 37 28, 22
 स्त्रीकृते 22, 38.
 स्त्रीग्रामयाजक 15, 15
 स्त्रीणा 6, 7 12, 36.
 स्त्रीधन 28, 25
 स्त्रीपुंयोगे 6, 6
 स्त्रीप्रजननसयुक्त 13, 29.
 स्त्रीप्रेक्षण 2, 22
 स्त्रीता 4, 11.
 स्त्रीषु 21, 8 28, 48.
 स्थविर 5, 25
 स्थाविरान् 5, 26

स्थल 10, 17
 स्थापयेत् 11, 10
 स्थान 22, 5
 स्नात 20, 23
 स्नातक 6, 25.
 स्नातक 9, 1 71. 15, 28
 स्नात्वा 9, 1.
 स्नाम 2, 19.
 स्नान 2, 56 8, 15.
 स्नापन 2, 39
 स्नायात् 9, 61
 स्नायु 24, 8
 स्नहे 17, 14
 स्नुषाया 23, 12
 स्मरन्ति 16, 50.
 स्मृति 1, 2.
 सन्दिनी 17, 23
 स्रसने 14, 16.
 स्रक् 9, 5. 17, 3.
 स्रवन्तीभ्य 20, 10
 स्रवन्त्य 19, 15
 स्रेहु 1, 50
 स्व 27, 9
 स्वकर्मनिष्ठा 11, 31
 स्वकर्मसु 13, 2. 17, 1

स्वदारवृत्ति 10, 55
 स्ववर्मे 11, 10
 स्वधानिनयनात् 2, 9
 स्वनाम 6, 5
 स्वपेत् 9, 60
 स्वय 10, 64 18, 21
 स्वयदत्त 28, 34
 स्वयसयोग 4, 10.
 स्वयशीर्णानि 23 26
 स्वयमार्जित 28, 31
 स्वर्ग 28, 54
 स्वर्ग 13, 8
 स्ववत् 12, 25
 स्ववर्गे 28, 17
 स्वस्ति 5, 19
 स्वस्त्ययन 11, 19
 स्वहरण 12, 2 24
 स्वागत 35, 7
 स्वाध्याय 9, 27
 स्वाध्याय. 5, 9
 स्वाध्यायानिवृत्तार्थ 14, 44.
 स्वामी 10, 38
 स्वामीदोष 12, 16
 स्वाहा 26, 16
 स्विष्टकृत् 5, 11